प्रकाशक
विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन
लखनऊ विश्वविद्यालय

मूल्य चौदह रुपया
अगस्त १९६२

मुद्रक
स्वदेश प्रेस
गौतम बुद्ध मार्ग लखनऊ

कृतज्ञता प्रकाश

श्रीमान् सेठ शुभकरन जी सेकसरिया ने लखनऊ विश्वविद्यालय की रजत जयन्ती के अवसर पर बिसवाँ शुगर फैक्ट्री की ओर से बीस सहस्र रुपये का दान देकर हिन्दी विभाग की सहायता की है। सेठ जी का यह दान उनके विशेष हिन्दी अनुराग का द्योतक है। इस धन का उपयोग हिन्दी में उच्च कोटि के मौलिक एवं गवेषणात्मक ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए किया जा रहा है जो श्री सेठ शुभकरन सेकसरिया जी के पिता के नाम पर सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थमाला में सम्मिलित है। हमें आशा है कि यह ग्रन्थमाला हिन्दी साहित्य के भण्डार की समृद्धि करके ज्ञानवृद्धि में सहायक होगी। श्री सेठ शुभकरन जी की इस अनुकरणीय उदारता के लिए हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

दीनदयालु गुप्त
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी तथा
आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

उपोद्घात

हिन्दी संत-साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर बढ़ती जा रही है और फलस्वरूप अनेक ग्रंथ भी लिखे गये हैं। परन्तु संत-साहित्य का जितना अध्ययन साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टियों से हुआ है उतना सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से नहीं हुआ है यद्यपि उसके ये पक्ष भी महत्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध संत–साहित्य के सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन पर आधारित है। यह प्रयास मौलिक है और इस पर लेखिका को लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि दी गयी है। मुझे विश्वास है कि डा० सावित्री शुक्ल इसी प्रकार शोध कार्य में संलग्न रहकर मौलिक ग्रन्थों का सृजन करती रहेंगी। मेरी शुभ कामनायें उनके साथ हैं।

दीन दयालु गुप्त
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

रचनाओं में पठनीय है। इनका दैन्य और आत्मसमर्पण अनुकरणीय है। युग प्रवर्तक रामानन्द का आशीर्वाद और प्रेरणा ग्रहण कर ज्ञान की जिस मशाल को कबीर ने भारतीय जनता के कल्याणार्थ प्रज्ज्वलित किया था उसका प्रकाश ईसा की १६वीं शताब्दी तक भारतीय जनता का पथ प्रदर्शित करता रहा।

हिन्दी के सन्त कवियों की समाज साधना उन्हें अन्य कवियों के सामान्य स्तर से ऊपर उठाकर सम्मानित आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है। वर्ण भेद, वर्ग भावना अस्पृश्यता बाह्याडम्बर एवं जाति प्रथा के अभिशाप से विनष्टप्राय समाज को संतों ने समता का पाठ पढ़ाया और एकता एवं प्रेम के सूत्र में बाँध दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा 'जाति पाँति पूछै ना कोई हरि का भजै सो हरि का होई'। सन्तों ने सम्पूर्ण राष्ट्र को भारतीयता के रंग में अनुरंजित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने प्रतिकार, प्रतिहिंसा प्रतिशोध काम क्रोध लोभ हिंसा क्रूरता दम्भ पाखण्ड आदि से ग्रसन्न समाज को उन्नत एवं मानवोचित जीवन व्यतीत करने का उपदेश देकर समाज की बड़ी भारी सेवा की। सन् १३ से लेकर १८ ई तक का समाज चतुर्दिक ह्रास एवं विनाश का रंगमंच बना हुआ था। संतों ने समय समय पर अवतरित होकर अपने युग की विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया। समाज पर सन्तों की व्यापक दृष्टि थी। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान को एक समान स्नेह दिया और पथ प्रदर्शन किया।

हिन्दी के संत कवियों ने अपने युग की धार्मिक विषमताओं को दूर करके सांस्कृतिक सामञ्जस्य स्थापित किया। संतों ने दो विभिन्न 'हिन्दू एवं मुसलमान' संस्कृतियों के संघर्ष से पीड़ित मानवता के हृदय में यह भाव पुष्ट करने का प्रयत्न किया कि राम रहीम केशव करीम में भिन्नता नहीं है। अतः हिन्दू मुसलमान भी एक दूसरे के भाई भाई हैं शत्रु नहीं। हिन्दुओं के विनाश से मुसलमानों का न तो गौरव बढ़ेगा न धार्मिक व्यक्तित्व ही महान् हो पायेगा। धार्मिकता की सबसे बड़ी विशेषता है औदार्य करुणा से युक्त होना प्रेम से सम्पन्न होना दया से ओतप्रोत होना एवं सहिष्णुता का विकसित होना। यदि मनुष्य इन गुणों से परे और विहीन है तो वह न तो ब्रह्म को ही प्राप्त कर सकता है और न लौकिक सुखों का अर्जन कर सकता है। इस दृष्टि से संतों का योगदान बड़ा महत्वपूर्ण रहा।

संत काव्य के द्वारा संस्थापित सामाजिकता के उच्चादर्श एवं सांस्कृतिक सामञ्जस्य किसी भी सहृदय व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। समाज और संस्कृति के विकास और उत्थान में संतों की देन बड़ी महत्वपूर्ण रही है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संत साहित्य की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर सविस्तार विचार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय का अध्ययन नौ परिच्छेदों में सम्पन्न हुआ है। वे परिच्छेद निम्नलिखित हैं

(१) संतकाव्य के उद्गम के कारण एवं भक्ति-सम्प्रदाय।
(२) सामाजिक परिस्थितियाँ एवं संत

(३) धार्मिक परिस्थितियाँ एवं दर्शन।
(४) इस्लाम एवं सूफ़ी-दर्शन और उसका योगदान।
(५) सन्तों के सामान्य विश्वास।
(६) संत-साहित्य की महान् परम्परायें।
(७) संतों का व्यापक-धर्म।
(८) सांस्कृतिक सामञ्जस्य।
(९) संत काव्य में लोक-संस्कृति
(१०) उपसंहार।

प्रथम परिच्छेद का शीर्षक है संत-काव्य के उद्‌गम के कारण एवं भक्ति सम्प्रदाय। प्रस्तुत परिच्छेद का अध्ययन तीन भागों में किया गया है। प्रथम भाग में संत शब्द की व्युत्पत्ति प्रचलित अर्थ संत के लक्षण एवं आवश्यक तत्व गीता आदि ग्रन्थों में वर्णित सन्तों के लक्षण सन्तों की रहनी करनी एवं कथनी आदि पर सविस्तार विचार किया गया है।

इस परिच्छेद के दूसरे खण्ड में भक्ति सम्प्रदाय के विकास का उल्लेख हुआ है। इस विकास को व्यक्त करने के लिये वेद संहिता उपनिषद् पुराण गीता आदि ग्रन्थों में भक्ति तत्व को खोजने का प्रयत्न किया गया है। भक्ति सम्प्रदाय के विकास को अंकित करने के लिए भक्ति के तीन उत्थानों को पृथक्-पृथक् व्यक्त किया गया है। भक्ति सम्प्रदाय के तृतीय उत्थान में ही सन्तों का आविर्भाव हुआ।

प्रस्तुत परिच्छेद के तृतीय खण्ड म सन् १३ से १८ ई तक की उन राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर बड़े विस्तार के साथ विचार किया गया है, जिन्होंने संत-कवियों और संत-साहित्य को जन्म दिया।

इस परिच्छेद की रचना में लेखिका ने प्रसिद्ध लेखकों की महत्वपूर्ण रचनाओं की सहायता ली है। सम्पूर्ण परिच्छेद लेखिका के व्यापक अध्ययन और स्वतंत्र अनुसन्धान का फल है।

द्वितीय परिच्छेद का शीर्षक सामाजिक परिस्थितियाँ एवं संतों का योगदान है। साहित्य समाज का दर्पण माना गया है। समाज की परिस्थितियों के अनुकूल ही साहित्य की रचना होती है। मध्ययुगीन भारत अनेक विषमताओं से अभिशप्त था। वर्ग-संघर्ष वर्ग-शोषण प्रतिहिंसा प्रतिशोध अस्पृश्यता तथा बाह्याडम्बरों से अभिशप्त समाज को समता एव एकता का उपदेश देकर मानव समाज को सन्तों ने उचित दिशा की ओर अग्रसर किया। मध्ययुगीन भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ अन्धविश्वास एव भीतिकता से अभिशप्त थी। सन्तों ने हर प्रकार से इन विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न किया। जीवन को उन्नत बनाने के लिए सहिष्णुता को धारण करने और अघरमोर तृष्णा माया मोह आदि का परित्याग करने का उपदेश दिया। सन्तों के सेवा पथ ने तत्कालीन समाज के समक्ष स्वस्थ आदर्श उपस्थित किये। इस परिच्छेद में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार किया गया है और सन्तों के

योगदान का मूल्यांकन किया गया है। संतों की वाणियों में बड़ी दिव्य शक्ति है। उनमें प्रभावित करने की अद्भुत सामर्थ्य है। यह परिच्छेद पूर्णतया मौलिक प्रयास है। इस परिच्छेद में सन्तों के योगदान का मूल्यांकन करने में विशेष परिश्रम किया गया है।

तृतीय परिच्छेद है धार्मिक परिस्थितियाँ एवं दर्शन। इस परिच्छेद के पूर्वार्द्ध में मध्ययुगीन भारत की धार्मिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। समाज और धर्म का बड़ा निकट सम्बन्ध है। समाज के पथभ्रष्ट हो जाने पर धर्म स्वतः बाह्याडम्बरों से युक्त हो जाता है। मध्ययुगीन समाज धर्म के सद् स्वरूप को भूल कर बाह्याडम्बर पशु नर बलि और भौतिकता में संलग्न था। इन परिस्थितियों को देखकर सन्तों के हृदय एवं मस्तिष्क पर बड़ी सजग प्रतिक्रिया हुई। संतों ने जन जीवन को उदात्त बनाने के लिए धर्म के निर्मल और स्वच्छ रूप को प्रस्तुत किया। संतों ने बताया कि धर्म मूर्तिपूजा तीर्थयात्रा और बलि में नहीं है वरन् सत्य सम्भाषण दया क्षमा आदि में धर्म का वास्तविक रूप सन्निहित है। इस परिच्छेद के उत्तरार्द्ध में भारतीय दर्शन की विशेषताएँ, भारतीय दर्शन में वेद महाभारत गीता चार्वाक दर्शन जैन दर्शन बौद्ध दर्शन न्याय शास्त्र सांख्य दर्शन योग दर्शन मीमांसा अद्वैत दर्शन आदि के महत्व और योगदान का सविस्तार उल्लेख हुआ है। इसी परिच्छेद के अन्त में सन्त मत एवं सन्त दर्शन का भी उल्लेख किया गया है। सन्त दर्शन की विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन करते हुये जन-जीवन पर प्रभाव भी अंकित किया गया है। यह परिच्छेद लेखिका के व्यापक अध्ययन और परिश्रम का द्योतक है। इस परिच्छेद के विषय प्रतिपादन और विवेचन में लेखिका की मौलिकता दृष्टिगत होगी।

चतुर्थ परिच्छेद का शीर्षक है 'इस्लाम एवं सूफी दर्शन और उसका योगदान'। इस परिच्छेद में सविस्तार इस्लाम दर्शन एवं सूफी दर्शन का उल्लेख किया गया है। इस्लाम दर्शन एवं सूफी दर्शन के स्वरूप विशेषताओं महत्व और प्रभाव का अध्ययन करने के लिये प्रमुख लेखकों की प्रामाणिक रचनाओं को आधार बनाया गया है। सन्त मत के विकास में सूफीमत एवं इस्लाम का जो योगदान और प्रभाव है उसे स्पष्ट रूप से अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। इस परिच्छेद की सामग्री एकत्र करने में लेखिका का परिश्रम दर्शनीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का पंचम परिच्छेद सन्तों के सामान्य विश्वास है। सन्त साहित्य का सम्यक अध्ययन करने के लिये सन्तों के सामान्य विश्वासों का अध्ययन कर लेना परम आवश्यक है। विश्वास धर्म का अभिन्न अंग है। सन्तो के विश्वास तीन प्रकार के हैं। ये हैं सन्तो के दार्शनिक विश्वास सामाजिक विश्वास तथा साधनात्मक विश्वास। सन्तों के दार्शनिक विश्वास के आधार हैं अद्वैत ब्रह्म नाम महिमा आत्मा सद्गुरु तथा सत्संग। सन्तों के सामाजिक विश्वासों में सत्य दया काम क्रोधादि का परित्याग विश्वबन्धुत्व कनी कथनी समता सतोष दीनता तथा पातिव्रत धर्म विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सन्तों के साधनात्मक विश्वासों में नाम जप सहज

समाधि योग भक्ति तथा वैराग्य की गणना की गई है। इस परिच्छेद में सन्तों के ऊँचा कोटि के विचारों की महत्ता और विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ का यह परिच्छेद मौलिक है।

षष्ठ परिच्छेद है 'सन्त साहित्य की महान् परम्परायें'। जिस प्रकार सन्तों का जीवन उदात्त पतितपावन और महान् परम्पराओं का अनुसरण करने वाला था उसी प्रकार उनका साहित्य भी बड़ी पवित्र भावनाओं से युक्त तथा जीवन को उदात्त बनाने वाला है। विचारकों ने सच ही कहा है कि साहित्य जीवन का पर्याय या प्रतिबिम्ब है। सन्त साहित्य की महान् परम्पराएँ हैं। मानवतावाद धार्मिकता आत्मीयता प्रगतिशीलता शाश्वतता तथा सजीवता। इनकी परिभाषा आवश्यक तत्व महत्व और विशेषताओं का उल्लेख करते हुये सन्त साहित्य की विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। सन्त साहित्य की ये महान् परम्पराएँ जन जीवन को कल्याणकारी और उदात्त बनाने वाली हैं। यह अध्याय भी लेखिका की स्वतन्त्र गवेषणा एवं व्यापक अध्ययन का फल है।

सप्तम परिच्छेद का शीर्षक सन्तों का व्यापक धर्म है। इस परिच्छेद के प्रारम्भ में धर्म शब्द की व्युत्पत्ति एवं परिभाषा का निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है। समाज एवं संस्कृति धर्म के अभिन्न अंग हैं। समाज तथा संस्कृति के उत्थान-पतन का प्रभाव धर्म पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। सन्तों की विचारधारा पर तत्कालीन समाज की परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। सन्तों ने अपने समय के समाज की आवश्यकताओं के फलस्वरूप एक व्यापक धर्म को जन्म दिया जिसके आवश्यक तत्व थे प्रेम समदृष्टि सेवाभाव संसार से विरक्ति सद्गुरु वन्दना नाम सत्य दया क्षमा तथा औदार्य आदि। इसके प्रचार के द्वारा सन्तों ने मानवता और समाज को उन्नत बनाने का प्रयास किया। इस परिच्छेद की सामग्री लेखिका की मौलिक गवेषणा का परिणाम है।

अष्टम एवं अन्तिम परिच्छेद का शीर्षक है 'सांस्कृतिक सामञ्जस्य'। सन्तों को सबसे बड़ा श्रेय इस बात का है कि इन्होंने दो विपरीत (हिन्दू एवं मुस्लिम) संस्कृतियों में सामञ्जस्य स्थापित करके अपने समय की विषमताओं को दूर किया। सांस्कृतिक सामञ्जस्य के द्वारा इन्होंने जन-जीवन को जीवित रहने योग्य बनाया। सांस्कृतिक सामञ्जस्य विषयक यह परिच्छेद लेखिका के परिश्रम और व्यापक अध्ययन का परिचायक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना करते समय लेखिका का अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की खोज में अन्य अनेक संग्रहालयों एवं पुस्तकालयों में जाना पड़ा। नागरी प्रचारिणी सभा का संग्रहालय, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय, प्रयाग विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा संग्रहालय, अमीरुद्दौला पुस्तकालय लखनऊ, श्री रामकृष्ण सेवा मिशन संग्रहालय लखनऊ आदि संस्थाओं के

अधिकारियों के प्रति लेखिका कृतज्ञता प्रकट करती है जिन्होंने बड़ी उदारतापूर्वक, सहयोग प्रदान करके इस कार्य को सम्पन्न कराया।

प्रस्तुत विषय पर अनुसन्धान कार्य करने की प्रेरणा एवं आज्ञा डा० दीनदयाल गुप्त एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट० अध्यक्ष हिन्दी-विभाग लखनऊ विश्व विद्यालय से प्राप्त हुई। लेखिका उनके प्रति कृतज्ञ है। उन्हीं की असीम कृपा और स्नेह के कारण यह ग्रन्थ आज इस रूप में प्रकाशित हो रहा है। उन्हीं के आशीर्वाद से यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ है।

सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी डी० लिट०, डा० विनय मोहन शर्मा एम० ए० डी० लिट्, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी एम० ए० एल-एल० बी० आदि विद्वानों से लेखिका को समय-समय पर अनेक प्रकार से सहायता मिली। इन विद्वानों के पथप्रदर्शन से अनुसन्धान का यह दुरूह कार्य सरलतापूर्वक समाप्त हो सका है। हम हृदय से इन उदारचेता मनस्वियों के कृतज्ञ है।

अनुसन्धान कार्य में अनेक विद्वानों के ग्रन्थों लेखों और शोध निबन्धों से लेखिका ने लाभ उठाया। हम उन सभी यशस्वी साहित्यकारों के अनुगृहीत है।

—सावित्री शुक्ल

विषय-सूची

सत-काव्य के उद्गम के कारण एव भक्ति सम्प्रदाय

सामाजिक परिस्थितिया एव सतो का योगदान

समाज—मानव एवं समाज—समाज शास्त्री एवं समाज—भारतीय विचारधारा का मुख्य केन्द्र आत्मा एवं परमात्मा—सेवा में ईश्वर एवं जीव का एकत्व—सन्तों की वेदों एवं उपनिषदों से प्रभावित होना—मध्ययुगीन भारत की सामाजिक परिस्थितियाँ—विलासिता क्रूरता तथा निम्न प्रवृत्तियों का प्रसार—अंधविश्वास का अभिशाप—सन्तों के भौतिकता के विरुद्ध उपदेश—राम रहीम की एकता—सन्तों द्वारा भेदभाव को दूर करने के प्रयत्न—सहिष्णुता का उपदेश—सामाजिक जीवन को समुन्नत बनाने में संतों का योगदान—असंतोष एवं तृष्णा के विरुद्ध चेतावनी—दीनता ग्रहण करने के पक्ष में उपदेश—सन्तों का सेवाव्रत—जीवन एवं समाज को समुन्नत बनाने के लिए सन्तों की अमृत वाणियाँ।

धार्मिक परिस्थितियाँ एव दर्शन

धर्म एवं समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध—मध्य युग में सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ बाह्याडम्बर—बाह्याचार एवं भौतिकता से आच्छादित धर्म का स्वरूप—निर्गुण कवियों की भौतिकता में संलग्न समाज को चेतावनी निर्गुण दर्शन की पृष्ठभूमि में भारतीय दर्शन—भारतीय दर्शन की विशेषताएँ—भारतीय दर्शन एवं चिरंतन सत्य—बौद्धिक क्षेत्र में भारत का अग्रणी होना—भारतीय दर्शन एवं वेद—भारतीय दर्शन का द्वितीय सोपान—महाभारत—भारतीय दर्शन का तृतीय सोपान चार्वाक दर्शन—भारतीय दर्शन की चतुर्थ भूमिका जैन धर्म—भारतीय दर्शन का पंचम सोपान बौद्ध धर्म एवं दर्शन—भारतवर्ष के दार्शनिक क्षेत्र में षष्ठ सोपान पर छ. सिद्धान्तों का विकसित होना—गौतम का न्याय दर्शन कणाद का वैशेषिक—कपिल का सांख्य पतंजलि का योग—जैमिनि का मीमांसा—शंकर का अद्वैत वेदान्त भारतीय दर्शन का सप्तम सोपान पर वैष्णव दर्शन—अष्टम सोपान शैव तन्त्र—दर्शन और धर्म की अभिन्नता—शैव और वैष्णव संघर्ष।

वेद-दर्शन

वेद दर्शन के दो भाग मन्त्र एव ब्राह्मण—चार संहिताएँ—वेदों के तीन भाग—संहिता ब्राह्मण तथा आरण्यक—वेदों में देवताओं का बाहुल्य—उपनिषद्—उपनिषदों का प्रतिपाद्य—वेदान्त में आत्मा—उपनिषदों में ब्रह्म।

गीता-दर्शन

महाभारत का ऐतिहासिक संग्राम और भगवान श्रीकृष्ण—गीता का प्रणयन—गीता का प्रतिपाद्य—गीता में ब्रह्म और आत्मतत्व—निराकाम कर्म सिद्धान्तों की व्याख्या—स्थितिप्रज्ञ के लक्षण।

चार्वाक-दर्शन

चार्वाक का अर्थ—क्रियावाद—प्रत्यक्षवाद तथा नियतिवाद—लौकिक सुख और स्वर्ग—श्राद्ध की निस्सारता—चार्वाक—दर्शन और भौतिकवादी दृष्टि।

ग्रन्थ में प्रयुक्त संक्षेप एवं संकेत

१ स बा स	संत-बानी-संग्रह
२ च दा	चरन दास की बानी
३ श्रीमद्भा व१०	श्रीमद्भागवत
४ श सा	शब्द-सागर
५ अथर्व	अथर्ववेद
६ उ० भा सं प	उत्तरी भारत की संत-परम्परा
७ न्या० भा	न्याय भाष्य
८ हि म स दे	हिन्दी को मराठी संतों की देन
९ भा० द	भारतीय-दर्शन
१० भ सू	भक्ति-सूत्र

ओइम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।[१]

द्वितीय अर्थ-सदर्थ कर्म अर्थात् अपने योग क्षेम के हेतु कोई भी कर्म न करके वासुदेव के हेतु कर्म करना सत् है

कर्म चैव तदर्थीयम् सदित्येवाभिधीयते ।[२]

तृतीय अर्थ-यज्ञ दान तप म स्थित को सत् कहते हैं

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।[३]

चतुर्थ अर्थ-सद्भाव व साधु भाव रखकर प्राणी मात्र से सुहृद्भाव रखना सर्व भूत हितरत रहना और राग द्वेष द्वन्द्व आदि से न पड़ना भी सत् ही है।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।[४]

पंचम अर्थ-प्रशस्त कर्म करना या मात्मोद्धारक माङ्गलिक कर्म करना भी सत् कहा जाता है

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।[५]

अत यह स्पष्ट ही है कि 'संत' शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों म होता है जो चिरन्तन सत्य की अनुभूति कर चुका हो जो दिव्य मधुर-ज्योति के दर्शन प्राप्त करके उसी में सायुज्य प्राप्त कर चुका है वही 'संत' है।

निर्गुण कवियों ने भी साई और संत को एक ही माना है। पलटू साहब के मतानुसार राम' और संत' भिन्न नहीं है दोनों मे पूर्ण एकात्मकता है

संत और राम को एक के जानिये
दूसरा भेद ना तनिक आनै ॥[६]

संत गरीब दास के मतानुसार भी साँई और संत म कोई भेद नही है

'साँई सरीखे सत है यामें मीन न मेख ।[७]

कबीर दास का भी संत' और 'भगवान म भेद नही उपलब्ध होता है। कारण कि मनसा-वाचा-कर्मणा 'सत तथा 'साहब एक ही है उनम भेद के लिए लेशमात्र भी स्थान नही है

---

१ गीता अध्याय १७ श्लोक २३।
२ गीता अध्याय १७ श्लोक २७।
३ गीता अध्याय १७ श्लोक २७।
४ गीता अध्याय १७ श्लोक २६।
५ गीता अध्याय १७ श्लोक २६।
६ पलटू साहब की बानी—भाग २—पृष्ठ ।
७ सत-बानी-संग्रह—भाग प्रथम—पृष्ठ १ ।

कबीर दरसन साध का साहिब आवै याद।
लेखे में सोई घड़ी बाकी के दिन बाद॥
साध मिले साहिब मिले अंतर रही न रेख।
मनसा वाचा कर्मना साधू साहिब एक॥[1]

अब यह प्रश्न उठता है कि संतों के लक्षण क्या है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि संतों की यथार्थ पहिचान बाह्य-लक्षणों से नहीं हो सकती है। संतों के लक्षण श्रीमद्भागवत तथा राम चरित-मानस में सविस्तार उल्लिखित हुये हैं। श्रीमद्भागवत में भगवान भक्त उद्धव से कहते है

उद्धव! मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है वह किसी भी प्राणी से वैर नहीं करता वह सब प्रकार से सुख-दुखों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है सत्य को जीवन का सार समझता है उसके मन में कभी किसी प्रकार की पाप-वासना नहीं उठती वह सर्वत्र समदर्शी और सबका अकारण उपकार करने वाला होता है। उसकी बुद्धि कामनाओं से कलुषित नहीं होती। वह इन्द्रिय विजयी कोमल स्वभाव और पवित्र होता है उसके पास अपनी कोई भी वस्तु नहीं होती है किसी भी वस्तु के लिये वह कभी भी चेष्टा नहीं करता है परिमित भोजन करता है सदा शांत रहता है। उसकी बुद्धि स्थिर होती है वह केवल मेरे ही आश्रय रहता है निरन्तर मननशील रहता है वह कभी प्रमाद नहीं करता है गम्भीर स्वभाव और धैर्यवान होता है। भूख प्यास शोक मोह और जन्म-मृत्यु इन छः पर विजय प्राप्त कर चुका है। वह स्वयं कभी किसी से किसी प्रकार का मान नहीं चाहता है और दूसरों को सम्मान देता रहता है। भगवत्सम्बन्धी बातें समझने में बड़ा निपुण होता है उसके हृदय में करुणा भरी रहती है और भगवत्तत्व का उसे यथार्थ ज्ञान होता है।

---

१ संत-वाणी-संग्रह—भाग प्रथम—पृष्ठ २ ।

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षु सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा सम सर्वोपकारक॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदु शुचिरकिंचन।
अनीहो मितभुक शान्त स्थिरो मच्छरणमुनि॥
अप्रमत्तो गम्भीरात्मा धृतिमाञ्जितषड् गुण।
अमानी मानद कल्यो मैत्र कारुणिक कवि॥

श्रीमद्भागवत् ११।११।२९ ३१।

इसी प्रकार से सन्तों के लक्षणों को भगवान कपिलदेव ने माता देवहूती को[1] और योगीश्वर हरि जी ने राजा निमि से कहा है।[2]

'रामचरितमानस' में भी रामचन्द्र जी ने संतों के लक्षणों का उल्लेख करते हुए नारद से कहा है

सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कबि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मद हीना। धीर धर्म गति परम प्रबीना॥

गुनागार संसार दुख रहित बिगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिन्द बिप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

भगवान श्री रामचन्द्र जी ने भरत से भी सतों के चरित्र के सम्बन्ध में कहा है :

सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥

---

१ तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥
मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः॥
त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते॥

श्रीमद्भागवत ३।२५।२१ २४

२ श्रीमद्भागवत ११।२।४८ ५५।

तातें सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड ।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड ।।

(मानस—उत्तर काण्ड दोहा १७)

इसी प्रकार गीता में स्थितप्रज्ञ[1] तथा 'प्रिय भक्त'[2] का उल्लेख करते हुए सन्तों के लक्षण बतलाये गये हैं। महाभारत के अन्यान्य स्थलों में तथा प्रायः सभी पुराणों में सन्तों के लक्षणों का विशद वर्णन हुआ है।

सन्तों के लक्षण पर प्रायः सभी विद्वान एक मत हैं। समस्त ग्रन्थों तथा विद्वानों के कथन का सार-तत्व यह है कि सन्त 'निस्त्रैगुण' तथा माया से विरक्त होकर आत्मोद्धारक प्रशस्त कर्म करने में संलग्न रहते हैं। व निःस्पृह होकर शत्रु मित्र प्रिय अप्रिय सभी के प्रति सद्भाव रखते हुए जीवन में समदर्शिता को अपनाते हैं। व सर्वेव नित्यसत्यस्व कार्यों में संलग्न रहते हैं वे सतत् निर्लोभसोम होकर ईश्वर का भजन करते हैं। सन्त आत्म-निष्ठ होकर समस्त शुभाशुभ कर्मों को भगवान के चरण कमलों में अर्पित कर देते हैं। हर्ष-शोक ममत्व-परत्व सन्तों को स्पर्श नहीं कर पाता है। संसार में वे पद्मपत्रमिवांभस निवास करते हैं। परहित हेतु व सतत् प्राणोत्सर्ग करने के लिये उद्यत रहते हैं।[3] सन्त इच्छाओं एवं कामनाओं के बन्धन में नहीं बंधते हैं। वसुधा ही उनका कुटुम्ब है। ज्ञान-योग निष्काम-कर्म-योग भक्ति-योग प्रपत्ति-योग और अष्टांग-योग आदि सभी परमात्मा की प्राप्ति के साधन हैं। जिसकी जिस साधन-मार्ग मे रुचि होती है वह उसी मार्ग से चल कर परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। ब्रह्म की आराधना में अनुरक्त भक्तों और सन्तों का चरित्र समाज में मधुर प्रकाश और ख्याति का प्रचारक एवं प्रसारक होता है। वे प्रकाश स्तम्भ की भांति स्वतः जल कर दूसरे के पथ को आलोकित करते रहते हैं। सन्त-जन का व्यक्तित्व स्वार्थ के लिये नहीं परमार्थ के लिए होता है। यथा चन्द्रमा की शीतलता सूर्य में उष्मा और प्रकाश और अग्नि में दाहिका शक्ति स्वाभाविक रूप से विद्यमान होती है उसी तरह सन्तों के चरित्र में परोपकार उदारता विश्वबन्धुत्व और क्षमाशीलता आदि स्वाभाविक गुण होते हैं।

सन्त घन के समान परमार्थी होते है जो अपनी स्थिति विनष्ट करके दूसरों का शीतलता प्रदान करते हैं और सुख-दुःख में एक ही समान धैर्यवान और निर्लिप्त रहते हैं।

साध बड़े परमार्थी घन ज्यों बरसे आय।
तपन बुझावे और की अपनो पारस लाय ।।

---

१ गीता अध्याय २ श्लोक ५५ से ७२।
२ गीता अध्याय १२ श्लोक १३ से २०।
३ सं ग्रा स भाग १—पृष्ठ १७।

सुख दुख एक समान है हरष शोक नहिं व्याप ।
उपकारी निष्कामता उपजै छोभ न ताप ॥

(सं बा सं० भाग १ पृ २७)

सन्तों के जिन गुणों का उल्लेख ऊपर हो चुका है उन्हीं गुणों का उल्लेख हिन्दी के निर्गुण कवियों ने भी किया है ।

कबीर दास के मत से सन्तों के लक्षण हैं निर्वैरी निष्काम हरि-भक्ति-तत्पर और विषय विरक्त होना ।[1]

निरबैरी निष्कामता साँई सेती नेह ।
बिषिया सूँ न्यारा रहै साधन का मत एह ॥

(सं बा सं भाग १ पृ २७)

दरिया साहब के शब्दों में सन्तों के लक्षण निम्नलिखित हैं

दरिया लच्छन साध का क्या गिरही क्या भेष ।
निहकपटी निरसंक रहि बाहर भीतर एक ॥[2]

इसी प्रकार संत तुलसी साहब पलटू साहब गरीबदास दरिया साहब (मारवाड़ वाले) दादू तथा दयाबाई आदि ने संत के लक्षणों का उल्लेख सविस्तार किया है । दया बाई के मत में संत वही है जो पट विकारों से रहित हो और काम क्रोध मद लोभ जिसका स्पर्श नहीं कर पाते ऐसा व्यक्ति ब्रह्म भाव रस में सर्वदा लीन रहता है । दान और शीलता से सदैव सम्पन्न रहता है तथा दूसरों के हृदय को शीतलता प्रदान करता है

काम क्रोध मद लोभ नहिं षट विकार करि हीन ।
पंथ कुपंथ न जानहीं ब्रह्म भाव रस लीन ॥
दया दान अरु शीलता दीना भाव दयाल ।
हिरदे शीतल दृष्टि सम निरखत करै निहाल ॥[3]

सुन्दरी साहब के शब्दों में संत घट-घट के जाननहार हैं और उनके हृदय में जीवों के प्रति दया होती है । सहजोबाई के शब्दों में साधु से मिलते ही सारे दुःख दूर हो जाते हैं और व्यक्ति जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है

---

१ सं बा सं भाग १—पृष्ठ ७ ।
२ संत बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ १२ ।
३ संत बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ १७७ ।
४ सन्त ने जाने नहीं घट घट जानन हार ।
   जीव दया हिरदै बस साहब करत बिचार ॥
      संत बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ २२९ ।

साध मिले दुख सब गये मंगल भये सरीर।
दरसन मुनत ही मिटि गई जनम मरन की पीर ॥[1]

दादू के शब्दों में संतों के गुण पठनीय है

साध सबद सुख बरिखा है सीतल होई सरीर।
दादू अंतर आतमा पीवै हरि जल नीर ॥[2]

इसी प्रकार अन्य सन्त कवियों ने भी संतों के लक्षण बताये हैं परन्तु सब एक मत से यह स्वीकार करते हैं कि संत विवेकी दया क्षमा त्याग शील विश्वबन्धुत्व में विश्वास रखने वाला तथा समस्त विकारों से परे है। उसका व्यक्तित्व समाज के लिए एक वरदान है। वह जहाँ रहता है अपने चारों ओर ज्ञान के आलोक से सबको आलोकित करता रहता है। आध्यात्मिकता का वह व्यवहार सिद्ध रूप है। वह आत्माराम चेता तथा द्रष्टा होता है। वह अपनी अभ्यन्तरिक अनुभूति के कारण संसार के सामान्य स्तर से उच्च उठ जाता है। संत जन असंग और निर्लेप रहते हैं।

संसार में संत विरले हैं। बड़े भाग्य से उनके दर्शन होते हैं। नारद-भक्ति-सूत्र' में भी उल्लेख मिलता है

'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ।

गोस्वामी तुलसी दास ने भी संत संगति की बड़ी सराहना की है।[3]

संत समूह बनाकर विचरण करने वाले प्राणी नहीं होते हैं। वे एकान्त में साधना करते हुये ही जीवन यापन करते हैं। संत कबीर के शब्दों में सिंह हंस तथा रत्न समूह में नहीं उपलब्ध होते हैं न इनकी जमात ही होती है, ये एकाकी विचरण करते हैं।

सिंहों के लेहंड़े नहीं, हंसों की नाहिं पांत।
लालों की नहिं बोरिया साध न चलैं जमात ॥[4]

गरीबदास जी के मतानुसार

पंडित कोटि अनन्त हैं ज्ञानी कोटि अनन्त।
श्रोता कोटि अनन्त हैं विरले साधू संत ॥[5]

---

१ संत बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ १६८।
२ संत बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ ८६।
३ संत समागम दुर्लभ संसारा।
निमिष दण्ड भरि एकउ बारा॥
४ संत बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ २।
५. संत बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ १६६।

संतों का व्यक्तित्व हंसों के समान है। जिस प्रकार पक्षियों में हंस श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार मनुष्यों में संत श्रेष्ठ होते हैं

संत सरोवर हंस है, मच्छन करे विचार।
मुक्ता चालना क्यूं रहै राह रंक न मार ॥[1]

संत का व्यक्तित्व समाज के लिये एक वरदान है। वह जहां रहता है अपने चारों ओर सब को ज्ञान के आलोक से आलोकित करता रहता है। आध्यात्मिकता का वह व्यवहार सिद्ध रूप है। वह आध्यात्म वेत्ता तथा द्रष्टा होता है। वह अपनी आभ्यन्तरिक अनुभूति के कारण संसार के सामान्य स्तर से उच्च उठ जाता है। संत-जन असंग और निर्लेप रहते हैं। उनकी मति संसार से नितान्त प्रतिकूल रहती है। संसार जिसे सुख मानता है उसे वे अभिशाप मानते हैं। संसार जिस मोह बन्धन में सहर्ष बंध जाता है। उसका अपनी इच्छा से वे परित्याग कर देते हैं। संसार मृत्यु को देखकर सिहर उठता है। परन्तु संत-जन उस मृत्यु का आलिंगन प्रसन्नतापूर्वक करने को उद्यत रहते हैं। संसार प्रवृत्ति में विश्वास करता है और वे निवृत्ति के मार्ग से साधना के क्षेत्र में अग्रसर होकर प्रवृत्ति को निरर्थक सिद्ध करते हुये सत्य की अनुभूति करते हैं। साधारण संसारी मृत्यु के अनन्तर मुक्ति का स्वप्न देखता है परन्तु संत मृत्यु के अनन्तर प्राप्त होने वाली मुक्ति पर विश्वास नहीं करता है। कारण वह जीवन मुक्ति में आस्था रखता है। दादू के शब्दों में—

निरख निरंजन स्वामी रहै तब हम जीवन मुक्त भये।
मर करि मुकति जहां जग जाय। तहां न मेरा मन पतियाइ ॥
आगे जनम लहै औतारा। तहां न मानै मन हमारा ॥
तन छूटै गति जो पद होइ। मिरतक जीव मिलै सब कोई ॥
जीवते जनम मुकत करि राखा। दादू राम मिलै मन माना ॥

(शब्द संग्रह)

सिद्ध गोरख योगी के मत से वही संत योगीन्द्र है जो साधना मार्ग में तत्पर हो और दर्शन की लहर को अन्तर्मुखी करके आत्म निमग्न हो जाता है।

रावल ते वे चालै राह उलटी लहरि समावै माहि[2]

भगवान सम्पूर्ण त्रिभुवन के ऐश्वर्य का लोभ दिखाने या सम्पूर्ण विश्व के भोग उपस्थित होने पर भी लवनिमिषार्ध तक के लिये प्रभु के चरणारविन्द से मन नहीं हटाते। परन्तु दुःखी तृष्णाग्रस्त प्राणी अरविन्दनयन प्रभु के चरणारविन्द के विशुद्धतम अनुपम स्वाद नहीं जानते। अतएव अर्थ काम के लिये ही या बहुत हुआ तो दुःख मुक्ति या समृद्धि मोक्ष के लिये संतों के पास जाता है। इस पर संत जन दयाई

१ सन्त बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ १६६।
२ गोरख प्रकाश डॉ॰ पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल पृष्ठ १४६।

होकर अपने मनकी बात भगवद् ध्यान को ही सभी सुख सौभाग्य का उपाय बतला देते हैं। वे उपदेश देते हैं कि यदि कोई मोक्ष ही चाहता है तो बड़े शान्त तथा सौम्य उपाय से थोड़ी सी भगवान की आराधना करते हुये भी सुख सम्पत्ति प्राप्त कर सकता है।

संतों की कहनी और करनी संसार से नितान्त पृथक और भिन्न होती है। संत सदैव शान्त रहते हैं। व सदैव ब्रह्म नन्द में निमग्न रहते हैं। उल्लास की लहरें उनके हृदय में हिलोरें मारा करती हैं। वे सदा के लिए कर्म बीज को भून डालते हैं और सांई के रंग में अनुरंजित रहते हैं। संसार में न उनका किसी से प्रेम होता है न वैमनस्य। वे जैसा सोचते हैं वैसा ही कहते हैं और वैसा ही करते भी हैं। इस तरह उनके विचार वचन और क्रिया के विभिन्न मार्गों में विभाजित नहीं होते अपितु एक ही मार्ग में प्रवर्तित और एक ही उद्देश्य सूत्र में समन्वित होने के कारण उनकी वाणी में असम्भव को भी सम्भव कर देने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है।

संतों का जीवन कथनी और करनी का सुन्दर समन्वय होता है। वे जो कुछ कहते हैं वही करते हैं। दूसरों को मनुष्य उपदेश तभी दे सकता है जब स्वयं क्रियाशील हो। केवल बातों के द्वारा लक्ष्य की पूर्ति असम्भव है। कबीर के शब्दों में—

> कथनी मीठी खांड सी करनी विष की लोय।
> कथनी तजि करनी करै विष से अमरत होय॥[1]

कथनी तो खांड की भाँति मीठी मालूम होती है और करनी विष की लोनी के समान। यदि मानव कथनी को त्याग कर करनी में लग जाय तो यही हलाहल अमृतवत् मधुर और जीवनोपयोगी बन जाय। केवल कथनी व्यर्थ है। इसका परित्याग करके करनी में संलग्न होना चाहिए। कारण कि जल पिये बिना प्यास शान्त होना असम्भव है।

> कथनी करनी छाड़ि के करनी से चित लाय।
> नरहि नीर प्याये बिना, कबहुँ प्यास न जाय॥

दादू को ऐसे व्यक्तियों से बड़ा भय है जो कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। ऐसे व्यक्तियों पर भला विश्वास कैसे किया जाय।

> दादू कथनी और कुछ करनी करै कछु और।
> तिनसे मेरा जिव डरै जिनका ठीक न ठौर॥[2]

मन मलूक दास के शब्दों में दीपक की बत्ती एवं तेल के अभाव से अंधकार का निवारण नहीं हो सकता है। अंधकार तो तभी विनष्ट होगा जब तीनों को एकत्र करके प्रकाश किया जाय। कवि के शब्दों में—

> बातों तिमिर न भाजई दीवा बाती तेल।

---

१ स. बा. सं. भाग १ पृष्ठ ४७।
२ स. बा. सं. भाग १ पृष्ठ ८३।

संत चरण दास के अनुसार करनी में रहित समुपस्थित कर लिये बाला संत स्वतः पवित्र हो जाता है। कितने ही कथनी आत्मज्ञान का ढोंग निरर्थक करके नाम कलंकित हो गये और आज उनका निशान भी शेष नहीं है।

करनी बिनु कथनी इसी ज्यों ससि बिनु रजनी ।
बिन साहस ज्यों सूरमा भूषण बिन सजनी ॥
बांझ झुलावै पालना बालक नहिं माहीं ।
वस्तु विहीना जानिये जह करनी नाहीं ॥
बहु विध करनी बिना कथि कथि कर मुये ।
संतों कथि करनी करी हरि के सम हूये ॥

परमात्मा की प्राप्ति के संत मुक्ति के द्वार हैं। वे मुक्ति और भक्ति का दान गुप्त हृदय से देते हैं। ऐसे संत स्वयं ही कृतार्थ नहीं होते हैं वे संसार सागर में डूबते उतराते असंख्य प्राणियों का उद्धार करके उन्हें परमात्मा के परम धाम में पहुँचाने के सुदृढ़ जहाज बन जाते हैं। समस्त तीर्थ धर्म व साधना उन्हीं संतों के एक स्थान पर उपलब्ध हो जाते हैं। उनका संग करके उनके वचनानुसार आचरण करने पर उद्धार होता है। इसमें तो आश्चर्य ही क्या उनके स्मरण मात्र से केवल स्मरण करने वाले का मन ही नहीं उसका घर तक तत्काल विशुद्ध हो जाता है। महाराज परीक्षित ने मुनिवर शुकदेव जी से कहा है।

"आप जैसे महात्माओं के स्मरण मात्र से ही गृहस्थों के घर तत्काल पवित्र हो जाते हैं। फिर दर्शन स्पर्श पाद प्रक्षालन और आसनादि प्रदान का सुअवसर मिल जाय तब तो कहना ही क्या ?" १

[illegible] है [illegible] होता है। [illegible] समर्थ हैं तथा [illegible] है। [illegible] के लक्षण हैं

कबिरा घर मैं राम के और न दूजा होय ।
राम सनेही संत है [illegible] ॥

भर्तृहरि के वचनानुसार [illegible] भी [illegible] है [illegible] है।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।

[illegible] है। [illegible] और [illegible] और [illegible]

१ [illegible]
[illegible]
(श्रीमद्भागवत)

समुद्र है। कुमार्ग पर जाते हुये जीवन को वहाँ से हटाकर सच्चे सन्मार्ग पर लाने के लिये सन्त वचन परम सुहृद बन्धु है।

सन्त-वाणी में क्या नहीं हो सकता। सन्त-वाणी मानव हृदय को तमोऽभिभूत अवनत और पतित परिस्थितियों से उठाकर सहज ही अत्यन्त समुन्नत और समुल्लास कर देती है। सन्त-वाणी से वासना-कामना के प्रबल आघातों से चूर्ण-विचूर्ण दुर्बल हृदय में दिव्य त-शक्ति में सद्यः नवीनतम बल का संचार हो जाता है। जिन सन्तों की वाणी की इतनी महिमा है जिसका इतना विलक्षण मंगलमय परिणाम होता है जिन सन्तों की वाणी की इतनी महिमा है वे सन्त कौन है? उनका तात्विक रूप क्या है? उनके पहिचानने के लक्षण क्या है? स्वाभाविक रूप से ही ये प्रश्न उठते है।

सन्तों की यथार्थ पहिचान बाह्य-लक्षणो से नहीं हो सकती है। हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो नित्य-सिद्ध सत्य-तत्व का साक्षात्कार करके उसकी अपरोक्ष उपलब्धि करके उस सच्चिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं यह सत् ही चेतन है वह चेतन ही आनन्द है अर्थात् वह सत् चित् और आनन्द रूप है। इस आविभव्यात्वहीन सच्चिदानन्द में जो सहज प्रतिष्ठित है वे ही सन्त है।

हिन्दी मे 'संत शब्द का प्रयोग निर्गुण ब्रह्म के उपासक कवियों के लिये हुआ। इसके विपरीत भक्त' शब्द का प्रयोग सगुण ब्रह्मोपासकों के लिये होता है।[१] हिन्दी वाङ् मय मे केवल निर्गुणवादी को संत कहने की परिपाटी चल पड़ी है, जो केवल व्यवहारिक मात्र कही जा सकती है। परम सत्य का साधक चाहे अपने 'पिंड' में उसके दर्शन करे, चाहे पिंड के बाहर सृष्टि के अणु-अणु में उसका अनुभव करे संत ही है। सगुण और निर्गुण मे विभाजक रेखा खींच कर एक को भक्त' और दूसरे का संत कहने से इतिहास लेखन मे सुविधा हो सकती है, तथा ग्रहण मे नहीं।[२] डा विनयमोहन शर्मा का मत है कि मराठी साहित्य में संत' शब्द का व्यवहार व्यापक अर्थ मे होता है। उनका कथन है कि 'वहाँ विष्णु के अवतार राम के उपासक तुलसीदास संत है और ब्रह्म के प्रतीक 'राम' का नाम स्मरण करने वाले निर्गुणी कबीर भी संत है। वहाँ भक्त और संत के बीच कोई भेद नहीं माना गया। जो आत्मप्रतीति सहित परमात्मा के मिलन भाव को प्राप्य मानकर लोक-मंगल की कामना करता है उसे हम 'संत की श्रेणी में रखते है।[३] संतों ने अपनी निर्गुण-ब्रह्म विषयक जिस अनुभूति की साहित्य में अभिव्यक्ति की वह साहित्य निर्गुण-काव्य के

---

१ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन
डा विनय मोहन शर्मा पृष्ठ ५५।

२ हिन्दी को मराठी सन्तो की देन
डा विनय मोहन शर्मा पृष्ठ ५५।

३ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन
डा विनय मोहन शर्मा पृष्ठ ५५ ५६

रूप में प्रसिद्ध है। निर्गुण-काव्य में निर्गुण निराकार, निर्विकार अनन्त अनादि ब्रह्म की महत्ता का वर्णन है। अतः निर्गुण-काव्य पर विचार करने के पूर्व निर्गुण शब्द पर विचार कर लेना आवश्यक है।

निर्गुण

कोष के अनुसार 'निर्गुण' शब्द का अर्थ है गुणों से रहित। व्याकरण की दृष्टि से निर्गुण शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है 'निर्गतोगुणेभ्य' अर्थात् 'गुणों से विहीन या शून्य। साहित्य में 'गुण' शब्द का प्रयोग अनेक दृष्टियों से होता है। प्रभाव शील धर्म अथवा दुर्गुण सगुण सद्गुण आदि के अर्थों में इस शब्द का प्रयोग निरन्तर साहित्य में मिलता है। दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में जब 'गुण' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के सम्बन्ध में होता है तब इसका तात्पर्य प्रकृति के अवस्था से सम्बन्धित तीन गुण रजस तमस एवं सत्व से होता है। उपर्युक्त तीन शब्दों का प्रयोग वैदिक साहित्य से लेकर आज तक देश के धार्मिक साहित्य में किसी न किसी रूप में होता आ रहा है। केवल ऋग्वेद में इसका प्रयोग चार प्रकार से हुआ है।

(१) सत् (२) असत्
(३) रजस (४) तमस[1]

इन उपर्युक्त चारों शब्दों की व्यवस्था सायणाचार्य ने अपने भाष्य में निम्नलिखित प्रकार से की है

(१) सद्—आत्मवत् सत्वेन निर्वाच्यम् अर्थात् सत्व के माध्यम से जिस आत्मतत्व का विवेचन किया जा सके वही सत् है।

---

१ नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं
नासीद्रजो नो व्योम परायत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म
न्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ।१।
तम आसीत्तमसा गूढमग्रे
अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्
तपसस्तन्महिना जायतैकम् ।२।
कामस्तदग्रे समवर्तताधि
मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।३।

ऋग्वेद (नासदीय सूक्त)

(२) असत्—शशविषाणवन्निरूपाख्यम् अर्थात् खरगोश की सींग की भाँति जिसका निरूपण नहीं हो सकता है वही असत् है।

(३) रजस्—लोका रजांस्युच्यन्ते इति यास्क अर्थात् यास्क ने रज का अर्थ लोक लिया गया है।

(४) तमस्—आत्मतत्वस्यावरकत्वात्माया परसंज्ञ भाव रूपाज्ञानं मन्त्रं तम इत्युच्यते-अर्थात् आत्मतत्व के आच्छादन करने वाले तत्व का 'तम्' कहा गया है। इसी का पर्याय शब्द या दूसरा रूप है 'माया'। 'माया' ही भावात्मक 'अज्ञान' है। अथर्ववेद में भी कई एक स्थलों पर त्रिगुणात्मिका प्रकृति का उल्लेख किया गया है उदाहरणार्थ

पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्ष मात्मन्वत् तद्वैब्रह्मविदो विदुः॥[१]

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में सत् रजस् और तमस् तीनों गुणों की स्थिति निश्चित हो चुकी थी। ऋग्वेद में निर्गुण सत्पुरुष की भावना का प्रतिपादन हुआ है। कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरउपनिषद् में भी गुण के सम्बन्ध में अनेक बार उल्लेख हुये हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'पुरुष' को गुणों से विहीन या रहित माना गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'पुरुष' में सर्वात्मवाद की स्थापना 'सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा' कह कर की गई है। इस उपनिषद् में वह 'पुरुष' सूक्ष्म ब्रह्म के रूप में भी ग्रहण किया गया है उदाहरणार्थ

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़
सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्व भूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥[२]

अर्थात् समस्त प्राणियों में एक ही देव शक्ति या ब्रह्म की स्थिति है वह ब्रह्म सर्वव्यापक समस्त भूतों का अन्तरात्मा कर्मों का अधिष्ठाता समस्त प्राणियों में बसा हुआ सब का साक्षी सबको चेतना का वरदान देने वाला शुद्ध एवं निर्गुण है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में उस पुरुष को मूर्त व्यक्त साकार रूप से परे और पृथक माना गया है। वह चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं है, वरन् ध्यान के द्वारा ग्रहण किया जाता है।[३]

---

१ अथर्ववेद १०।८।४३।

२ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।११।

३ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।८।

बृहदारण्यकोपनिषद् में पुरुष को 'अक्षर' कहा गया है। प्रस्तुत उपनिषद् में कहा गया है कि यह परम पुरुष न स्थूल है न सूक्ष्म है न बृहद् है न अल्प न रूप रंग युक्त है न वायु और न आकाश। वह अमर अप्राण अमुख अगोत्र अजन्म अनादि अनन्त है।[1] गुणों के आधार पर सृष्टि के विकास का सिद्धान्त निर्धारित करते हुए कठोपनिषद् में कहा गया है कि इन्द्रियों की अपेक्षा अनेक विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन उत्कृष्ट है मन से बुद्धि पर है और बुद्धि से महान् आत्मा है।

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥

गुण के आधार पर सृष्टि के विकास की भावना सांख्य-दर्शन में बड़े व्यापक रूप में प्रस्फुटित हुई है। प्रकृति की परिभाषा निश्चित करते हुए सांख्य-दर्शन में कहा गया है कि

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

अर्थात् सत्व रज और तम की स्थिरावस्था ही अव्यक्त प्रकृति है। प्रकृति के विकास के यही तीन मूल गुण हैं। सांख्य में जिस पुरुष का चित्रण हुआ है, वह 'निर्गुण' है। 'प्रकृति एवं पुरुष' भिन्न गुण वाले पदार्थ हैं। इन दोनों के साहचर्य से सृष्टि की स्थिति है। 'सांख्यकारिका' में तीन गुणों का विश्लेषण निम्नलिखित शब्दों में हुआ है

सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥[2]

अर्थात् सत्व गुण का धर्म प्रकाश, रजस् का प्रवृत्ति तथा तमस् का आवरण गुण है।

इसी प्रकार गीता में भी इन त्रिगुणों का उल्लेख कई बार हुआ है। हिन्दी के निर्गुण-कविता की विचारधारा उपनिषदों तथा गीता से बहुत अंशों में प्रभावित है। निर्गुण-कवि गुणातीत, सत रज तममयी प्रवृत्ति से परे निर्विकार एवं सर्वव्यापी ब्रह्म के उपासक थे। सन्तों का ब्रह्म निराकार होते हुए भी संसार के कण-कण में परिव्याप्त और विद्यमान है। वह सच्चिदानन्द सर्वात्मा देश-काल की सीमा से परे और अगोचर है। संसार का बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा कार्य उसी ब्रह्म की इच्छा से सम्पादित होता है।

रज तम और सत गुणों से परे ब्रह्म का गुणगान एवं महत्ता वर्णन हिन्दी के सन्त कवियों ने बड़े समादर के साथ किया है। निर्गुण-ब्रह्म की अनुभूति और उसकी विभुता का वर्णन भी हिन्दी के निर्गुण-सन्तों ने बड़े विस्तार और मनोयोग से किया है। पीछे कहा गया है कि निर्गुण-ब्रह्म से सम्बन्धित भावों की जिस साहित्य में

---

१ बृहदारण्यक ब्राह्मण ।३।२।
२ सांख्य कारिका—१३।

अभिव्यक्ति हुई है वह निर्गुण-काव्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस निर्गुण-काव्य रचना का श्रीगणेश हिन्दी के युग प्रवर्तक कवि कबीरदास से हुआ। तेरहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक निर्गुण ब्रह्मोपासक अनेक कवि आविर्भूत हुये। जिनमें कबीर रैदास दादू नानक सुन्दरदास मलूकदास दरिया व गरीबदास सहजाबाई, दयाबाई पलटू-साहब आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

निर्गुण काव्य एवं उनके रचयिताओं का उल्लेख करने के पश्चात् निर्गुण-मत के आविर्भाव विकास एवं प्रसार के आधार मूल कारणों की ओर ध्यान देना आवश्यक है परन्तु इसके पूर्व हम भक्ति-सम्प्रदाय के विकास का अध्ययन करेंगे।

भक्ति-सम्प्रदाय का विकास' उपशीर्षक के अन्तर्गत सत-मत के आविर्भाव पर भी विचार किया जायगा। सत-मत का विकास देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप हुआ। भक्ति-सम्प्रदाय का विकास' में उसी विषय पर प्रकाश डाला गया है।

भक्ति-सम्प्रदाय का विकास

भारतीय धर्म-भावना उपासना अथवा भक्ति-भावना का चरम साध्य अथवा परम प्राप्य ब्रह्म है। भावना के विभिन्न मार्गों पर अग्रसर साधकों की दृष्टि सतत् पारमार्थिक सत्ता पर ही केन्द्रीभूत रही है। ज्ञान भक्ति वैराग्य अथवा योग के पथ पर अग्रसर साधक अपनी दृष्टि सदैव परम प्राप्य पर ही केन्द्रित रखते आये है। स्वचित्त वृत्ति को सतत् अविच्छिन्न रूपेण स्व उपास्य परब्रह्म में नियोजित एवं संस्थापित कर देने एवं उसमे अटल विश्वास स्थापित करने तथा अनन्य निष्काम प्रेम द्वारा उसी ब्रह्म में चित्त वृत्ति को तल्लीन कर देने का ही नाम 'भक्ति' है। 'भक्ति' हृदय की उस दिव्य एवं उदात्त भावना का नाम है जिसमें साधक जहां एक ओर पूर्ण भाव से परब्रह्म में अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपने को ब्रह्मार्पण करने वाला है वहां साथ ही ब्रह्म द्वारा विरचित इस समस्त सृष्टि के प्रति मैत्री की भावना से सम्पन्न भी हो। इसी भाव से प्रेरित होकर ऋग्वेद में कहा गया है कि

> मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
> मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्॥[1]

ब्रह्म के चरणों में पूर्णतया आत्म-समर्पण कर देने वाला भक्त कहता है कि मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं और सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखने वाले हों।

भक्ति का वास्तविक अर्थ होता है सेवा। यह सेवा अनेक प्रकार से सम्पन्न होती है। भक्ति का दूसरा अर्थ ईश्वर विषयक अनुरागी भी होता है। शुक्ल-यजुर्वेद में

---

१ ऋग्वेद संग्रह—पृष्ठ ८।

उल्लेख हुआ है कि जन्म मृत्यु रूप महा भयंकर बन्धन से सदैव के लिए छुटकारा या मुक्ति पाने के हेतु भगवान स्वरूप ज्ञान या भक्ति अत्यधिक आवश्यक है।

तमेवविदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यते यनाय।

तथा (शुक्ल यजुर्वेद ३१।१८)

य इत तद्विदुस्ते अमृतत्वमानुशः।

(ऋग्वेद १।१६४।२३)

भारतीय साधकों ने सदैव से अपने जीवन एवं साधना को इतना अभिन्न या अपार्थक्य प्रदान किया कि उनकी साधना के लक्ष्य और जीवन के उद्देश्य में कभी कोई अन्तर अवशिष्ट न रह गया। वास्तव में उनकी साधना और उनका जीवन एक दूसरे का पूरक बन कर उनके जीवन पथ का सदैव से आलोकित करता रहा है। संसार के जितने भी सम्बन्ध होते हैं उनमें उपासक एवं उपास्य का सम्बन्ध सबसे मधुर तथा महत्व का होता है। कारण कि इन दोनों के मध्य में एक ऐसी पुनीत भावना विद्यमान रहती है जो हृदय की सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक उदात्त प्रवृत्ति मानी जाती है। यह प्रवृत्ति भक्ति श्रद्धा या प्रेम शब्दों के रूप में अभिव्यक्त की जा सकती है। भक्ति का सूत्रपात वेदकाल में हो चुका था। वेदों के निम्नलिखित मन्त्रों में भक्त की तन्मयता अभिव्यक्त हुई है। कहना न होगा कि इनमें भक्ति के तत्त्व स्वतः विद्यमान हैं।

(क) यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥[1]

(ख) यस्य भूमि प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥[2]

(ग) गूहता गुह्यं तमो वियात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥[3]

उपर्युक्त उद्धरणों में भक्त ने बड़ी ही तन्मयता के साथ विश्वास प्रभु के चरणों में अपने को नतमस्तक होकर समर्पित किया है। निम्नलिखित मन्त्र में भक्त निवेदन करता है कि प्रभु अशरण-शरण हैं। उन्हीं की असीम अनुकम्पा से साधक का उद्धार होता है।

त्वमग्ने यज्वा भवि देव आ मर्त्येषा।
त्वं यज्ञेषु ईड्य॥[4]

---

१ अथर्व ? ।८।१।
२ अथर्व ? ।७।३२।
३ ऋग्वेद ?। ?।
४ ऋग्वेद ।??। ।

एक मंत्र का प्रतिपाद्य यह है कि जिस समय मानव जीवन नौका इस संसार रूपी भवसागर में अस्थिर हो जाती है उस समय उस क्षण करुणागार परमात्मा ही आत्मा को प्रेरणा देते हैं।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं
ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथम्
अथ जिर्विर्विदथ मा वदासि ॥[१]

वर्णों मे श्रद्धा और भक्ति भावना का रूप बड़ा उदात्त है। वेदों का भक्त इस विश्व को दुःखदायक एवं भ्रमपूर्ण नहीं समझता है। यदि मन भक्ति मे सदैव लीन रहे तो संसार बड़ा रमणीय है। इसी भाव की अभिव्यक्ति निम्नलिखित श्लोक में हुई है।

वसन्त इन्नु रन्त्यः ग्रीष्म इन्नु रन्त्य ।
वर्षाण्यनुशरदो हेमन्त शिशिर इन्नु रन्त्य ॥[२]

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में भक्ति के उदात्त और पुनीत उद्गार अनेक स्थलों म अंकित किये गये हैं। वास्तव में वेद ही भक्ति के आदि स्रोत हैं। वेदों मे भक्ति और भक्त के रूप स्वरूप[३] पर बड़े विस्तार के साथ विचार प्रकट किये गये हैं। यजुर्वेद म एक भक्त के हृदय से प्रस्फुटित अत्यधिक भावुकता से सम्पन्न नमस्कारात्मक आत्मनिवेदन बड़ा रोचक है। प्रस्तुत भाव निम्नलिखित मंत्र में व्यक्त किया गया है

यस्येमेहिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहु ।
यस्येमा दिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधम ॥[४]

अर्थात् जिसकी महिमा का गान हिमाच्छादित पर्वत पर कर रहे हैं, जिसकी भक्ति का राग समुद्र अपनी सहायक नदियों के साथ सुना रहा है और ये विशाल दिशाएं जिसके बाहुओं के सदृश हैं उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को हमारा नमस्कार है।

सत्य यह है कि वेदो में ईश्वर भक्ति के विषय में जो मंत्र उपलब्ध होते हैं वे इतने सारगर्भित तथा रस से ओत प्रोत हैं कि उनसे बढ़कर भक्ति का सोपान अन्यत्र मिलना कठिन ही नहीं असम्भव है।

---

१ अथर्व ८।१।६।

२ सामवेद ६।३।१३।२।

३ तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्य मयि धेहि,
बलमसि बलं मयि धेहि ओजोऽस्योजो मयि धेहि
महोऽसि सहोमयि धेहि ॥
(यजुर्वेद)

४ यजु २३।१२।

वेदों की संहिताओं में भक्ति-तत्त्व

वेदों की भांति वेदों की संहिताओं में भी भक्ति-तत्त्व उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद संहिता में कहा गया है कि जिससे मोक्ष सुख प्राप्त होते हैं तथा जिससे इस लोक एवं परलोक के सुख प्राप्त होते हैं, उस ब्रह्म को प्रणाम है। जो महान् सुख पारमार्थिक अनन्त सुख प्राप्त कराता है तथा जो सब प्रकार के सुखों का देने वाला है उस दिव्य-शक्ति परमात्मा को नमस्कार है। जो परमेश्वर कल्याण-स्वरूप है तथा स्वभक्तों का भी कल्याण कर होने के कारण परम कल्याण रूप है, उसे प्रणाम है। विश्व-रूप अविनाशी देव हमारे लिये प्रसन्न है। प्राणों का प्रेरक एवं शरीरों का अन्तर्यामी महादेव हमारे शाश्वत शान्ति सुख के अनुकूल हों

शं नो अज एकपाद देवो अस्तु
शं नोऽहिर्बुध्न्य शं समुद्र ।
शं नो अपान्नपात् पेरुरस्तु
शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥[१]

अथर्ववेद-संहिता में एक स्थान पर उल्लेख हुआ है

देव। संस्फान। सहस्रापोषस्येशिषे। तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांस स्याम।[२]

अर्थात् हे ब्रह्म! हे देव! तू आध्यात्मिकादि असंख्य शाश्वत पुष्टियों का स्वामी है। अतः हमें उन पुष्टियों का तू दान कर उनको हमारे में स्थापन कर। अतः हम उस महान् अनन्त पुष्टि पति प्रभु की भक्ति से युक्त हों।

उपनिषदों में भक्ति

उपनिषद् ज्ञान भक्ति तथा कर्म विषयक चर्चा एवं विवेचन के आधार एवं आकार हैं। भांति भांति की अप्रस्तुत योजनाओं के द्वारा इन उपनिषदों में विषय प्रतिपादन और भी रोचक बना दिया गया है। इन उपनिषदों में भक्ति विषयक तत्त्व बड़ी प्रचुरता के साथ मिलते हैं। केनोपनिषद्[३] कठोपनिषद्[४]

---

१ अथर्व सं० १९।११।३।
२ अथर्व सं० ६।१२।३।
३ तद्वनमित्युपासितव्यम्। (केनोपनिषद् ४।६)
४ (क) ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥
(कठोपनिषद् २।२।३)
(ख) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्माविवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठोपनिषद् १।२।२३)

मुण्डकोपनिषद्[1] छान्दोग्योपनिषद्[2] श्वेताश्वतर उपनिषद्[3] आदि में भक्ति और भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले अनेक तत्वों का प्रमुख एवं प्रासंगिक रूप से उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् भक्ति-भावना और भक्ति के तत्वों से शून्य नहीं है।

कठोपनिषद् तथा मुण्डकोपनिषद रहस्यपूर्ण तथा भक्ति से ओत प्रोत श्लोकों के लिये प्रसिद्ध हैं। यहां पर इन दोनों ग्रन्थों से एक एक श्लोक उद्धृत किया जाता है। प्रथम श्लोक कठोपनिषद् से ग्रहण किया गया है। इसमें कहा गया है कि ब्रह्म अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। आत्मा प्राणी की हृदय-गुहा में अवस्थान करती है। निष्काम-साधक ईश्वर की अनन्त कृपा से उस आत्मा के दर्शन करता है। उसके दर्शन करने पर साधक में सर्वज्ञता का आविर्भाव होता है तथा वह साधक शोकादि भावों से उत्तीर्ण हो जाता है

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥[4]

मुण्डकोपनिषद् में उद्धृत प्रस्तुत श्लोक में रहस्यवादी भावना प्रतिबिम्बित होती है। प्रस्तुत श्लोक भक्ति के भाव एवं तत्वों को भी स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥[5]

---

१ प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
(मुण्डक २।२।४)

२ छान्दोग्य उपनिषद् में प्रतीक उपासना का भी उल्लेख मिलता है
मनो ब्रह्म त्युपासीत।
(छान्दोग्य ३।१८।१)
आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत।
(छान्दोग्य ३।१९।१)
तथा

३ तप प्रभावात् देवप्रसादाच्च
ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान।
(श्वेताश्वतर उ ६।२१)

४ कठोपनिषद् १।२।२ ।

५ मुण्डकोपनिषद् ३।१।१।

इस प्रकार इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में उत्कृष्ट कोटि की भक्ति एवं रहस्य भावना अभिव्यक्त हुई है।

पुराणों में भक्ति

उपनिषदों के समान ही पुराण भी भक्ति के तत्वों से सम्पन्न हैं। 'पुराण' पंचम वेद के नाम से प्रसिद्ध है। वेदों के गूढ़ अर्थ को समझने के लिये पुराणों की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। वायु पुराण[1] पद्म पुराण[2] बृहन्नारदीय पुराण[3] देवी पुराण[4] विष्णु पुराण[5] कूर्म पुराण[6] तथा शिव पुराण[7] आदि ग्रन्थों में भक्ति की महत्ता

१ यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विज ।
न चेद् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षण ॥
इतिहास पुराणाभ्याम् वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥
(वायु पुराण)

२ वेदेभ्य उद्धृत्य समस्त धर्मान् यो वै पुराणेषु जगाद देव ।
व्यासस्वरूपं कलाश्रितमप कल्पे तमेनं कमलासमेतम् ॥
(पद्मपुराण क्रिया योगसार—१।१)

३ श्वपाकोऽपि मुनि श्रेष्ठ विष्णु भक्तो द्विजाधिक ।
विष्णु भक्ति विहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचाधिक ॥
(बृहन्नारदीय पुराण—३२।३३)

४ यथा तु व्यज्यते वर्णैर्विचित्रैः स्फटिको मणि ।
तथा गुणवशाद् देवी नाना भावेषु वर्तते ॥
ऐको भूत्वा यथा मेघ पृथक्त्वमात्तिष्ठते ।
वर्णतो रूपतश्चैव तथा गुणवशाज्जया ॥
(देवी पुराण ३७।२४ २५)

५ सृष्टिस्थिति त्यन्तकारणाद ब्रह्मा विष्णु शिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दना ॥
(विष्णु पुराण—१।२।६२)

६ सर्वेषामेव भक्तानां मिष्ठ प्रियतमो मम
योऽहि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा ।
(कूर्म पुराण उत्तरार्द्ध—४।२६)

७ ज्ञान मूल तथाध्यात्मं तस्य भक्ति द्विजस्य च ।
भक्तेश्च प्रेम सम्प्रोक्त प्रेम्णस्तु श्रवणंमतम् ॥
श्रवणस्य तथा सङ्ग सङ्गस्य सद्गुरु स्मृत ।
सम्पन्ने च तथा ज्ञाने मुक्तिर्भवतिनिश्चितम् ॥
(शिवपुराण ज्ञान संहिता ७८।१ ।३३)

का न न किसी न किसी रूप में किया गया। तात्पर्य यह है कि भक्ति का क्रमिक विकास आदि काल से होता आया है और पुराण इसी विकास की कड़ी है।

गीता में भक्ति-तत्त्व

विद्वानों का मत है कि भगवद् गीता समस्त शास्त्रों का सार है। वेदव्यास जी ने स्वत महाभारत के 'भीष्म-पर्व' में कहा है कि

> गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र संग्रहैः।
> या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।।
> सर्व शास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
> सर्व तीर्थ मयी गंगा सर्वदेवमयो मनुः।।[1]

अर्थात् केवल गीता का ही भली भाँति अध्ययन करना चाहिये। अन्य शास्त्रों के अध्ययन की क्या आवश्यकता है? गीता स्वयं पद्मनाभ भगवान के साक्षात मुख कमल से निःसृत हुई है। गीता सर्वशास्त्रमयी है भी हरि सर्व वेदमय है। स्पष्ट है कि सर्व शास्त्रों से सम्पन्न गीता भक्ति-भावना और तत्त्वों से शून्य नहीं है। गीता भक्ति से ओतप्रोत है। स्वयं गीता का एक अध्याय ही 'भक्ति-योग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्याय में भक्ति के समस्त तत्त्वों महत्वों और उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। भक्ति-योग साधना के लिये परम आवश्यक है और साधक के लिये अमृततत्त्व समान प्राणदायिनी शक्ति से सम्पन्न है। इस भक्ति-योग में अनुरक्त साधक ब्रह्म के मधुर स्वरूप में विलीन होकर अजरामर हो जाता है। गीता के चतुर्थ अध्याय के पूर्वार्ध में भगवान ने भक्ति की महिमा का गान करते हुए कहा है कि जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनका उसी प्रकार भजता हूँ

> ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।[2]

इसी प्रकार भगवान ने कहा है कि भक्ति में संलग्न तथा लगे हुये साधुओं का परित्राण करने के लिये मैं युग-युग मे अवतार ग्रहण करता हूँ।

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।[3]

भगवान ने ज्ञान-योग प्रकरण में भी भक्ति (उपासना) की आवश्यकता पर विचार प्रकट किये हैं

१ महाभारत भीष्म पर्व—४३।१२।
२ गीता ४।११ का पूर्वार्ध।
३ गीता ४।८।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।[1]

भगवान ने अनेक स्थलों पर शरणागति रूप भक्ति का माहात्म्य भी बतलाया है।[2] इस प्रकार गीता में भक्ति का बड़ा व्यापक तथा भव्य रूप वर्णित हुआ है।

लक्षण और महत्त्व

भक्ति के माध्यम से भक्त या साधक भगवान के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं

सा परानुरक्तिरीश्वरे ।[3]

ब्रह्म परम-सत्ता या परमात्मा में अनुराग ही भक्ति है। देवर्षि नारद के मत से हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम स्थापित करने को ही भक्ति कहते हैं

सात्वस्मिन् परमप्रेम रूपा ।

(नारद—सूत्र २)

इसी प्रकार अद्वैत शिरोमणि आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को मन की एक विशेष एवं उदात्त वृत्ति मानी है 'द्रवी भाव पूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्प वृत्ति रूपा भक्ति

तथा

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्ति रित्याभिधीयते ॥[4]

निरतिशयत्व (या वह अनुराग जिससे अधिक अनुराग का नितान्त अभाव होता है) ही भक्ति के लिये सबसे अधिक आवश्यक माना गया है। भागवत पुराण में प्रेम या भक्ति निरतिशय होने के साथ ही साथ निर्हेतुक निष्काम तथा निरंतर भी मानी गई है।

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।

भक्ति या प्रेम में पूर्ण निष्कामता अपेक्षित होती है। किसी विशेष अपेक्षा से

१ गीता १८।५२।
२ चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोग मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
मच्चित्तः सर्व दुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि
—गीता (१८।५७-५८ का पूर्वार्ध।)
३ शाण्डिल्य-सूत्र संख्या २।
४ मधुसूदन कृत— 'भक्ति रसायन।
५ भागवत ३।२९।१२।

सम्पादित भक्ति निकृष्ट कोटि की भक्ति होती है। वैदिक काम्य कर्मों के उपासक के तुल्य ऐसा भक्त 'अर्थात्' अर्थात् हीन कोटि का भक्त होता है। ज्ञान प्राप्त किये बिना निष्काम-भाव का उद्रेक नहीं हो सकता है। इसी कारण ज्ञान भक्ति के क्षेत्र में अत्यधिक उपेक्षित है। ज्ञानी कर्तव्य बुद्धि से ब्रह्म के प्रति प्रेम स्थापित करता है

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति मित्थं भूत गुणों हरिः ॥[1]

सच्ची भक्ति का अधिकारी आत्माराम मुनि ही होता है। भक्त के आनन्द का भक्त ही जानता है

निष्किञ्चना मय्यनुरक्त-चेतसः
शान्ता महान्तो खिल जीव वत्सला।
कामैर नालब्धियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखम् मम ॥[2]

ब्रह्म की परानुरक्ति रूपा भक्ति साधना रूपा भी है और यह साध्य रूपा भी है। यह स्वयं ही उपाय है और साथ ही स्वयं उपेय भी है। यह परानुरक्ति रूपा भक्ति प्राप्ति का साधन भी है और यह स्वतः प्राप्ति रूपा भी है। उसका महत्व ब्रह्म के महत्व के समान ही बड़ा विशाल एवं व्यापक है।

उपाधियाँ

भक्ति की सम्यक साधना के हेतु भक्ति की अनेक उपाधियों का उल्लेख हुआ है। सामान्यतया भक्ति की दो उपाधियाँ वर्णित हुई हैं

(१) अन्याभिलाषा
(२) कर्म-ज्ञान योगादि मिश्रण

प्रथम विचारणीय है अन्याभिलाषा'। इस उपाधि का सम्बन्ध पूर्णतया निर्गुण धारा तथा ज्ञान-मार्ग से सम्बन्धित है। ज्ञान भक्ति एवं योग के भेद से यह तीन प्रकार की होती है। ज्ञान के अन्तर्गत अहं ब्रह्मास्मि की भावना बलवती रहती है। कर्म के अन्तर्गत भक्ति रहित कर्म-काण्ड का वर्णन रहता है और योग के अन्तर्गत हठयोग का वर्णन होता है।

कर्मज्ञान योगादि मिश्रण का सम्बन्ध ब्रह्म के सगुण रूप से है। ज्ञान के द्वारा भक्त को भगवान के रहस्य का आभास मिलता है। प्राणायाम के माध्यम से अन्तर्वर्तिनी वृत्तियों को ईश्वर में पूर्ण रूपेण लय करता है और कर्म द्वारा वह अपने उपास्य देव की सेवा का पुण्यलाभ लेता है। इसके भी ज्ञान कर्म तथा योग तीन अंग माने

१ भागवत् १।७।१०।
२ भागवत ११।१४।१७।

गये हैं। इस उपाधि के अन्तर्गत सकाम-भक्ति तथा उपमा भक्ति की गणना की जाती है।

सकाम-भक्ति का सम्बन्ध भोग कामना से होता है। यह भक्ति विशेष प्रकार के फलों और मनोकामनाओं की पूर्ति के लिये होती है। इसके भी तीन भेद हैं सात्विकी राजसी तथा तामसी। अब उपमा भक्ति विचारशील है। उपमा चिद् स्वरूप है। इसमें अविद्या वासना मोक्ष आदि के रहस्यों पर विचार करके उनकी स्थिति को प्रकाश में लाया गया है। इसका सम्बन्ध निर्गुण ब्रह्म से है। इसके तीन मुख्य अंग हैं— साधना भाव तथा प्रेम। भाव तथा प्रेम साधना भक्ति द्वारा साध्य है। रागानुगाम तथा वैधी दो प्रकार की भक्तियां इसके अन्तर्गत आती हैं। इसके निम्नलिखित नौ लक्षण हैं

(१) क्षमा (२) काव्यत्व (३) विरक्ति (४) मानशून्यता (५) आशाबंध (६) समुत्कंठा (७) नामगान में अभिरुचि (८) गुण-कथन में आस्था तथा (९) उसके निवासस्थान से प्रेम।

भक्ति रस की उद्भावना

भक्ति रस की शास्त्रीय एवं साम्प्रदायिक व्याख्या एवं विश्लेषण बड़े विस्तार और गाम्भीर्य के साथ वैष्णव धर्म के अन्तर्गत सम्पन्न हुई है। भक्ति-भावना का पूर्णतया विकास वैष्णव-धर्म की बड़ी भारी विशिष्टता है। वैष्णव-धर्म के शास्त्रीय ग्रन्थों में भक्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और विवेचन किया गया है। विद्वानों का मत है कि भक्ति-शास्त्र का जितना प्रामाणिक विवरण वैष्णव भक्तों एवं लेखकों द्वारा हुआ है उतना किसी अन्य धर्मावलम्बी लेखकों द्वारा नहीं सम्पन्न हुआ। वैष्णव-धर्म में भक्ति-रस को सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। उस सम्बन्ध में कहा गया है कि अन्य रसों का विकास इसी प्रकृति मूल रस की विविध विकृतियों के रूप में हुआ है। वैष्णव साधकों और विचारकों ने भक्ति को भावदशा से ऊपर उठाकर रस दशा में स्थापित किया और भक्ति-रस को सर्वश्रेष्ठ रस निर्धारित किया। वैष्णव भक्तों ने भक्ति-रस के आधार उत्कृष्ट भाव मधुर भाव की रचना की। भक्ति-रस एवं मधुर भाव के विवेचन के लिये श्री रूपेश स्वामी ने 'हरि भक्तरसामृत सिन्धु' तथा 'उज्ज्वल नील मणि' ग्रन्थों की रचना की जो पांडित्य और गम्भीर विवेचन से परिपूर्ण हैं।

कहना न होगा कि वैष्णवों द्वारा प्रतिपादित यह विषय बड़ा व्यापक और *पांडित्यपूर्ण* है। उन्होंने अपनी विद्वत्ता के माध्यम से एक नवीन रस को लेकर उसमें इतनी प्रौढ़ता उत्पन्न कर दी उसे इतना व्यापक बना दिया कि आज भी लाखों भक्त एक साथ उसमें अवगाहन करके माधुर्य के प्रतीक परब्रह्म में लीन होकर एकाकार हो जाते हैं। वैष्णव धर्म को माधुर्य भाव की भक्ति का अवसर भगवान श्री कृष्ण की मधुर मूर्ति की उपासना में सम्प्राप्त हुआ। वैष्णव शास्त्र में भक्ति के लिए जिस उदात्त मधुर और हृदयग्राही रूप का विश्लेषण किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

वैष्णव ग्रन्थों में भक्ति-रस का जितना सुन्दर परिपाक हुआ है उतना सुन्दर परिपाक अन्यत्र असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भक्ति-आन्दोलन का विकास तीन उत्थानों में हुआ

(१) प्रथम उत्थान १२ ई पूर्व से लेकर ५ ई० तक।
(२) द्वितीय उत्थान ७ ई से लेकर १४ ई तक।
(३) तृतीय उत्थान १४ ई से लेकर १६ ई तक।

भक्ति का प्रथम उत्थान

भक्ति का प्रथम-उत्थान १२ ई पूर्व से लेकर ५ ई तक माना जाता है। इस युग की विस्तार सीमा सात्वतों के विकास से लेकर गुप्त नरेशों के उदयकाल तक है। भागवत धर्म का अभ्युदय केन्द्र स्वयं मथुरा मंडल है। भगवान श्रीकृष्ण का जन्म सात्वत वंशीय (या यादव वंशीय) क्षत्रियों में हुआ था। भागवत धर्म का विकास इसी क्षत्रिय वंश द्वारा हुआ। कालान्तर में इस सात्वत वंश ने शूरसेन मंडल से हटकर अपनी शक्ति का केन्द्र दक्षिण तथा पश्चिम में बनाया। 'ऐतरेय ब्राह्मण' से पता चलता है कि सात्वतों लोग दक्षिण देश के निवासी थे। सात्वतों ने ही भागवत धर्म का प्रचार उत्तर भारत से दक्षिण में जाकर किया। इस प्रकार सात्वत ने भागवत-धर्म के सूत्र में उत्तर एवं दक्षिण भारत को सदैव के लिये बांध दिया। महाभारत के नारायणीय-पर्व का सम्बन्ध इसी उत्थान के आरम्भिक के युग से है। शुंगवंश तथा मौर्यवंशी शासकों के पतन के अनन्तर गुप्तवंशी राजवंश भागवत धर्म का बड़ा भारी प्रचारक और सहायक बना गुप्त वंशी राजवंश के राज्यकाल में भागवत धर्म का प्रचार मध्य भारत तथा पश्चिमी भारत में हुआ। शुंगवंशी शासक भद्रक के राज्यकाल में हुए बस कर आने वाले यूनानी राजदूत हेलियोडोरस परम भागवत था। चतुर्थ एवं पंचम ईसवी वैष्णव धर्म का स्वर्ण-युग माना जाता है कारण कि इसी समय परम भागवत गुप्त सम्राटों ने वैष्णव-धर्म की ध्वजा दूर-दूर तक पहुंचाई थी। गुप्त नरेशों के राज्यकाल में वैष्णव धर्म का बड़ा उत्थान हुआ। पांचरात्र संहिताओं तथा हरिवंश, अहिर्बुध्न्य, परम संहिता, सात्वत संहिता आदि विद्वतापूर्ण ग्रन्थों की रचना भी इसी समय हुई। मध्य-युग में भागवत-धर्म वैष्णव धर्म का ही अंग बन गया। अष्टम एवं नवम् शताब्दियों में वैष्णव भक्ति के मार्ग में दो जटिल समस्यायें उपस्थित हुई। जिनमें कुमारिल भट्ट का आन्दोलन था। इन्होंने वैदिक याज्ञीय कर्मकाण्ड को मुक्ति का साधन बनाकर पुनः उसे स्थापित करने की चेष्टा की। द्वितीय शंकराचार्य का अद्वैतवाद था। इन दोनों ही मतों ने भक्ति के मूल उद्देश्य को हानि पहुंचाई। भगवत भक्ति के लिये उपास्य तथा उपासक दोनों ही परमावश्यक अंग हैं। उपास्य के बिना उपासक की उपासना निर्मूल है तथा उपासक के बिना उपास्य देव की कोई भी सत्ता नहीं है। सच्चिदानन्द ब्रह्म के सत् चित् एवं आनन्द का यदि कोई अनुभव

करने वाला ही न होगा तो उसकी सत्ता ही क्या ? किन्तु शंकराचार्य के मिथ्यावाद के अन्तर्गत उपासक का कोई स्थान न था। इस मत से जनता में बहुत असन्तोष फैला और इस समस्या का हल बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक होता रहा। इसी बीच मे रामानुजाचार्य विष्णु स्वामी निम्बार्काचार्य मध्वाचार्य आदि आचार्यों ने दक्षिण भारत से आकर उत्तरी भारत में विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत द्वैताद्वैत द्वैत आदि मतों का प्रचार जनता में करके जीव और जगत की सत्यता स्थापित की।

वैष्णव-धर्म का प्राचीन नाम भागवत-धर्म तथा पांचरात्रमत है। विष्णु षट् ऐश्वर्यों के प्रतीक होने के कारण भगवत' शब्द के द्वारा अभिहित किये गये और उनकी भक्ति में साधना करने वालों को भागवत कहा गया। भागवत-सम्प्रदाय के आराध्य 'वासुदेव' का उल्लेख वैदिक-साहित्य मे सम्भवत प्रथम बार हुआ था। तैत्तरीय आरण्यक का दशम् प्रपाठक इस दृष्टि से विचारणीय होगा।[1]

भागवत-धर्म के प्रमुख एवं आधारभूत ग्रन्थ अहिर्बुध्न्य परम संहिता सात्वत संहिता हैं। इनके अतिरिक्त पाद्मतन्त्र विष्णु संहिता ईश्वर संहिता कपिञ्जल संहिता शांडिल्य संहिता नारद पांचरात्र भारद्वाज संहिता श्री प्रश्न संहिता आदि भी भागवतधर्म के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इस दृष्टि से भागवत भी महत्वपूर्ण रचना है। भागवत की भी अनेक टीकायें लिखी गई हैं। जिनमे से श्रीधर स्वामी कृत भावार्थ दीपिका' सुदर्शन सूरि कृत 'शुक पक्षीया' वीर राघव विरचित भागवत चन्द्रिका विजय ध्वज पदरत्नावली वल्लभाचार्य सुबोधिनी शुकदेवाचार्य सिद्धान्त प्रदीप सनातन गोस्वामी बृहद् वैष्णव तोषिणी जीव गोस्वामी क्रमसन्दर्भ विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत सारार्थदर्शिनी श्री हरि कृत हरि भक्ति रसायन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भक्ति का द्वितीय उत्थान (७ ई० से १४ ई० तक)

वैष्णव भक्ति का द्वितीय उत्थान तामिलनाडु से हुआ। इस द्वितीय-उत्थान का श्रीगणेश आलवार सन्तों से हुआ और इसकी इति श्री वैष्णव आचार्यों से हुई। आलवार तामिल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ होता है भगवत भक्ति रस में लीन व्यक्ति। द्वितीय उत्थान के अवधि काल म द्रविड देश मे भक्ति का प्रचार और प्रसार द्रुत वेग से हो रहा था। द्रविड देश वैष्णव भक्ति का केन्द्र बन गया। समस्त भेद भावों का परित्याग करके मानव चाहे वह उच्च हो या नीच धनी हो या निर्धन बालक हो या वृद्ध नारी हो या पुरुष पूर्ण रूप से वैष्णव भक्ति की साधना में संलग्न थे। आलवार भक्तों में बारह साधकों को विशेष ख्याति और प्रसिद्धि प्राप्त हुई। भक्ति भावना के प्रवाह रस म अनुरंजित व आलवार सन्त वेद मन्त्रो के समान पवित्र एवं मधुर भाषा मे कीर्त

१ नारायणा विद्महे वासुदेव धीमहि।
तन्नो विष्णु प्रचोदयात ॥

—तैत्तरीय आरण्यक का दशम् प्रपाठक।

प्रौढ़ गुरुतर अनुभूतियों को द्रविड़ भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करके जनता को भक्ति के महान् सरोवर में अवगाहन कराया करते थे। आलवार-संत बड़े भावुक और साधक थे। इस युग में इन भक्तों के द्वारा चार सम्प्रदायों को जन्म प्राप्त हुआ

(१) निम्बार्क-सम्प्रदाय
(२) श्री सम्प्रदाय
(३) माध्व-सम्प्रदाय
(४) रुद्र सम्प्रदाय (विष्णु स्वामी)।

आलवार-भक्तों या भक्तों की दृष्टि में आचार्य शंकर का मायावाद भक्ति के मार्ग में प्रतिबन्धक था। कारण कि ब्रह्म सिद्ध हो जाने के अनन्तर ही भक्ति का विनाश या जन्म होता है। अद्वैत-दर्शन एवं भावना भक्ति के मार्ग में बड़ी बाधक है। इसी कारण इन आचार्यों ने बड़ी कुशलता और तर्क के साथ मायावाद की आलोचना और खण्डन किया।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के विद्वानों ने अपनी अनुभूतियों और भावों की अभिव्यक्ति देववाणी या संस्कृत के माध्यम से की। संस्कृत में इन विद्वानों ने प्रस्थानत्रयी उपनिषद् ब्रह्मसूत्र तथा भगवत् गीता के प्रौढ़ भाष्यों की रचना करके दार्शनिक सिद्धान्तों को बल दिया और यह सिद्ध किया कि निम्बार्क-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की वैदिक-सिद्धान्तों और परम्परा में कोई भेद नहीं है वरन् निम्बार्कीय सिद्धान्त-वैदिक परम्परा में ही निहित हुए हैं। निम्बार्क-मत में द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही के सिद्धान्तों को समभाव से स्वीकार किया गया है। इस मत के आचार्यों ने खण्डन मण्डन की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना उन्होंने भजन-कीर्तन की ओर दिया था। ये राधा-कृष्ण के उपासक थे।

श्री वैष्णव तथा माध्व-सम्प्रदाय के आचार्य लक्ष्मी नारायण की आराधना में विश्वास रखते हैं। भक्ति की उपयोगिता और महत्व पर इनकी अपार श्रद्धा थी। दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से इनमें भेद था परन्तु व्यावहारिक सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं था। वेदान्त के आचार्यों में मध्वाचार्य का प्रमुख स्थान है। मध्वाचार्य ने सैंतीस ग्रन्थों की रचना की जिनमें ब्रह्मसूत्र भाष्य अनुव्याख्यान दशोपनिषद् भाष्य गीता भाष्य विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अनुसार ब्रह्म एवं सर्व दोनों की पृथक् सत्ता है। इस प्रकार से इन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन किया। मध्वाचार्य ने सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया और निर्गुण ब्रह्म का खण्डन किया। इन्होंने सृष्टि का कारण निमित्त माना है। इनके मत में संसार में पाँच भेद नित्य हैं

(क) ईश्वर तथा जीव भेद
(ख) ईश्वर तथा जड़ जगत का भेद
(ग) जीव तथा जगत का भेद
(घ) जीव और जीव का भेद
(ङ) जड़ और जड़ का भेद।

विष्णु स्वामी का रुद्र-सम्प्रदाय उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों की तुलना में संक्षिप्त

हो गया। परन्तु तृतीय उत्थान में आचार्य वल्लभ ने इसे लोकप्रिय बनाकर इसका सम्यक प्रचार किया।

दक्षिण भारत की इस धार्मिक जागृति की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि भक्ति की यह लहर जनता में भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रसारित हुई। यहाँ तक कि उत्तर भारत को भी भक्ति की प्रेरणा देने का श्रेय भी दक्षिणी भारत के इसी आन्दोलन को है। दक्षिण भारत की श्रद्धालु जनता में भक्ति की भावना एवं ब्रह्म के प्रति आस्था स्थापित करने में दो प्रकार के भक्तों का विशेष रूप से योगदान रहा है। इनमें से पहले कोटि के भक्त थे शैव संत। इन शैव सन्तों की संख्या ६४ मानी जाती है उपर्युक्त चौसठ सन्तों में माणिक्क वचाक सम्बन्ध वागीश और सुन्दर के नाम विशेष समादर के साथ लिये जाते हैं। इनकी पीयूष-वर्षी कल्याणकारी वाणी दो ग्रन्थ रत्नों में संगृहीत है। इनमें से प्रथम का शीर्षक देवरम् तथा द्वितीय का नाम है 'तिरुवाचकम्'।

आलवार संत ब्रह्म के सच्चे प्रेमी उपासक भावुक तथा ब्रह्म रस में निरन्तर अवगाहन करने वाले थे। 'अलवार' शब्द का अर्थ ही होता है 'आध्यात्म ज्ञान रूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाले भक्त-जन'। इन सन्तों या भक्तों की भाषा द्राविड़ या तामिल थी।

आलवार युग' के पश्चात् 'आचार्य युग' का उल्लेख होना आवश्यक है। आचार्य युग' के सन्तों में वैदिक कर्मकांड एवं मीमांसा के अनेक विद्वान थे। इन्होंने तर्क तथा युक्ति के द्वारा भक्ति की महत्ता और जीवन के लिये उपयोगिता प्रमाणित की। इन्होंने मायावाद का तीव्र खण्डन-मंडन किया और यह प्रतिपादित किया कि ज्ञान की अपेक्षा भक्ति का मार्ग जनता के लिये अधिक उपयोगी और सुगम है।

'आलवार भक्त' तथा आचार्य भक्त' विष्णु भक्ति के बड़े ख्यातनाम एवं प्रसिद्ध आचार्य थे परन्तु दोनों में किंचित् भेद या अन्तर भी विद्यमान था। आलवारों की साधना का आधार थी 'प्रपत्ति' या 'विशुद्ध भक्ति' परन्तु आचार्यों के जीवन का सार था भक्ति एवं कर्म का सुन्दर समन्वय। आलवार शास्त्रों के निष्णात विद्वान नहीं थे वे भक्ति-रस में आकण्ठ डूबे हुये भावुक जन थे। परन्तु आचार्य वेदान्त के पारंगत विद्वान होने के साथ ही तर्क एवं युक्ति द्वारा अपने विषय का प्रतिपादन सुचारु रूप से करते रहते थे। संक्षेप में आलवारों की भक्ति में हृदय पक्ष की प्रबलता थी और आचार्यों में बुद्धि पक्ष की दृढ़ता थी। परन्तु दोनों का साध्य या गन्तव्य एक ही था।

आलवार भक्तों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं पोयगे आलवार भूततालवार, पेयालवार भक्तिसार, शठकोप मधुरकवि कुलशेखर विष्णु चित्त गोदा विप्रनारायण मनिवाहन तिरुप्पन तथा नीलन्। आचार्यों में आद्याचार्य हुये रंगनाथ मुनि। इनका समय सन् ८२४ ई० से ९२४ ई० तक है इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं 'योगरहस्य' तथा 'न्यायतत्व'। इनके बाद यामुनाचार्य का उल्लेख आवश्यक है। इनके अनन्तर श्रीरंगम् तथा राम मिश्र उल्लेखनीय हैं।

आचार्य शिखामणि के प्रसिद्ध विद्वान थे श्री रामानुजाचार्य। रामानुज के प्रसिद्ध

ग्रन्थों के नाम हैं 'यतार्थ संग्रह' 'वेदान्त सार' 'वेदान्त दीप' 'गद्यत्रय' 'गीता भाष्य' 'श्री भाष्य'।

भक्ति का तृतीय-उत्थान (सन् १४ १६)

भक्ति के तृतीय-उत्थान काल का प्रसार काल है सन् १४ से लेकर सन् १६ ई० तक। यह आन्दोलन एकान्त जनान्दोलन के रूप में भारतीय जनता के मध्य में अभिव्यक्त हुआ। इस आन्दोलन का सम्बन्ध केवल तत्व-चिन्तकों या शास्त्रचिन्तकों तक ही सीमित नहीं रहा वरन् इसका प्रसार जनता के आन्दोलन के रूप में हुआ। भक्ति के इस उत्थान का सम्बन्ध भारतीय जनता के उस स्तर से विशेष रूप से था जो युग-युग से अपेक्षित और अनादृत था। इस युग में दो धाराओं में भक्ति-आन्दोलन का विकास हुआ। प्रथम धारा थी राम भक्ति-शाखा और द्वितीय कृष्ण भक्ति-शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। राम-शाखा का विकास काशी में हुआ इसके प्रवर्तक स्वामी रामानन्द थे। स्वामी रामानन्द ने भक्ति का सरल मार्ग सभी वर्ग तथा वर्णों के लिये खोल दिया उन्होंने सबसे पहली बार यह उद्घोषित किया कि जाति-पाँति निस्सार है। जो हरि का भजन करता है वही हरि का प्रिय है।[1] मुसलमानों के भीषण अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को प्रभु की इतनी सहज तथा मधुर भक्ति इससे पूर्व किसी ने नहीं प्रदर्शित की थी। इस नवीन मार्ग पर चल कर भारतीय जनता को अपार आनन्द और सहानुभूति का अनुभव हुआ।

स्वामी रामानन्द के द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तों से निर्गुण एवं सगुण-ब्रह्म विषयक भक्ति की दो धारायें प्रस्फुटित हुईं। निर्गुण तथा सगुण धारा की कर्णधार दो महान् प्रतिमाएँ थीं जो भारतीय-धर्म-साधना एवं साहित्य में संत कबीर दास तथा महात्मा तुलसीदास के नाम से प्रख्यात हुईं। युग प्रवर्तक रामानन्द ने भक्ति एवं धर्म की धारा को तो व्यापक धरातल पर प्रवाहित किया ही साथ ही जाति-पाँति के भेद भाव को मिटाने के लिये अथक और महत्वपूर्ण परिश्रम किया। रामानन्द की यह देन स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है और आने वाली पीढ़ियाँ इस महत्वपूर्ण देन के कारण उनका स्मरण श्रद्धा के साथ सदैव करती रहेगी। रामानन्दी शिष्य बड़े उदार होते हैं। इन शिष्यों में अनेक क्रान्तिकारी एवं प्रतिभावान कवियों का आविर्भाव हुआ जिनमें सर्व प्रथम कबीरदास का नाम उल्लेखनीय है। कबीरदास के अतिरिक्त सेन नाई संत रैदास तथा पीपा का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। नाभादास जी ने रामानन्द के जिन १२ प्रमुख शिष्यों का उल्लेख किया है वे हैं अनन्त दास सुखानन्द सुरसुरानन्द नरहर्यानन्द भावानन्द पीपा कबीर सेन धना रैदास पद्मावती और सुरसरी।

युग प्रवर्तक रामानन्द द्वारा संस्थापित आदर्शों को लेकर कबीर ने साधना भक्ति

---

१ "जाति पाँति पूछै ना कोई हरि को भजै सो हरि का होई।

और साहित्य के क्षेत्र मे नवीन क्रान्ति उपस्थित कर दी। इस व्यक्तित्व ने प्राचीन मान्यताओं के प्रति बड़ा भारी विद्रोह किया। इसने युग-युग से चली आने वाली परम्पराओं बाह्याचारों उपासना-विधान का तिरस्कार करके नये-नये आदर्शों की स्थापना की। कबीर ने जाति-पाँति को निस्सार बताया और मुक्तकंठ से उद्घोषित किया कि जाति पाँति पूछे न कोई हरि का भजै सो हरि का होई। कबीर ने अपनी पुण्य-वाणी द्वारा ऐसे सन्देशों का उपदेश दिया जो न केवल सत्य चिरन्तन और शाश्वत है वरन् उनमें प्रभावित करने की अद्वितीय शक्ति है। कबीर से प्रभावित होकर रैदास नानक दादू मलूकदास सुन्दरदास रज्जब गरीबदास चरनदास दरिया दूलनदास पलटू साहब आदि ने भारतीय जनता को समय-समय पर ज्ञान का सन्देश दिया।[1]

डा विनय मोहन शर्मा का मत है कि उत्तरी भारत में निर्गुण भक्ति के प्रथम प्रभावक नामदेव थे।[2] नामदेव ने भक्ति का प्रचार बड़े सुगम ढंग से जनता के निम्न स्तर के लिये किया। कहना न होगा कि इस प्रकार के प्रयत्न या प्रयास का जनता पर बड़ा ही सुन्दर प्रभाव पड़ा। जनता ने इन उदारचेता मनस्वियों की वाणियों को हर प्रकार से हृदयंगम किया और उसे जीवन में कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया।

कृष्ण भक्ति-धारा का उद्गम वृन्दावन मे हुआ। वृन्दावन भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र की अलौकिक लीलाओं का विख्यात केन्द्र स्थल है। यहाँ पर समय-समय पर चार सम्प्रदायों का विकास हुआ। ये सम्प्रदाय हैं

(क) निम्बार्क
(ख) वल्लभ
(ग) चैतन्य
(घ) राधा वल्लभीय।

निम्बार्क का आविर्भाव काल अभी तक निश्चित नही है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि वैष्णव-सम्प्रदाय के समस्त प्रवर्तकों मे ये प्राचीनतम है। चैतन्य तथा वल्लभ समकालीन थे। निम्बार्क चैतन्य एवं वल्लभ ने अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धांतों के निर्माण के लिये श्रीमद्भागवत से प्रचुर प्रेरणा और सकेत ग्रहण किये। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि भागवत से ही प्रेरणा ग्रहण करके इन समस्त सम्प्रदायों का विकास किया गया।

भक्ति के तृतीय उत्थान की एक और विशेषता है। इस युग मे वैष्णव-काव्य का उदय हुआ। वैष्णव कवियो ने अपने हृदय की अनुभूति भावना तथा उपदेशों को

---

१ संत-मत तथा निर्गुण-काव्य-धारा के अन्य कवियों और पंथों के सम्बन्ध में हम सविस्तार उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ के 'धार्मिक परिस्थितियाँ एवं दर्शन' परिच्छेद मे करेंगे।

२ हिन्दी को मराठी संतो की देन

डा विनय मोहन शर्मा पृष्ठ ४४ ४७

जनता के हृदय तक पहुँचाने के लिए प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का सहारा लिया। इन आचार्यों ने धार्मिक सिद्धान्तों को जनता की बोली के द्वारा जनता तक पहुँचाने में अथक और सराहनीय परिश्रम किया। भक्ति-आन्दोलन ने अब जनता के आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया। रामानन्दी वैष्णव भक्त-कवियों में गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी तथा निर्गुणिया कबीरदास ने जनता की भाषा में भोजपुरी में अपने भावों की अभिव्यक्ति की। कृष्ण धारा के कवियों में विशेष उल्लेखनीय हैं महात्मा सूरदास जिन्होंने ब्रज की बोली में माधुर्य घोल कर कृष्ण के मधुर चरित तथा हृदयग्राही लीलाओं की अभिव्यक्ति की। सूर की परम्परा में उन्हीं के समकालीन कवियों में विशेषतया उल्लेखनीय हैं नन्ददास परमानन्द कुम्भन दास छीत स्वामी गोविन्द स्वामी चतुर्भुज दास तथा कृष्ण दास। ये अष्टछाप के कवियों के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। इनकी स्थापना आचार्य बल्लभ ने की थी। निम्बार्काचार्य के सम्प्रदाय से प्रेरणा ग्रहण करके काव्य रचना करने वालों में विशेष रूप से उल्लेखनीय बिहारी घनानन्द रसिक गोविन्द स्वामी हरिदास तथा हित हरिवंश हैं। इन सभी कवियों ने ब्रज भाषा में काव्य की रचना की।

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में वैष्णव-भक्ति का प्रबल लहर ने पूरे देश उत्तरी तथा दक्षिणी भारत को अपने रंग में अनुरंजित कर दिया। इस समय भक्ति के प्रचार के साथ साहित्य और ललित कलाओं का प्रचुर विकास हुआ।

निम्बार्क

वैष्णव-सम्प्रदायों में निम्बार्क मत का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। ऊपर कहा जा चुका है कि निम्बार्क मत वैष्णव मतों में सबसे प्राचीन है। दार्शनिकता की दृष्टि से भी इसका विपुल महत्व है। इस मत के ऐतिहासिक प्रतिनिधि आचार्य निम्बार्क हैं। इसके प्रथम उपदेष्टा हंसावतार भगवान हैं। इन हंसावतार के शिष्य सनत्कुमार हैं जिन्होंने इसका उपदेश महर्षि को दिया। नारद जी से यह उपदेश निम्बार्क को प्राप्त हुआ। इन्हीं परम्पराओं के कारण यह सम्प्रदाय हंस-सम्प्रदाय सनकादि सम्प्रदाय या सनातन-सम्प्रदाय देवर्षि-सम्प्रदाय आदि नामों से प्रसिद्ध है। निम्बार्क का देश-काल अज्ञात है। किंवदन्ती है कि निम्बार्क जाति तैलंग ब्राह्मण थे और बेलारी जिला (दक्षिण) के निवासी थे। निम्बार्क के चार शिष्य प्रसिद्ध हुये। ये हैं श्री निवासाचार्य औदुम्बराचार्य गौरमुखाचार्य तथा लक्ष्मण भट्ट। निम्बार्काचार्य ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की

(१) पारिजात सौरभ (२) दशश्लोकी (३) श्रीकृष्णस्तवराज (४) मंत्ररहस्य षोडशी तथा (५) प्रपन्न कल्पवल्ली।

निम्बार्क मत के प्रसिद्ध आचार्य हैं पुरुषोत्तम देवाचार्य सुन्दर भट्टाचार्य केशव काश्मीरी श्री भट्ट श्री हरिव्यास परशुरामाचार्य।

श्री वल्लभ-मत

इस मत का विकास वृन्दावन की पवित्र भूमि में हुआ परन्तु इसका प्रचार राजस्थान एवं गुजरात में भी समान रूप से हुआ। वैष्णव-सम्प्रदाय चतुष्टयी में वल्लभ-सम्प्रदाय रुद्र-सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इसके प्रमुख प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे और इसके सम्मुखी प्रतिनिधि थे आचार्य वल्लभ। आचार्य वल्लभ ने विष्णु स्वामी की अविच्छिन्न गद्दी पर बैठ कर उनके सिद्धान्तों का प्रचार किया। विष्णु स्वामी की जीवनी और व्यक्तित्व अज्ञान की गहन तमिस्रा में पड़ा हुआ है प्रसिद्ध है कि वे द्रविड देश के एक क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण मंत्री के पुत्र थे। कहा जाता है कि विल्वमंगलाचार्य ने स्वप्न में वल्लभाचार्य को उपदेश दिया कि वे विष्णु स्वामी की शरण में जाकर दीक्षा ग्रहण करें। इसी प्रेरणा के फल स्वरूप विष्णु स्वामी से इन्होंने दीक्षा ली। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत मूलक पुष्टि मार्ग की स्थापना की। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के प्रचार के लिये अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं 'अणुभाष्य' 'पूर्व मीमांसा भाष्य' 'तत्त्व दीप निबन्ध' 'सुबोधिनी' 'षोडश ग्रन्थ' 'भक्ति मीमांसा' 'गायत्री भाष्य' 'भगवत् पीठिका' 'शिक्षा श्लोक' तथा 'सेवा विवरण'। श्री विट्ठलनाथ गोसाईं जी आचार्य वल्लभ के छोटे भाई थे।

राधा वल्लभी-सम्प्रदाय

राधा वल्लभी-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में दो मत हैं कुछ लोग इसे निम्बार्क-सम्प्रदाय की वृन्दावनी शाखा मानते हैं और कुछ लोग इसे चैतन्य मत की शाखा मानते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह स्वतन्त्र वैष्णव-सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय की स्थापना ब्रज-मण्डल में हुई। इस सम्प्रदाय की साधना-पद्धति देख कर कहना पड़ता है कि यह एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश जी थे।[1] वैष्णवों के मतानुसार यह भी कृष्ण की मुरली के अवतार थे। इनके समय और जीवनी के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। मिश्रबन्धु इन्हें सहारनपुर जिले के देवबन्द स्थान के निवासी मानते हैं। आचार्य बलदेव उपाध्याय के मतानुसार इनका जन्म मथुरा से चार कोस की दूरी पर स्थित बाद नामक ग्राम में हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण थे और बाद भी इनके वंशधर देवबन्द तथा वृन्दावन आदि स्थानों में निवास करते हैं। इनके पिता का नाम व्यास राम मिश्र तथा माता का नाम तारावती था। हित हरिवंश द्वारा लिखित दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं 'राधा सुधानिधि' तथा 'हित चौरासी'। राधावल्लभी-सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं श्री व्यास जी तथा ध्रुवदास जी।

कृष्ण-सम्प्रदाय के विकास के [illegible] में विचार किया गया है। इस कृष्ण में

१ [illegible] सम्प्रदाय—[illegible] काशी।

यह स्पष्ट हो जाता है कि संत-मत का आविर्भाव देश काल की अनिवार्य परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ। अब हम उन राजनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर विचार करेंगे जिनके कारण निर्गुण-सम्प्रदाय या संत-मत का विकास हुआ। सबसे पहले हम देश की राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे।

राजनीतिक परिस्थितियां

किसी देश के वातावरण जलवायु एवं परिस्थितियों का प्रभाव उस देश के निवासियों पर अनिवार्यतया पड़ता है। मानव-समाज अपने चतुर्दिक प्रसारित वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। वातावरण मानव के निर्माण एवं विकास में विशेष रूप से सहायक होता है। सत्य यह है कि सामयिक परिस्थितियां एवं जलवायु मानव एवं उसके समाज के जीवन दर्शन के निर्माण और परिष्कार में अत्यधिक सहायक होती हैं। घटनायें एवं परिस्थितियां मानव एवं उसके समाज की चिन्तन पद्धति तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन उपस्थित कर देती हैं। कवि समाज का सर्वाधिक भावुक जागरूक एवं चेतनशील प्राणी है। इसलिये अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह अपने समय की राजनैतिक सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होता है। कवि समाज की प्रत्येक गति-विधि प्रवृत्ति और परिस्थिति से प्रभावित होकर अपनी प्रतिक्रियाओं तथा अनुभूतियों को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। किसी साहित्यकार की रचनाओं और उसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को समझने के लिये तत्कालीन प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों का वस्तु-परक अध्ययन कर लेना नितान्त आवश्यक और उपादेय होता है।

तेरहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक अनेक निर्गुण संत-कवियों का आविर्भाव हुआ। इन कवियों में विशेष रूप से कबीर दादू नानक सुन्दर दास मलूक दास जगजीवन साहब भीखा साहब बुल्ला साहब दरिया साहब यारी साहब तथा चरन दास उल्लेखनीय हैं। इन पांच सौ वर्षों में आविर्भूत कवियों में से कदाचित् ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिसने अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होकर जनता को ठीक मार्ग पर संचालित करने का प्रयत्न न किया हो। ये कवि इतिहासकार नहीं थे न अपने युग की परिस्थितियों को व्यक्त करने के लिये स्वतन्त्र काव्य लिखा। इनकी वाणियां स्वान्तः सुखाय और बहुजनहिताय प्रस्फुटित हुईं। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों और इतिहासकारों की रचनाओं से इन पांच सौ वर्षों की विभिन्न परिस्थितियों का ज्ञान बड़ी सरलता के साथ हो जाता है। इतिहासकारों में कुछ तो आधुनिक हैं और कुछ प्राचीन। इन कवियों के समय की स्थितियों का कुछ ज्ञान हम [illegible] भूषण तथा हरिनाथ आदि कवियों की रचनाओं से भी पा जाते हैं।

भारतीय राजनीति तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक निरन्तर अस्त-व्यस्त, अशान्त तथा असंगठित बनी रही। इसका प्रमुख कारण था बाहर से होने वाले आक्रमण। इन आक्रमणों के कारण भारतीय राजनीति रह रह

कर अशान्त एवं अस्थिर हो उठती थी। वास्तव मे भारतीय राजनीति विविध रंगों में इसलिये परिवर्तित होती रही कि प्रत्येक बार एक नई शक्ति ने उत्साह और नई अभिलाषाओं को कार्यान्वित करने तथा महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये भारतवर्ष की जनता पर नये-नये प्रयोग किये और प्रत्येक बार भारतीय जनता को आक्रमणकारी शक्ति के समय नतमस्तक होकर सब कुछ स्वीकार करना पड़ा।

भारतवर्ष पर तेरहवीं शताब्दी के पूर्व अनेक बार अरबों ने आक्रमण किया। खलीफा उमर ने सन् ६३६ ३७ में बम्बई के पास भारतीय सीमा के अन्दर आक्रमण करके लूट मार की। परन्तु खलीफा उमर का यह आक्रमण अधिक सफल न रहा। सन् ७१२ ई में मुहम्मद बिन कासिम ने आक्रमण किया। सन् ९७६ के लगभग अलप्तगीन के दामाद सुबुक्तगीन ने अफगानों को संगठित कर हमदान और सीस्तान पर आक्रमण किया। सन् ९८९ में उसने भारत पर आक्रमण किया और जयपाल से संघर्ष हुआ। सुबुक्तगीन ने अतुल धन राशि लूट कर पेशावर को अपनी सीमा में सम्मिलित कर लिया। सुबुक्तगीन की विजय से तुर्कों को यह भली-भाँति ज्ञान हो गया कि भारतीय जनता के पास प्रचुर धन राशि है और वह युद्ध-कला में अकुशल तथा बल में बड़ी हीन है। महमूद गजनवी अपने पिता सुबुक्तगीन की ही भाँति बहुत साहसी और उद्यमी था। महमूद गजनवी ने भारत पर सत्रह आक्रमण किये। उसका प्रत्येक आक्रमण बड़ा प्रबल और प्रचंड था जिसने पूरी शक्ति के साथ भारतवासियों का विनाश समूलनष्ट कर दिया। महमूद का प्रथम आक्रमण १ ई में सीमावर्ती नगरों पर हुआ द्वितीय १ १ ई में भटिंडा के राजा जयपाल पर हुआ। इस युद्ध म जयपाल पराजित हुआ और भटिंडा के निकटवर्ती प्रदेश को लूट कर महमूद ने हिन्दू जाति और संस्कृति विनष्ट करने में कोई प्रयत्न अवशेष न रखा। उसका तीसरा और चौथा आक्रमण भीरा और मुल्तान नगरों पर सन् १ ६ ई में हुआ। महमूद का पाचवां आक्रमण सन् १ में सेवक पाल पर हुआ। सेवक पाल को पराजित करके ४ लाख दिरम वसूल करके वह पुन स्वदेश विजय श्री से विभूषित होकर लौटा। उसका षष्ठ आक्रमण सन् १ ८ ई में हुआ। यह भारत के इतिहास म परिवर्तनकारी अभियान था। इस युद्ध के लिये आनन्दपाल को उज्जैन दिल्ली कालिंजर कन्नौज ग्वालियर तथा अजमेर के शासकों से भी सहायता मिली इस युद्ध म भारतीय वीरो की विजय निश्चित थी परन्तु आनन्दपाल का हाथी युद्धस्थल पर ऐसा भागा कि भारतीयों के लिये भारत पुन मुसलमानों के चरणों का दास बन गया। इस विजय से उत्साहित होकर महमूद ने नगरकोट (१ ८ ई) का घेरा डाला। हिन्दुओं ने घबड़ाकर किले के द्वार खोल दिये। महमूद को किले की इस विजय के साथ अपार सम्पत्ति मिली। इसके अनन्तर सन् १ १४ तक वह छुटपुट आक्रमण करता रहा परन्तु सन् १ १४ म उसने थानेश्वर पर भीषण आक्रमण किया। सन् १ १ मे कन्नौज पर विजय प्राप्त करने के समय म उसने भारत पर आक्रमण किया। बुलन्दशहर के राजा को पराजित करके अपार सम्पत्ति लूटने के

बाद उसने दस हजार आदमियों को मुसलमान बना लिया। इसी प्रकार महावन मथुरा कन्नौज कालिंजर ग्वालियर पर अनेक बार आक्रमण करके उसने धन सम्पत्ति लूट ली और अपना एकाधिकार स्थापित करते हुये सहस्रों हिन्दुओं को मुसलमान बना लिया। सन् १ २५ में उसने बड़ी भीषण शक्ति को उपहीत करके अजमेर हाते हुए सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। अनेक दिनों तक युद्ध चलता रहा पर अन्ततोगत्वा मूर्ति उपासक हिन्दुओं की पराजय हुई और महमूद गजनवी को प्रचुर सम्पत्ति और धन प्राप्त हुआ। इस मन्दिर से जितनी धनराशि महमूद का मिली उतनी सम्भवतः कभी न मिली होगी। लाल हीरे और जवाहरातों के ढेर के ढेर उसके पैरों पर कंकड़ों के समान बिखरे पड़े थे। सोमनाथ को लूटने के बाद भट्टी के राजपूतों पर आक्रमण किया और अन्तिम रूप से जाटों का पराजित किया। इस प्रकार महमूद ने सत्रह आक्रमणों के द्वारा भारतीय जनता के आर्थिक जीवन का खोखला सामाजिक जीवन को चेतना विहीन और राजनैतिक जीवन को निष्प्रभ बना दिया। महमूद प्रत्येक बार विनाश का सन्देश लेकर देश के क्षितिज पर छा गया था और प्रत्येक बार भीषण गर्जन के साथ उसने विनाशकारी उल्का को देश पर मनमाने रूप में बरसाने में कोई प्रयत्न अवशिष्ट न रखा।

महमूद गजनवी के अनन्तर मोहम्मद गोरी के रूप में प्रचण्ड सूर्य भारतवर्ष के क्षितिज पर चमकने लगा। सन् ११७५ ई० में उसने मुल्तान को जीत लिया। इसके बाद गुजरात पर आक्रमण किया। यद्यपि नैरवाल के राजा भीमदेव के हाथों वह बुरी तरह पराजित हुआ तथापि वह हतोत्साहित न हुआ। सन् ११८३ ई० में उसने खुसरो को मार कर पंजाब और सिन्ध पर अधिकार कर लिया। सन् ११९१ में उसने तराईन पर आक्रमण किया। सन् ११९१ में तराइन के द्वितीय युद्ध में उसने महाराज पृथ्वीराज को पराजित किया। पृथ्वीराज की पराजय से राजपूतों के हौसले पस्त हो गये। मुसलमानों ने अजमेर दिल्ली और हांसी पर भी सरलता के साथ विजय प्राप्त कर ली। सन् ११९४ में कन्नौज भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। कालान्तर में उसने बिहार बंगाल आदि पर भी अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर लिया। मोहम्मद गोरी ने हर प्रकार से भारतीय जनता को निर्बल बनाने का प्रयत्न किया। मोहम्मद गोरी ने अपनी विनाशकारी प्रवृत्ति के द्वारा भारतवर्ष की चिरकालीन संस्कृति की उन्नति में बाधा उपस्थित कर दी।

गोरी के अनन्तर गुलाम-वंश का उदय होता है। कुतुबुद्दीन ने सन् १ ६ में १२१ तक राज्य किया। परन्तु इस अल्प समय में ही उसे निरन्तर लड़ाइयाँ करनी पड़ीं। गुलाम वंश के राज्य काल में ही चंगेज खां का भीषण आक्रमण सन् १२२ में हुआ। चंगेज खां अपनी बर्बरता भीषणता और कठोरता के लिये इतिहास में प्रसिद्ध है। उसने जिधर भी कूच किया विनाश स्वतः समुत्पन्न हो गया। जनता इतनी सन्त्रस्त थी कि चंगेज खां का नाम सुनते ही बच्चे भी रोना बन्द कर देते थे। इस समय जन जीवन विषम बनता जा रहा था। उत्पीड़न की कोई सीमा नहीं थी।

इस प्रकार इस्लामी पताका धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ती गई और हिन्दू शक्ति की एकता अपनी अन्तिम चमक दिखाकर बुझ गई। अन्ततोगत्वा देश की फूट से लाभ उठाकर इस्लामी पताका ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। सन् १२ ६ से लेकर सन् १२९ तक गुलाम-वंश ने भारत पर शासन किया। गुलाम-वंश के शासकों में बलबन बहुत ही कठोर शासक था। उसने रक्त तथा तलवार के बल पर शासन किया। यथार्थवादी होने के कारण वह युग की आवश्यकताओं को भी भली प्रकार जानता था। गुलाम-वंश के पश्चात् खिल्जी-वंश की सल्तनत हुई। उसका प्रमुख शासक अलाउद्दीन बहुत ही अत्याचारी था व्यक्तिगत समृद्धि को रोकने के लिये सुल्तान ने लोगों की शक्ति का अपहरण करने की नीति अपनाई तथा घोषणा करवाई कि 'हिन्दू लोगों तब तक विनम्र और आज्ञाकारी नहीं होंगे जब तक उन्हें पूर्णतया दरिद्र नहीं बना दिया जायगा।[१] किन्तु इतिहास के पृष्ठों से यह ज्ञात हो जाता है कि उसकी सम्पूर्ण नीति ही इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि कोई भी अधिक धन एकत्र न कर सके। उस युग को देखते हुये उसकी यह नीति साहसपूर्ण एवं क्रान्तिकारी थी। यद्यपि हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार धर्मान्धतापूर्ण ही था तथापि उसने इस्लाम के धर्माधिकारियों के सामने सर नहीं झुकाया उसने घोषणा की

मैं यह नहीं जानता कि यह नियमानुकूल है अथवा नियम विरुद्ध है मैं जो कुछ राज्य के लिये हितकर तथा परिस्थिति विशेष के लिये उपयुक्त समझता हूं उसी के करने के लिये आज्ञा जारी करता हूं और आने वाले न्याय के दिन मेरा क्या होगा यह मैं नहीं जानता।[२]

अलाउद्दीन न धर्माधिकारियों के ऊपर जो प्रभुत्व स्थापित किया उससे केवल मुस्लिम साम्राज्य की नींव ही न दृढ़ हुई वरन् वह इस बात का भी द्योतक है कि सुल्तानो का राजनैतिक दृष्टिकोण दिन प्रति-दिन अधिक धर्म निरपेक्ष होता जा रहा था। अलाउद्दीन हिन्दुओं के उत्पीड़क के रूप में प्रसिद्ध है। उसने देवगिरि तथा दौलताबाद पर सन् १२९६ में आक्रमण किया और बेशुमार धन उसके हाथ लगा। अलाउद्दीन के राज्यकाल में मुगलों ने अनेक बार आक्रमण करके देश की शान्ति और व्यवस्था को भंग किया। सन् १२९ में मुगलों के सरदार कुतुलुग ख्वाजा ने अनेक देश जीत कर दिल्ली पर आक्रमण किया। कहा जाता है कि मुगलों के इस आक्रमण के कारण दिल्ली शरणार्थियों से भर गई थी और देश में भुखमरी की परिस्थिति समुत्पन्न हो गई थी। सन् १३ ३ ई में उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। इसके अनन्तर उसने दक्षिणी भारत के अनेक हिन्दू राज्यों पर आक्रमण किया। देवगिरी वारंगल होयासेल पाण्ड्य तथा चेरवंशीय राज्यों को पराजित करता हुआ उसने अपने वैभव का विस्तार किया।

---

१ भा मे मु शासन का इतिहास एस आर शर्मा पृष्ठ ११५।
२ भा में मु शासन का इतिहास एस आर शर्मा पृष्ठ २ ।

खिलजी वंश के पश्चात् तुगलक वंश के हाथों में दिल्ली की सत्ता आई। मुहम्मद तुगलक अलाउद्दीन से भी साहसी था हृदय से बुद्धिवादी होने के कारण नवीन प्रयोगों में उसे रुचि थी। उसने हर एसी चीज की जड़ों पर प्रहार किया जो पुरातन होने के कारण सड़-गल चकी थी। परन्तु हम देखते हैं कि उसका शासन काल असफलताओं की एक करुण कहानी मात्र ही रह गया। मुहम्मद तुगलक के पश्चात् फिरोज तुगलक गद्दी पर बैठा। उसने हिन्दुओं तथा गैर सनातनी मुसलमानों के प्रति धार्मिक कट्टरता का व्यवहार किया। यद्यपि कि वह हिन्दू माता का पुत्र था।[१] वह उल्माओं के आदेशानुसार ही शासन व्यवस्था का संचालन करता था। उसने आत्मकथा में स्वयं ही स्वीकार किया है

मैंने काफिर प्रजा को पैगम्बर का धर्म अंगीकार करने के लिये प्रेरित किया और घोषणा की कि जो भी व्यक्ति कलमा पढ़ेगा उसे जजिया से मुक्त कर दिया जायगा। यह समाचार सामान्य जनता के कानों मे पहुँचा बड़ी संख्या में हिन्दू एकत्र हुये और उन्हें मुसलमान होने का सम्मान प्रदान किया गया। इस प्रकार दिन प्रति दिन हर दिशा से हिन्दू आते रहे और इस्लाम अंगीकार कर लेने पर उन्हें जजिया से मुक्त कर दिया गया और भेंट तथा सम्मान देकर अनुगृहीत किया गया।[२]

फिरोज के उत्तराधिकारी विलासी तथा अयोग्य निकले और तुगलक-वंश के अन्तिम तथा शक्तिहीन शासक महमूद के समय में तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण किया। तुगलक-वंश की रही-सही प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गई। तैमूर का भारत पर आक्रमण करने का लक्ष्य उसके निम्नलिखित कथन से प्रकट होता है। उसने कहा कि—

भारत पर आक्रमण करने का मेरा उद्देश्य काफिरों के विरुद्ध युद्ध करना है पैगम्बर की आज्ञानुसार उन्हें सच्चा धर्म (इस्लाम) स्वीकार करने के लिये बाध्य करना बहुदेववाद तथा अन्ध-विश्वास से मुक्त करके पवित्र करना तथा मन्दिरों और मूर्तियों का उन्मूलन करना जिससे हम धर्म तथा ईश्वर के समर्थक और सैनिक बन कर गाजी तथा मुजाहिद का पद प्राप्त करेंगे।[३]

तैमूर ने अपने सैनिकों की बौछार उसी प्रकार भारत पर कर दी जिस प्रकार मेघ जल बरसाते हैं। पंजाब प्रान्तों को दिल्ली तक उसने उजाड़ दिया। मार्ग मे वह अटक मुल्तान दिपालपुर भटनेर आदि स्थानों से होकर गुजरा और अपने पीछे अराजकता और दुर्भिक्ष को छोड़ता चला गया। एलफिन्सटन के मतानुसार पांच दिन तक भीषण नर-संहार होता रहा और तैमूर लूट तथा अग्निकांड का मूक दर्शक बना रहा।[४] जब सेनायें थक गई तथा लूट के लिये कुछ भी न बचा तब उसने कूच करने की आज्ञा दे दी। मार्ग मे हजारों काफिरों को नरक की आग मे झोंका गया।

---

१ भा में मु शासन का इतिहास एस आर शर्मा पृष्ठ १४८।
२ भा मे मु शासन का इतिहास एस आर. शर्मा पृष्ठ २७२।
३ भा मे मु शासन का इतिहास एस आर.शर्मा पृष्ठ १९८।
४ ए न्यू हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ १२ ।

इतिहासकारों ने तैमूर के आक्रमण की भयानकता और विनाशकारिता का उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है। कहा जाता है कि तैमूर के आक्रमण के अनन्तर देश मे चारो ओर विनाश भुखमरी अकाल और ह्रास के दृश्य समुपस्थित हो गये। भुखमरी और गरीबी के कारण लोगों को कई-कई दिन तक भूखे रह जाना पड़ता था। हजारों की संख्या म लोग मरण गए। खेती विनष्ट हो जाने के कारण जानवरो को भी चारा नसीब नही होता था।

इस ईश्वरीय प्रकोप' के भारतीय क्षितिज क उस पार अन्तर्धान हो जाने पर भी देश को धन जन मान तथा धर्म की अपार क्षति सहनी पड़ी। तुगलक-वंश नष्ट हो गया पर मुस्लिम सत्ता का विकास नही रुका। विरस के शब्दों में परसत्ता अपहरण पर आधारित मुसलमानों की मौलिक नीति म कोई रुकावट नही पड़ी।[१]

कुछ वर्षों तक राजधानी पर वजीर इकबाल खाँ का अधिकार रहा फिर सल्तनत लोदी वंश के हाथ मे आई। बहलोल लोदी के पश्चात् उसका तीसरा पुत्र सिकन्दर शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। यह एक हिन्दू सुनार स्त्री का पुत्र था। परन्तु फिर भी उसे हिन्दुओं से घृणा थी। इतिहासकार एलफिन्सटन' ने इसकी गणना इने गिने मन्द धार्मिको में की है जिन्होने मन्दिरो और हिन्दुओं से विजित नगरो को ध्वस्त किया था। धर्म-यात्रा तथा व्यवहारों मे पवित्र नदियो मे स्नान तक का निषेध कर दिया। एक बार एक ब्राह्मण के यह कह देने पर कि सभी धर्म यदि सत्यतापूर्वक पालन किये जायें तो ईश्वर ग्राह्य हैं' मरवा डाला था।[३]

सत कबीर दास जी को सिकन्दर लोदी का समकालीन बताया जाता है।[४] कबीर के पदो में भी दो स्थलों पर तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी के अत्याचारों का वर्णन है।[५] काजी द्वारा कबीर पर हाथी चलवाया गया था और जंजीर से बाँध

---

१ इण्डिया ओल्ड ऐण्ड न्यू पृष्ठ ५ ।

२ भा मे मु शासन का इतिहास एस आर शर्मा—पृष्ठ १६२।

३ ए न्यू हिस्ट्री आफ इण्डिया पृष्ठ ३६१।

४ रेवरेण्ड ईश्वरी प्रसाद तथा रामकुमार वर्मा भी इस मत से सहमत है।
   (1) Kabır and his f llowers Rev Keay *Page* 1
   (२) हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ३३५।
   (३) सत-कबीर पृष्ठ १८।

५ सन्त-कबीर, डा रामकुमार वर्मा
   प्रथम संकेत राग गौड के चतुर्थ पद मे हुआ है और द्वितीय राग भैरव के अठारहवें पद मे।

कर गंगा में डुबाने का प्रयत्न किया गया था।[1] यद्यपि इन पदों में कहीं भी सिकन्दर का नाम नहीं है फिर भी अन्य ग्रन्थों में इस घटना का उल्लेख है कि सिकन्दर ने कैसे कैसे अत्याचार किये थे। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि धर्मान्ध धार्मिकता के कारण कबीर दास जी को भी सिकन्दर लोदी का शिकार बनना पड़ा।

सिकन्दर की शक्ति और महत्वाकांक्षा निःसीम थी। सम्पूर्ण देश का राज्य उसकी इच्छा पर निर्भर था। इसी कारण देश की जनता और विशेष रूप से हिन्दू उसकी कृपा के आकांक्षी बने रहे। इतिहासकार टिटस ने भी लिखा है कि इस्लाम के प्रसार के लिये सिकन्दर ने एक दिन में १५ हिन्दुओं की हत्या करवाई।[2] सिकन्दर की राजनीति पर भी धार्मिक आदर्शों का प्रभाव था। जहाँ भी हिन्दुओं का कोई विद्रोह होता वहाँ उन्हें दमन करने के साथ ही साथ वह उनके मन्दिरों को भी नष्ट करा देता था और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करवाता था।[3]

लोदी-वंश के अन्तिम शासक इब्राहीम लोदी के साथ बाबर का प्रथम पानीपत का युद्ध हुआ और मुगलवंश की स्थापना हुई। इस युद्ध में बाबर ने भी काफिरों के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) की घोषणा की थी। अपने कट्टर अनुयायियों को प्रसन्न करने के लिए वह हिन्दुओं को मार डालता था और उनके सिरों के ढेर के ढेर लगा देता था।[4]

बाबर के पश्चात् हुमायूं शासक हुआ परन्तु शेरशाह ने युद्ध में हुमायूं को पराजित किया और स्वयं शासक बन बैठा। शेरशाह की गणना भारतीय इतिहास के सबसे असाधारण शासकों में होती है। वह प्रथम मुसलमान शासक था जिसने अपनी प्रजा के हित का विचार किया। उसमें यह समझने की प्रतिभा थी कि सरकार को सर्वप्रिय बनाया जाय। राजा को प्रजा के कल्याण के लिए शासन करना चाहिये। इसी कारण उसने न्याय तथा सहिष्णुता की नीति द्वारा हिन्दुओं को प्रसन्न रखा।

---

१ (१) रे महावत तुझु बारउ काटि
इसहि तुराबहु मारहु साटि
हसती न तोरै धरै धिआनु
वाके रिदै बसै भगवानु।

(२) गंग गुसाइनि गहिर गंभीर
जंजीर बांधि करि खरे कबीर
मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ
चरन कमल चितु रहिओ समाइ।

२ Indian Islam P. 12

३ संत दर्शन डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृष्ठ १६७।

४ भा० में मु० शासन का इतिहास एस० आर० शर्मा पृष्ठ १६२।

एक भी कौम का कथन है "सच्चा मुसलमान होते हुये भी उसने अपनी हिन्दू प्रजा का कभी उत्पीड़न नहीं किया।"[१]

शेरशाह का अल्पकालीन शासन सुख और शान्ति से पूर्ण था। इसकी शासन व्यवस्था न्याय पद्धति एवं राजनीति भी उच्च कोटि की थी। दीर्घकालीन अशान्ति के बाद शान्ति एवं किंचित सुख की स्थापना ने वैमनस्य को विस्मृत करने में सहायता दी। जायसी इसी काल के प्रमुख सूफी कवि हैं। जिनके काव्य में अत्यधिक सहृदयता का परिचय मिलता है।

शेरशाह के उत्तराधिकारी योग्य न थे। परिस्थितियों के फलस्वरूप हुमायूँ फिर दिल्ली के तख्त का शासक बन बैठा। हुमायूँ के पश्चात् उसका पुत्र अकबर शासक हुआ उसने हिन्दू राजपूत स्त्रियों से विवाह किया और योग्य हिन्दू विद्वानों को भी राज्य में उच्च पद देना प्रारम्भ किया। वह हिन्दू धर्म का आदर करता था और हिन्दुओं के पौराणिक ग्रन्थों को फारसी में अनूदित करने की आज्ञा भी दे दी थी।

सुन्दरदास ने अपने धार्मिक-ग्रन्थ 'परिचयी' में अकबर की नीति का उल्लेख किया है

"तीस बरस तक अकबर रहा
तिन साधुन सो कुछ न कहा"[२]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर ने उदारता की नीति का अनुसरण किया था। सन् १५६४ में उसने हिन्दुओं से वसूल होने वाले कर बन्द कर दिये जिससे हिन्दू और मुसलमान प्रजा में कोई भेद नहीं रह गया। अन्तःपुर में हिन्दू रानियाँ मूर्ति-पूजा व्रत तथा दान आदि करती थीं। अपने अपने धर्म मानने के लिए सभी स्वतंत्र थे।

अकबर ने अपने साम्राज्य में एक ऐसे शासन की नींव डाली जो किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी विशिष्ट वर्ग का न होकर सब जातियों व धर्मों का सम्मिलित शासन था।

इसके पश्चात् जहाँगीर शासक हुआ। जहाँगीर की धार्मिक-नीति अकबर के ही समान थी। परन्तु वह मुसलमानों के प्रति कुछ पक्षपात पूर्ण थी।[४] धर्म के ग्रहण व परित्याग के विषय में वह अकबर के समान उदार न था। इस्लाम को स्वीकार करने

---

१ भा मे मु शासन का इतिहास एस आर. शर्मा पृष्ठ ११९।

A tudy f the Philosoph cal i y of Malukd Sundar Das and Ch ra Das

By—D T N Dikshit (D Litt. Thesis)

३ भा मे मु शासन का इतिहास एस आर शर्मा पृष्ठ ८८१

4. R ligi u P lic f M ghal Emperors Page 70

d

H t f J ha gi —By Banarsi Prasad Pag 259

वाले को वह राज्य-कोष से आर्थिक वृत्तियाँ देता था साथ ही उनका सम्मान भी अधिक होता था। परन्तु हिन्दू-मन्दिर आदि पूर्ववत् ही बनाये जाते थे। यद्यपि जहाँगीर ने अपने पिता की नीति का अनुसरण किया तथापि उसकी नीति अपने पिता की अपेक्षा संकुचित हो गयी।[१]

सन् १६२६ में जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ सिंहासनारूढ़ हुआ। सिकन्दर लोदी तथा फिरोज तुगलक की भाँति वह भी हिन्दू-माता का पुत्र था और उन्ही के समान इस्लाम का पक्षपाती भी था। राजपूत स्त्री का पुत्र होते हुए भी वह हिन्दू-धर्म से किंचित मात्र भी प्रभावित नहीं था।[२] सन् १६३५ ई० में शाहजहाँ ने अपने को इस्लाम के विरोधियों का विनाशकारी उद्घोषित किया।[३] उसने राज्य के उच्च-पद मुसलमानों के लिए सुरक्षित रखे और हिन्दू-तीर्थ यात्रियों पर कर लगा दिये। उसकी यह नीति देख कर मुसलमान कर्मचारियों ने भी हिन्दुओं को उत्पीड़ित करना आरम्भ कर दिया।[४] उसने जुझार सिंह तथा उसके परिवार को मुसलमान बना लिया तथा हिन्दुओं के सामाजिक-जीवन में नाना प्रकार के कष्ट उत्पन्न कर दिये।[५]

फिर भी शाहजहाँ गरीबों पर दया करता था।[६] शाहजहाँ और जहाँगीर की उदारता के ही कारण मुगल-साम्राज्य का वह राष्ट्रीय रूप जो कि अकबर ने बनाया था स्थिर रह सका।

शाहजहाँ को कैद कर औरंगजेब दिल्ली सल्तनत का शासक बना तो उसकी नीति अकबर जहाँगीर तथा शाहजहाँ से नितान्त भिन्न थी। वह इस्लाम का कट्टर

---

१ In short Jahangir ordinarily continued Akbar's toleration. He experimented in simultaneous maintenance of several religions by the State with all this Jahangir sometime acted as protector of true faith departures however slight from Akbar's wide outlook had thus begun.

—The Religious Policy of Moughal Emperors, Page 90

२ The Religious Policy of Moughal Emperors Page 94

३ The Religious Policy of Moughal Emperors, Page 96–97

४ History of Shahjahan
—By Dr Banarsi Prasad Page 89–90

५ History of Shahjahan—By Dr Banarsi Prasad Page 89

६ "शाहजहाँ जिनके सुत राजा
तिन फिर बहुत गरीब नेवाजा।
Philosophical views of Malukdas Sundar Das and Charan Das. —By Dr T N Dikshit

अनुयायी था इस कारण इस्लाम के कथित नियमों के अनुसार ही आचरण करता था।[1] राजगद्दी पर बैठते ही उसने सर्वत्र हिन्दुओं का उत्पीड़न आरम्भ कर दिया और विचार पूर्वक एक धार्मिक नीति बनाई।

राज्य में प्रचलित हिन्दू प्रथाओं और राज्यपदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति ही बंद कर दी। सन् १७ २ में उसने फौज से भी हिन्दुओं को हटा दिया।[3]

सारांश में अब हम उन शासन-सूत्रों को स्पष्ट करेंगे जो कि औरंगजेब ने इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार किये थे।

(१) हिन्दुओं पर फिर से जजिया कर लगाया गया।
(२) हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने की आज्ञा दी गई।
(३) व्यापार व्यवसाय आदि में हिन्दू मुसलमानों में भेद किया गया।
(४) इस्लाम की दीक्षा लेने वालों को उच्च पद दिये जाते थे तथा सम्मान होता था।
(५) हिन्दू लोग सार्वजनिक रूप से त्योहार आदि नहीं मना सकते थे।
(६) उच्च पदों से हिन्दुओं को हटा दिया गया।
(७) उन हिन्दू रीति-रिवाजों को बन्द कर दिया जो कि दिल्ली दरबार में प्रचलित हो गये थे।

औरंगजेब की इस विरोधी नीति का परिणाम मुगल-साम्राज्य के लिये हानिकर हुआ। उसकी इस दमनकारी नीति की प्रतिक्रिया सिक्खों में विशेष रूप से देखने में

---

१ 'शाहजहाँ सुत औरंगजेबा
चले स्वधर्म कुरान कथा। परिचयी सधुरादास पृष्ठ १६।
श्री राम शर्मा ने भी लिखा है —

H was a Muslim King and t seemed to him unreasonabl not to govern country according to his Interpretations of injuc tions of Quran and traditions

The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 152

२ शाहजहाँ पातसाह जब मुआ
तंद देस मे बहु दिस हुआ
औरंगजेब ताहि सुत एका
बैठ राज तिन कियो विवेका।

(परिचयी सधुरादास—पृष्ठ १७)
—सुन्दर-दर्शन
डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित
पी-एच डी डी लिट —पृष्ठ ७।

3 Religious Policy of Moughal Emperors—P g 135.

मिलती है। गुरु तेगबहादुर को बन्दी बनाकर प्राणदंड देना उसकी धार्मिक संकीर्णता का एक ज्वलंत उदाहरण है।[1]

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में राज्य प्राप्ति के लिए गृह कलह हुई और बहादुरशाह ने अपने पराक्रम से राजसत्ता प्राप्त कर ली। उसके राज्य-काल में पांच वर्षों तक सिक्खों के साथ युद्ध ही चलता रहा।[2]

बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् सन् १७१२ से सात वर्ष तक निरंतर संघर्ष होता रहा और बाद में मुहम्मदशाह सिंहासनारूढ़ हुआ। सन् १७३९ में पर्शिया के शाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। मुहम्मदशाह नादिरशाह का मुकाबला करने में असमर्थ रहा और मुगल सेना को परास्त कर नादिरशाह ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया और कत्लेआम का हुक्म दे दिया। उसके आक्रमण से मुगलों की रही-सही शक्ति भी क्षीण हो गई। मराठों, राजपूतों और सिक्खों ने उसको पहले ही खोखला बना दिया था इसके पश्चात् जो मुगल बादशाह हुए वे केवल नाम मात्र के लिये ही थे।

सन् १७४३ में मराठों ने मालवा पर विजय प्राप्त की और सन् १७५१ में उड़ीसा और बंगाल उनके आधीन हो गया। अहमदशाह दुर्रानी ने भी भारतवर्ष पर चार आक्रमण किये और चतुर्थ आक्रमण में मराठे पराजित हो गये।

इसी समय भारत में एक अन्य विदेशी जाति जो कि समुद्र के मार्ग से भारत में आई थी अपनी शक्ति का विस्तार कर रही थी। मुगल सल्तनत तो शनैः-शनैः समाप्त हो ही चुकी थी। मराठों के शक्तिहीन होते ही अंग्रेजी जाति की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी और इधर मुगलों का नामनिशान भी मिटने लगा। अंग्रेजों ने अपना राज्य धीरे-धीरे दृढ़ एवं सुव्यवस्थित कर लिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकार बढ़ते चले गए। पिसती हुई जनता को कुछ सांस लेने का अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु फिर भी दमन था। हाँ ही राजा या रानी का कनिष्ठ पुत्र गवर्नर सुख-चैन छीनने का प्रयत्न करते ही रहे। सन् १७७४ से १७८२ तक गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्स ने कम्पनी की नीति को कार्यान्वित किया।

इस प्रकार इन ५ वर्षों में भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थितियों का जो विश्लेषण किया गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि यह समय भारतवर्ष के लिए संकट का समय था। राजनीतिक परिस्थितियां बड़ी तीव्रता के साथ बदलती जा रही थीं। भविष्य के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक किसी प्रकार की धारणा स्थापित करना इस युग में असम्भव था। दिल्ली के राजसिंहासन पर एक के बाद दूसरा राजपरिवार आया कतिपय दिन वैभव और ऐश्वर्य का प्रदर्शन करके वह भी अनिश्चित परिस्थितियों में अपनी जीवन-लीला को समाप्त करके विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया और सिंहासन का स्थान दूसरे राजपरिवार के हेतु रिक्त कर गया। इस प्रकार की

---

1 Religious Policy of Moughal Emperors—Page 166

2 Later Moughal by william Horvin—Page 73 115.

वर्षों में अनेक बार विभिन्न राजपरिवारों के ऐश्वर्य के सूर्य उदय और अस्त हुये परन्तु दुर्भाग्य यह कि उनमें से कोई भी चिरस्थायी न रहा। प्रत्येक राजपरिवार अपने प्रयोगों के माध्यम से नई-नई मान्यताओं को संस्थापित करता और पुन वे मान्यतायें उन्हीं के जीवनकाल में बालू की भीत्ति के समान स्वत ढह जाती। प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर इस युग के राजनैतिक महापुरुषों ने अपनी नीति को संचालित किया।

सारांश मे सन ११ से १८ की राजनीतिक परिस्थितियों को प्रतिहिंसा प्रतिकार प्रतिशोध विश्वासघात विघटन विच्छेद विनाश और अविश्वास आदि शब्दो माध्यम से व्यक्त किया जाय तो असंगत न होगा।

हमारे निर्गुन-सन्त-कवियों के हृदय तथा मस्तिष्क पर इस अशान्ति तथा कोलाहल की छाप पड़ी। तत्कालीन वातुलिक अशान्ति से वे व्यथित हो चुके थे। इसी कारण निर्गुन-सन्त-कवियो ने यह आवश्यक समझा कि जातियों के भेदभाव को दूर कर दिया जाय और मानव का मानव के प्रति क्या कर्तव्य है इस ओर ध्यान दिया जाय। उन्होंने क्षमा दया सहनशीलता विश्वबन्धुत्व एव प्रेम आदि के उपदेश देकर जनता को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा की।

सामाजिक परिस्थितियाँ

समाज जनता की समष्टि का दूसरा नाम है। समाज जन-जीवन के व्यापक समूह का पर्याय है। समाज जन-जीवन के साथ उत्थान और विनाश के मार्ग पर अग्रसर होता है। जब जन-जीवन उन्नत होता है तो समाज स्वत उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर होता है, अन्यथा जन-जीवन की समस्त प्रतिक्रियाओं को वह आत्म-सात करके तदनुसार रूप ग्रहण करता है। जन-जीवन को प्रभावित करने वाले अनेक तत्त्व होते हैं। जन-जीवन देश एवं काल की परिस्थितियों से बहुत अंशों में प्रभावित होता रहता है। जैसी देश और काल की परिस्थितिया होती हैं, तदनुकूल जन-जीवन का स्वरूप स्वत सवर जाता है और विकृत होता है। जन-जीवन की प्रतिछाया समाज पर अनिवार्य रूप से पड़ती है और पड़नी भी चाहिये।

जन-जीवन समाज और देश काल की परिस्थितियों मे बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। तीनों एक दूसरे पर निर्भर और आश्रित है। तेरहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक राजनैतिक परिस्थितियाँ कैसी थी यह विगत पृष्ठो से स्पष्ट हो जायगा। सम्पूर्ण पाच सौ वर्षों तक देश की दशा अस्थिर बनी रही। उत्तर-पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के कारण इन पाँच-सौ वर्षों में जनता और देश की परिस्थितियाँ अनिश्चित बनी रही। इन-पाच सौ वर्षों मे जैसे राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितिया विकृत बनी रही वैसे ही सामाजिक परिस्थितियाँ भी ह्रासमान रही। बाहर से होने वाले आक्रमणों के कारण समाज इन लम्बे पाच सौ-वर्षों मे अत्यधिक विकृत और विषम बनगया था। जन-जीवन उत्पीड़ित-व्यथाओं और शोषण की व्यापक कवच वाला बनगया था।

भारतवर्ष पर सर्वप्रथम मुहम्मद बिन कासिम ने भयानक आक्रमण किया था जिसका उल्लेख राजनीतिक परिस्थितियों के साथ हो चुका है तब से लेकर ईस्टइण्डिया कम्पनी के स्थापना काल तक भारतीय जनता उत्तर-पूर्व से होने वाले आक्रमणों से निरन्तर पीड़ित रही। इसीलिये इन पांच-सौ वर्षों में भारतीय-समाज की दशा बड़ी ही शोचनीय बनी रही।

मध्य-युग में भारतीय-समाज अनेक अभिशापों से ग्रस्त था। समाज के नैतिक नियंत्रण ढीले पड़ चुके थे जिससे उच्छृंखलता अधिक बढ़ गई थी। मुसलमानों ने धर्म और राज्य का प्रसार तलवार के बल पर किया था। अतः हिन्दुओं के हृदय में शासक धर्म के प्रति एक भय की भावना सदैव बनी रहती थी। उनके मस्तिष्क में निरन्तर विरोधी भावनायें उठा करती थी और साथ ही धर्म के प्रति विश्वास भी नहीं रह गया था। सल्तनत-काल के समाज में केवल राजाओं की इच्छा ही सब कुछ हो गया। था। दंड का कोई विधान भी नहीं था। जो इच्छा उत्पन्न हुई वह पूर्ण होनी चाहिये। राज्य प्राप्ति के लिये बुरे से बुरे कर्म करना भी उनकी दृष्टि में ठीक था। साथ ही धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों ने देश की दशा को और भी अधिक शोचनीय बना दी थी। राजशक्ति को खो देने के कारण हिन्दू-जीवन से उत्साह और उमंग का सर्वथा लोप हो चुका था साथ ही धन धर्म तथा सम्मान भी सुरक्षित था।

मुसलमान हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देखते थे। अपनी विरोधी प्रकृतियों के कारण हिन्दू और मुसलमान एक न हो सके। एक एकेश्वरवादी था तो दूसरा मूर्ति पूजक। एक वर्णाश्रम के प्रति आस्था रखता था तो दूसरा 'बिरादराने इस्लाम' का नारा लगाता था। एक भाव के मातृत्व रूप का उपासक था तो दूसरा उसके अस्थि चर्म का ग्राहक था। इस प्रकार मध्यकालीन समाज हिन्दू और मुसलमान दो वर्गों में विभाजित था। अब हम इन दोनों वर्गों का अलग-अलग अध्ययन करेंगे।

मुसलमानी-समाज

मध्य-युग में बादशाह से लेकर सामन्तों तक का जीवन विलासिता तथा वासना से परिपूर्ण था। प्रजा की गाढ़ी कमाई का धन हजारों की संख्या में रहने वाली रानियों की सन्तानों और राजदरबार में रहने वाले कलाकार कवि संगीतज्ञ चित्रकार मूर्तिकार आदि पर व्यय किया जाता था। साथ ही भव्य भवन क्रीड़ा-उपवन सिंहासन राज-महलों की सजावट आदि पर भी धन-व्यय किया जाता था। प्रजा की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया जाता था। जिसके फलस्वरूप साधारण सैनिक भी जीवन में विलास और वैभव की आकांक्षा रखता था।[1] सर्व-साधारण मुसलमानों के लिये खानकाह खुले थे। जिनमें भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का वितरण होता था। इस स्थिति में तो मुसलमानों को कृषि या शिल्प आदि करने

---

१ मध्य युग का संक्षिप्त इतिहास डा० ईश्वरी प्रसाद पृष्ठ २११।

की भी आवश्यकता नहीं थी। योग्य मुसलमान शासक-वर्ग मे सम्मिलित हो जाता था और अयोग्य शासकाहों के सहारे जीवन व्यतीत कर लेता था। जीविका के लिये किसी भी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता न थी। इसी कारण विलासिता और आलस्य मुस्लिम-समाज की प्रधान विशेषता बन गई।[1]

विश्व-बन्धुत्व व सामाजिक समता की ओर ध्यान दिलाने वाले मुसलमानों म भी शेख सैयद मुगल और पठान आदि भिन्न-भिन्न वर्ग के लोग थे। साथ ही ऊँच-नीच भावना का लोप भी न हो सका था। शिया सुन्नी का भेद भाव बहुत ही गहरा था जिसके कारण कभी-कभी आपस म संघर्ष भी हो जाता था। निम्न-वर्ग का मुसलमान भी उच्च वर्ग की अपेक्षा असम्मानित था।[2]

मुसलमानों में दास प्रथा का भी प्रचलन था सहस्रो व्यक्ति दास बना कर बेच दिये जाते थे। मुसलमान धर्म स्वीकार कर लेने पर भी उनके साथ समानता और सौहार्द का व्यवहार नहीं होता था। यद्यपि कुछ दासों ने उन्नति भी की परन्तु सामान्यत दास के जीवन में सहानुभूति और शुभ-कामना की प्राप्ति नहीं के बराबर थी। राजकीय दासों की संख्या प्राय अधिक हुआ करती थी।[3]

मध्य-युग मे सामन्तो मनसबदारो या धनी-मानी व्यक्तियो के वैभव का अनुमान दास-दासियों की संख्या पर निर्भर था। जिस व्यक्ति के पास जितने ही दास होते वे वह उतना ही धनी समझा जाता था। इन दास-दासियों का जीवन बड़ा दुःखमय और घृणित था। दासो को भाँति भाँति से उत्पीड़ित किया जाता था। कठोर परिश्रम के अनन्तर उनको इतना भोजन दिया जाता था जो उनको जीवित रखने मात्र के लिए पर्याप्त होता था। दासियो का जीवन दासो की तुलना में और भी हीन था। वे काम क्रीड़ा को शान्त करने की साधन भी मानी जाती थी। इस प्रकार इनके द्वारा व्यभिचार का प्रसार और प्रचार होता था।

मध्य-युग मे हरम को अधिक से अधिक संख्या म विलासिनाओं से सुशोभित रखने की प्रथा प्रचलित थी। ये विलासिनाएँ शासकों सम्राटों और श्रीमानों की काम क्रीडा मे उसी समय तक भाग लेती थी जब तक उससे अधिक सुन्दरी सम्राट या श्रीमान् को दृष्टिगत नहीं होती थी। आइन-ए-अकबरी से प्रकट होता है कि अकबर के हरम मे ५ से अधिक सुन्दरियां विद्यमान थी। औरंगजेब इसका अपवाद था। परन्तु परवर्ती युगमो मे यह दोष व्यापक रूप से विद्यमान था। उच्च-वर्ग के लोग वेश्याओ और सुन्दर नर्तकियों द्वारा अपना मन-बहलाव करते थे।

मध्य-युग म राजकुमारो का व्यवहार और अदब की शिक्षा वेश्याओ के घरो म

---

१ भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास श्री सत्यकेतु विद्यालंकार पृष्ठ ६ ६।

२ मध्य युग का संक्षिप्त इतिहास डा ईश्वरी प्रसाद पृष्ठ २१७।

3 An Ad anced History f India –
By Dutta Chawdhari and others.—P ge 399.

की जाती थी। इतिहासकारों का कथन है कि इस दोष के कारण-मुगल वंश और उसके भावी कर्मचारों का नैतिक-बल और व्यवहार की दृढ़ता अत्यधिक दुर्बल और हीन हो गई थी।[1] मध्य-काल के मुसलमान-समाज में मांस-भक्षण की प्रथा प्रचलित थी। मांस के विविध प्रकारों से सजी हुई तश्तरियां भोजन की शोभा और भोजन खिलाने वाले के धनी होने की सूचना देती थी।[2] मांस के साथ मदिरा-पान का भी प्रचलन था।[3] मध्यकालीन मुसलमान-समाज में वेश-भूषा और सजावट पर अधिक ध्यान दिया जाता था। रंग बिरंगे आकर्षक कपड़े पहनने की रिवाज थी।[4] शान शौकत का प्रचलन था रेशम और मलमल पहनना फैशन था। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से आभूषण प्रिय थे।[5]

मध्य-युगीन भारत में जनता का समाज तीन वर्गों में विभाजित था। प्रथम वर्ग वह था जिसमें समाज के उच्च-वर्ग के लोग मनसबदार तथा उच्च राजकर्मचारी सम्मिलित थे। द्वितीय वर्ग में मध्यम श्रेणी के मनुष्यों की गणना होती थी। तृतीय वर्ग में उन लोगों की परिगणना होती थी जो परिश्रम की कमाई पर जीवन के दिन और पेट को भरते रहते थे। इनमें से प्रथम वर्ग या श्रेणी के लोग तत्कालीन शासक धनी-मानी ऐश्वर्य से मंडित वैभव से परिवेष्ठित सौभाग्यशाली व्यक्तियों का अनुकरण कर रहे थे। शराब व्यसन ऐयाशी मांस आदि में पगा[6] हुआ यह वर्ग वेश्याओं के नृत्य तीतर एवं बटेरों की लड़ाई हाथियों और भेड़ों के संघर्ष में अपने मनोरंजन की क्रिया खोजा करता था। यह वर्ग जीवन की कठिनाइयों से दूर, कल्पना-लोक के सुखों में विचरण करता हुआ जीवन को रात्रि के स्वप्न के समान काट दिया करता था। मध्यवर्ती स्थिति के लोगों का वर्ग द्वितीय था। यह वर्ग न उच्च वर्ग के समान सौभाग्य के पालने पर सुख की नींद लेता था और न निम्न-वर्ग के समान दुर्भाग्य से अभिशप्त ही था। इसकी दशा त्रिशंकु की भांति थी। इस वर्ग में उच्च-वर्ग के सभी दोष विद्यमान थे। यह उच्च-वर्ग की नकल करने में ही जीवन को धन्य समझता था। मांस मदिरा और महिला में अनुरक्त होने के कारण यह वर्ग निकम्मा हो गया था।

---

1 A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Ishwari Prasad—Page 653

2 A Short History of Muslim Rule in India.
—By Dr Ishwari Prasad—Page 649

3 A Short History of Muslim Rule in India.
—By Dr Ishwari Prasad—Page 649

4 A Short History of Muslim Rule in India.
—By Dr Ishwari Prasad—Page 649

5 A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Ishwari Prasad—Page 651

6 A Short History of Muslim Rule in India.
—By Dr Ishwari Prasad—Page 449

ध्यम वर्ग के मनोरथ निःसीम, अभिलाषाएं अनन्त और अपेक्षाएं बृहद थी। परन्तु इस वर्ग की आय अत्यल्प एवं सीमित थी। अतः यह वर्ग घूसखोरी,[1] अनाचार, दुराचार एवं भ्रष्टाचार के आधार पर अपने जीवन को व्यतीत कर रहा था। यह वर्ग उच्च वर्ग की भांति विदेशों से आया हुआ सामान प्रयोग करता था।[2] इसी मध्यम-श्रेणी में निम्न-कोटि के राजकर्मचारी भी सम्मिलित थे। तृतीय वर्ग में मजदूर, किसान, कारीगर, कलाकार तथा मेहनत-कश सम्मिलित थे। इस वर्ग का जीवन बड़ा दुःखमय, संघर्षमय और व्यथाओं से ग्रसित था। इस वर्ग की दिन भर की आय इतनी पर्याप्त न होती थी कि वह दोनों पहर भर-पेट खाना खा सकता। इस वर्ग के पास जाड़े के लिये ऊनी वस्त्र न थे।[3] इस वर्ग से बेगार भी जाती थी। यह वर्ग कच्चे छप्पर से ढके हुये मकानों में जीवनयापन करता था।

हिन्दू-सामाजिक-जीवन

हिन्दुओं का समाज वर्णों में विभाजित था : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसमें से प्रथम वर्ण की प्रतिष्ठा समाज में युगों से होती चली आ रही थी और यह वर्ग सम्मानित भी समझा जाता था। यह वर्ग धर्म के नाम पर निम्न-वर्गों का शोषण कर रहा था और स्वयं कर्म एवं चरित्र से भ्रष्ट हो गया था। अध्ययन, अध्यापन, धर्म एवं कर्म को छोड़कर निम्न प्रवृत्तियों में ही संलग्न था। त्याग के ऊंचे आदर्शों को छोड़कर काम, क्रोध, मोह के वशीभूत हो वह नित्य ही नई आसक्तियों का चेरा बना रहता था।

बाह्य-परिस्थितियाँ तो हिन्दुओं के प्रतिकूल थी ही साथ ही हिन्दुत्व की वे त्रुटियां जो कि परम्परा से चली आ रही थीं हिन्दू-मान्यताओं के विपरीत पड़ती थी। जाति-व्यवस्था के कठोर बन्धनों से हिन्दू-निम्न-वर्ग मुक्त होना चाहता था। हिन्दुत्व के पतन का एक बहुत बड़ा कारण यह जाति व्यवस्था ही हुई।

जाति-व्यवस्था के साथ-साथ मूर्ति-पूजा, मनुष्य मात्र का विरोध आदि भी हिन्दुत्व के मुख्य दोष थे।[4] सामाजिक जीवन में जाति-पांति, बाल विवाह, मूर्ति-पूजा, बाह्याडम्बर एवं अन्धविश्वासों के कारण सभ्यता के सभी पहलुओं पर जीर्णता आ गई थी। जिसके कारण उस सभ्यता में प्रगति एवं प्रवाह नहीं था।

---

1. A Short History of Muslim Rule in India.
—By Dr. Banarsi Prasad—Page 65
2. A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr. Banarsi Prasad—Page 651
३. A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr. Banarsi Prasad—Page 651
४. भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, श्री राम शर्मा, पृष्ठ २१।
५. इतिहास प्रवेश, जयचन्द्र विद्यालंकार, पृष्ठ ६५-६६।

साधारणतः हिन्दू-जनता में मूर्ति-पूजा जड़-पूजा के रूप में प्रचलित हो गई थी। साथ ही असाधारण और अलौकिक सिद्धियों की ओर जनता की लिप्सा बढ़ती जा रही थी। पौराणिक ग्रन्थों में अर्थहीन क्रियाकलाप बढ़ गया था। उस रूप में उसका निर्वाह केवल निठल्ले व्यक्तियों के लिये ही रह गया था।[1] इसी प्रकार के ग्रन्थ शूलपाणि उपाध्याय कमलाकर भट्ट नीलकंठ भट्ट आदि ने भी लिखे जिनमें कि हिन्दुत्व का जटिल रूप दिखाई पड़ता है।

परन्तु फिर भी हिन्दुओं ने आत्म-समर्पण नहीं किया था वे समय-समय पर विद्रोह करते ही थे। क्योंकि हिन्दू एवं मुसलमानों में परस्पर मतभेद की जो खाई बन गई थी उसे पाट देना सुगम न था। उधर मुसलमान विजयी होने के कारण अत्याचार भी करते थे जिसके कारण दोनों ही जातियां एक दूसरे के रक्त की प्यासी हो रही थीं। धार्मिकता के नाम पर समाज के मस्तक पर कलंक का टीका लगा हुआ था।

स्थूल-रूप से हम तत्कालीन हिन्दू-समाज को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) राजा एवं धनिक जो अपने रहन-सहन में सुल्तानों की जीवनचर्या से प्रभावित था और धीरे धीरे वीरता के स्थान पर भोग-विलास ऐश्वर्य में ही मग्न था।[2] यह वर्ग चिन्तामुक्त था और जीवन की विलासिता के लिए पराधीन रहने में भी सुख का अनुभव करता था।

(२) वह साधारण जनवर्ग था जो कि किन्हीं कारणोंवश मुस्लिम-समाज में मिलने को बाध्य हो रहा था। यह कारण था जज़िया से मुक्त होना तथा समाज में उच्च स्थान पाना या राजदंड से मुक्त होना।

(३) तीसरे वर्ग में वह पंडित-वर्ग आता है जो समाज की विशृंखलता से भली-भांति परिचित हो चुका था और जाति-पांति कर्म-कांड आदि की रूढ़िवादिता के परिणामों को समझ चुका था। इनका प्रयास एक ओर तो इस विशृंखलता एवं स्तर हीनता की निन्दा करके समाज को उधर से विमुख करना था दूसरी ओर उपासना के क्षेत्र में हरि भक्त की कसौटी रख कर मनुष्य में समानता स्थापित करना चाहता था।

---

१ हेमाद्रि (देवगिरि के अन्तिम राजा यादव का मन्त्री) ने वर्ष भर में २ व्रतों *और अनुष्ठानों का विधान किया है।*

२ पद्माकर का यह छन्द इस राजवर्ग का यथार्थ-चित्र उपस्थित करता है —

'गुलगुली गिलम गलीचा है गुनीजन हैं
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला है।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी सेज है
सुराही है सुरा है और प्याला है॥

तत्कालीन समाज अन्ध-विश्वासों से पूर्ण था। एक ओर देवताओं की प्रसन्नता के लिए बलि दी जाती थी और दूसरी ओर जन्नत प्राप्त करने के लिये काफिरों से युद्ध किये जाते थे। तत्कालीन समाज अन्ध-विश्वासों से अभिशप्त था। यह नरबलि पशु बलि के द्वारा विपत्तियों को टालने में विश्वास करता था।[1] युद्ध में विजयी होने के पश्चात् हिन्दुओं के साथ बुरा व्यवहार भी किया जाता था। इतिहासकार श्रीराम शर्मा ने लिखा है 'तुर्कों ने हिन्दू-समाज के साथ यथा-सामर्थ्य बुरा व्यवहार किया।'[2]

समाज असमान-वितरण असमान सुविधा तथा असमान आर्थिक उपलब्धि के आधार पर निर्मित था। आर्थिक वैषम्य सर्वत्र विद्यमान थे। निम्नलिखित पंक्तियों में समाज की असंगतियों तथा विषमताओं का चित्रस्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है।

एक न पग पनही नहीं एक चढ़े सुख पाल।
यही जो मोहि बताइये एक मुक्ति को नाहि।
यही जो मोहि बताइये एक मुक्ति को जाहि।
एक नरक को जाय करि मार जमों की खाहि॥
एक दुखी एक अति सुखी एक भूप इक रंक।
एकन को विद्या बड़ी एक पढ़े नहिं अंक॥
एकन को मेवा मिलै एक चने भी नाहिं।
कारन कौन दिखाइये करि चरनन की छाँहि॥
यही मोहि समझाइये मन को धोखा जाय।
ह्वै करि निस्सन्देह मैं रहो चरन लिपटाय॥

संत कवि चरनदास डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृष्ठ २

मानव-समाजहीन मनोवृत्तियों में संलग्न था। चारित्रिक-पतन धन-लिप्सा प्रतिकार की भावना दम्भ मिथ्या-अहंकार की भावना दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। शूद्र भी उच्च-पद पाने के अभिलाषी थे दूसरी ओर स्त्रियों की अवस्था हीन होती जाती थी।

नारी की समस्या

मध्य-युगीन नारी का चित्र अत्यन्त हीनता से सम्पन्न है। स्त्री की गणना भी सम्पत्ति के अन्तर्गत होने लगी थी क्योंकि चारित्रिक दृष्टि से मुसलमानों का स्तर गिर हुआ था जिसके फलस्वरूप नित्य ही सुन्दर स्त्रियों/विलासिताओं की प्राप्ति के लिये युद्धों का आयोजन होता था।[3] अपनी स्त्रियों को अपमान से बचाने के लिये बाल-विवाह

---

1 A Short Hist ry of India
— By Dr Ishwari Prasad.—Page 653
२ भा में मु शासन का इतिहास श्री राम शर्मा पृष्ठ २२२।
३ सुन्दर-दर्शन डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृ १७-२।

एवं पर्दे की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी। राजपूतों के यहाँ तो कन्या की हत्या तक कर दी जाती थी। मध्य-युग में नारी का चित्र कामुक वृत्तियों को उभारने वाला ही मिलता है। मद्यपान के साथ तामस की संस्कारों ने विलासी व्यक्तियों को और भी उत्साहित किया और नारी का भोगमय रूप सामने आया।

इन दोषों से मुक्ति प्राप्त कराने के लिये ही संत-कवियों ने काम क्रोध से दूर रह कर दया तथा क्षमा को धारण करने का उपदेश दिया और साथ ही कथनी तथा करनी के साम्य को हमारे सम्मुख लाये। उन्होंने चेतावनियाँ दीं कि अहंकारी वृत्तियों में फंसा मानव केवल मिथ्या बातें करना ही जानता है वह संसार की क्षणभंगुरता की ओर बिल्कुल ही ध्यान नहीं देता है। यह शरीर जो कि बालू की भित्ति के समान एक दिन ढह जायेगा उससे अच्छे कर्म क्यों न किये जांय। वासना की तृप्ति का चेरा ही क्यों बना रहा जाय। इसी कारण संतों ने तत्कालीन जनता को मोह-मिथ्या से दूर रहने का उपदेश दिया अन्यथा मनुष्य की वही गति होगी जो दीपक पर अनुरक्त पतंगे की होती है। इसी कारण मानव को समाज में अपमानित होना पड़ता है। काम मन को विचलित करता है और मन इन्द्रियों को। काम और साधना साथ-साथ नहीं चल सकते। इसी कारण उससे दूर रहने का उपदेश दिया। यों तो हमारे संत कवियों ने नारी के मातृ रूप की एवं पतिव्रत रूप की बारम्बार प्रशंसा भी की है।

इसी प्रकार इन संतो ने यह भी बताया कि ब्राह्मण वही है जो कर्म से पवित्र हो और ब्रह्म के ध्यान में सतत् संलग्न रहता हो जो आत्मविद्या का मनन करता हो काम क्रोध मद मोह आदि से परे हो तथा सत्य-प्रिय और मृदुभाषी हो और उसका हृदय दया से सभी शीतलता प्राप्त करें।[१]

निर्गुण सन्त-कवियों द्वारा किये गये उपदेशों की स्पष्ट रूप से व्याख्या हम दूसरे परिच्छेदों में करेंगे। परन्तु यहाँ पर एक बात बता देना आवश्यक है कि व्यापक और राष्ट्रीय-पैमाने पर सुधार करना किसी पंथ के संस्थापक का कार्य न था। उसके लिए

---

१ ब्राह्मन सो जो ब्रह्म पिछाने
बाहर जाता भीतर आने
पांचो बस करि झूठ न भाखै
दया जनेऊ हिरदै राखै
आतम विद्या पढ़ै पढ़ावै
परमातम का ध्यान लगावै
काम क्रोध मद लोभ न होई
चरन दास कहै ब्राह्मन सोई

'संत कवि चरनदास'—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
पी-एच डी डी लिट् पृ १८

वाले अन्तर्द्वन्द उसे बेचैन कर रहे थे । वह किधर जाय क्या करे क्या न करे उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था । चारों तरफ अन्धकार ही अन्धकार था । नित्य कुचक्र रचे जाते थे ।

इन्हीं परिस्थितियों ने हमारे निर्गुण-सन्त-कवियों की चिन्तन-पद्धति और दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन उत्पन्न किये और उन्होंने समाज को सुचारु रूप से चलाने के उपदेश दिये । काम क्रोध मोह लोभ से दूर मानव को केवल कर्तव्य करने का उपदेश दिया । गृहस्थाश्रम के प्रति सन्तों का क्या दृष्टिकोण था ? यह हम आगे स्पष्ट करेंगे ।

सांस्कृतिक-परिस्थितियाँ

'संस्कृति' शब्द बहुत व्यापक है । यह मानव की चिर-साधना चिर-तपस्या और संयमशीलता की महती देन है । इसी कारण इसका प्रभाव धर्म एवं साहित्य दोनों पर ही पड़ता है । स्थूलरूप से यह भी कहा जा सकता है कि 'संस्कृति' परिष्कृत विचार धाराओं का वह समन्वय है, जिसमें आदर्श और उत्थान का मूलसूत्र विद्यमान रहता है । 'संस्कृति' एवं समाज का बड़ा निकट सम्बन्ध रहता है । जब किसी देश का समाज विकृत हो जाता है राजनीतिक-परिस्थितियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं आर्थिक एवं धार्मिक स्थितियाँ बिगड़ जाती हैं तो उस देश की संस्कृति स्वतः ह्रासमान हो जाती है । जनता की विचारधारा और बाह्य-परिस्थितियों का संस्कृति के स्वरूप पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है । संस्कृति का निर्माण और ह्रास वर्षों में होता है । संस्कृति से ही जन जीवन के संस्कारों का निर्माण और परिष्कार होता है ।

मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत में एक ही प्रकार की सांस्कृतिक एकता थी । यद्यपि धर्म रीति-रिवाज और भाषायें पृथक-पृथक थीं फिर भी यह विभिन्नता एक ही भाषा की अनेक बोलियों के समान एक दूसरे के समीप ही थी । किन्तु इस्लाम धर्म के आगमन से भारत में संस्कृति की दो धारायें बह चलीं । ये दोनों धारायें पर्याप्त समय तक समानान्तर रूप से चलती रहीं । किसी-किसी स्थान पर वे एक दूसरे का स्पर्श भी करती रहीं परन्तु मिल कर एक नहीं हो पा रही थीं । हमारे निर्गुण-सन्त-कवियों ने इन विभिन्न विषम संस्कृतियों में एकता लाने का अथक प्रयास किया । सन्तों ने इस बात को स्थापित करने का प्रयत्न किया कि मानव मानव एक है । सब मनुष्य एक ही ब्रह्म की विभिन्न कृतियाँ हैं । केवल देशकाल की पृथकता से हमारे संस्कार भिन्न हो गये हैं । धर्म और अनेक परिस्थितियों ने हमारे बीच भेद की दीवालों को खड़ा कर रखा है । वस्तुतः मनुष्य मनुष्य एक है और इसीलिये मानव कृत भेद भाव को छोड़कर हमें एक दूसरे के निकट आना चाहिये । हमें संवेदनाशील एवं सहानुभूति से सम्पन्न होना चाहिये । अन्यथा हमारा जीवन कटुता के कारण विषम और विषाक्त बन जायगा ।

अब मध्य-युगीन भारत की सांस्कृतिक-परिस्थितियाँ विचारणीय हैं । सन् ११ से लेकर सन् १८ तक देश की सांस्कृतिक-पृष्ठभूमि यवन-संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित

और संतप्त बनी रही। बहु-संख्यक हिन्दू पारस्परिक वैमनस्य और वैषम्य के कारण एक दूसरे के शत्रु हो रहे थे। उनकी सांस्कृतिक एकता नष्ट प्राय थी। उनकी केन्द्रीभूत सत्ता पूर्णतया समाप्त हो गई थी। कहने मात्र के लिए हिन्दू और मुसलमान एक साथ रहते थे पर वास्तव में एक दूसरे के शत्रु बने हुये थे। हिन्दुओं में भाई ने भाई के विरुद्ध मुसलमानों को युद्ध और अभियान करने के लिये आमन्त्रित किया।

बहुसंख्यक हिन्दुओं पर अल्पसंख्यक शक्तिशाली एवं क र मुसलमान राज्य कर रहे थे। वे हिन्दुओं को हर प्रकार से उत्पीड़ित और व्यथित कर रहे थे। बहुत समय तक साथ-साथ रहने पर भी हिन्दू और मुसलमानों के मध्य भेद की खाई किसी प्रकार मिट न पाई। दोनों एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते रहे। इसका प्रमुख कारण यह था कि हिन्दू मूर्तिपूजक थे और उनके विरुद्ध मुसलमान मूर्तिभंजक थे। सुविधा के लिए अब हम इस परिच्छेद की सामग्री को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित कर लेंगे।

(१) मध्य-युग में हिन्दू-संस्कृति
(२) मध्य-युग में मुस्लिम-संस्कृति

मध्य-युग में हिन्दू-संस्कृति

मध्यकाल मे हिन्दू जाति पारस्परिक वैमनस्य और फूट से अभिशप्त थी। पशु पितापूजा टोना-टोटका अंधविश्वास पूजापाठ उत्सव समारोह ने हिन्दुओं के जीवन के विभिन्न चरणों में सक्रिय और साहसिक कार्यों का स्थान ले लिया था। राजनीतिक-परिस्थितियों के साथ सांस्कृतिक-जीवन भी शिथिल और विनष्ट हो गया था। हिन्दू विजेताओं के अधीन थे। उनमे रूढ़िवादिता और अकर्मण्य का प्रसार था।

साहित्य के क्षे त्र में इस काल म अनेक देशीय भाषायें विकसित हुई। इस काल में विभिन्न अपभ्र शों का विकास हुआ और विशद साहित्य प्रस्तुत हुआ। इस समय जिन कवियों का आविर्भाव हुआ वे सब सांस्कृतिक-एकता स्थापित करने वाले और धार्मिक-भावना से प्रधान कवि थे। विद्यापति कबीर सूर तुलसी मीरा दादू केशव आदि इस समय के कवि थे। इसी समय कृत्तिवास ने (सन् ११७ में) बंगला म रामायण की रचना की। सन् १४७३ तथा सन् १४ में मध्य मालाधार वसु ने भागवत पुराण' का बंगला म अनुवाद किया। संजय और काशीराम जैसे महान कवियों ने धार्मिक ग्रन्थों की रचना की। जयदेव ने 'गीत गोविन्द की रचना की। जयदेव राजा लक्ष्मण सेन क दरबारी थे। इसी समय प्रसिद्ध कवि चण्डीदास ने बंगला में काव्य रचना की। इस काल में मराठी का भी विकास हुआ ज्ञानेश्वर ने सन् १२९ में 'ज्ञानेश्वरी' की रचना की। इसी समय नामदेव (१२७ १३५) ने मराठी और हिन्दी में विपुल साहित्य की रचना की। मराठी के अन्य कवियों में जनाबाई तुकाराम (१६ ८ १६४६ ई) रामदास (१ ई) आदि उल्लेखनीय हैं। इस काल में राजस्थानी भाषा की भी अच्छी उन्नति हुई। इस समय क ग्रन्थों में चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराजरासो तथा जगनिक कृत 'आल्हा विशेष प्रसिद्ध हैं। मध्य-काल म संस्कृत

वाले अन्तर्द्वन्द्व उसे बेचैन कर रहे थे। वह किधर जाय क्या करे क्या न करे उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। चारों तरफ अन्धकार ही अन्धकार था। नित्य कुचक्र रचे जाते थे।

इन्हीं परिस्थितियों ने हमारे निर्गुण-सन्त-कवियों की चिन्तन-पद्धति और दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन उत्पन्न किये और उन्होंने समाज को सुचारु रूप से चलाने के उपदेश दिये। काम क्रोध मोह लोभ से दूर मानव को केवल कर्तव्य करने का उपदेश दिया। गृहस्थाश्रम के प्रति सन्तों का क्या दृष्टिकोण था? यह हम आगे स्पष्ट करेंगे।

सांस्कृतिक-परिस्थितियाँ

संस्कृति' शब्द बहुत व्यापक है। यह मानव की चिर-साधना चिर-तपस्या और संयमशीलता की महती देन है। इसी कारण इसका प्रभाव धर्म एवं साहित्य दोनों पर ही पड़ता है। स्थूलरूप से यह भी कहा जा सकता है कि 'संस्कृति' परिष्कृत विचार धाराओं का वह समन्वय है, जिसमें आदर्श और उत्थान का मूलसूत्र विद्यमान रहता है। संस्कृति एवं समाज का बड़ा निकट सम्बन्ध रहता है। जब किसी देश का समाज विकृत हो जाता है राजनीतिक-परिस्थितियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं आर्थिक एवं धार्मिक स्थितियाँ बिगड़ जाती हैं तो उस देश की संस्कृति स्वतः ह्रासमान हो जाती है। जनता की विचारधारा और बाह्य परिस्थितियों का संस्कृति के स्वरूप पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। संस्कृति का निर्माण और ह्रास वर्षों म होता है। संस्कृति से ही जन-जीवन के संस्कारों का निर्माण और परिष्कार होता है।

मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत में एक ही प्रकार की सांस्कृतिक एकता थी। यद्यपि धर्म रीति-रिवाज और भाषायें पृथक-पृथक थी फिर भी वह विभिन्नता एक ही भाषा की अनेक बोलियों के समान एक दूसरे के समीप ही थी। किन्तु इस्लाम धर्म के आगमन से भारत में संस्कृति की दो धारायें बह चली। ये दोनों धारायें पर्याप्त समय तक समानान्तर रूप से चलती रहीं। किसी-किसी स्थान पर ये एक दूसरे का स्पर्श भी करती रहीं परन्तु मिल कर एक नहीं हो पा रही थीं। हमारे निर्गुन-सन्त-कवियों ने इन विभिन्न विषम संस्कृतियों में एकता लाने का अथक प्रयास किया। सन्तों ने इस बात को स्थापित करने का प्रयत्न किया कि मानव मानव एक है। सब मनुष्य एक ही ब्रह्म की विभिन्न कृतियाँ हैं। केवल देशकाल की पृथकता से हमारे संस्कार भिन्न हो गये हैं। धर्म और अनेक परिस्थितियों ने हमारे बीच मत की [illegible] खड़ा कर रखा है। वस्तुतः मनुष्य मनुष्य एक है और इसीलिये मानव छोड़कर हमें एक दूसरे के निकट आना चाहिये। हमें सहिष्णुशील होना चाहिये। अन्यथा हमारा जीवन कटुता के कारण विषम

विचारणीय है। सन् ११

[illegible] से पूर्णतया प्रभावित

पतन होने पर दूसरे का पतन भी स्वत ही हो जाता है। इसी कारण देश की राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन होते गये और समाज के परिवर्तन के साथ-साथ धर्म में भी परिवर्तन होते गये। मध्ययुगीन भारत भी किसी प्रकार इसका अपवाद नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस्लामी कट्टरता भी कालान्तरता दूर हो ही गई। अल्ताफ हुसैन के शब्दों में 'दीने हिजाजी का बेबाक बेड़ा गंगा के दहाने में आकर डूब गया' इधर हिन्दुओं की भी कठोरता दूर होती गई जिसका कि प्रत्यक्ष प्रमाण हमें उस युग के समाज में दिखाई पड़ता है।

सन् १३ से १८ तक राजनीतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक परिस्थितियां मे भी परिवर्तन होते गये। यदि कोई दयालु शासक सामाजिक परिस्थितियों को सुधारने की चेष्टा भी करता तो उसके बाद में होने वाले धर्म-विश्वासी शासक उसके किये हुए पर पानी फेर देते थे। इस प्रकार इन पाँच सौ वर्षों में भिन्न-भिन्न सामाजिक परिस्थितियां रही। कभी हिन्दू जजिया के कर से मुक्त हो जाते थे और कभी जजिया के साथ अन्य धार्मिक कर भी देने पड़ते थे। कभी राजदरबारों मे उच्च-पद प्राप्त करते थे तो कभी राज दरबारों से निकाल भी दिये जाते थे। समाज को संघर्ष एवं विद्रोही भावनाओं ने अभिशप्त कर रखा था। सामान्य जनता का विचार था कोई भी राजा क्यों न हो हमें क्या करना।[1] क्योंकि प्रजा को केवल अनीति और दण्ड राज्य-शासन की ओर से अकाल[2] महामारी तथा दुर्भिक्ष परमात्मा की ओर से प्राप्त था। किसान मजदूरों एवं शूद्रों की स्थिति शोचनीय थी। उच्च-वर्ग निम्न-वर्ग को दबाने मे ही लगा हुआ था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के पश्चात् अंग्रेजों की शोषण-नीति प्रारम्भ हुई वह दांव-पेंच की चालें चल कर शोषण कर रहे थे मुगल सम्राटों की भाँति बल एवं वैभव का प्रदर्शन करके दमन नहीं कर रहे थे। परन्तु सामाजिक-जीवन तो छिन्न-भिन्न हो ही चुका था और हो रहा था। फिर भी जनता महत्वाकांक्षा के अभिशाप से उत्पीड़ित थी फलत हम यह कह सकते हैं कि उन ५ वर्षों का सामाजिक जीवन एक ओर महत्वाकांक्षा की डार पकड़े हुए था और दूसरी ओर अपनी प्राचीन-काल से चली आई हुई रूढ़ियों का। दोनों के बीच मे होने

---

१ गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति

कोई नृप होय हमैं का हानी

चेरि छाँड़ि ना होउब रानी'

साधारण जनता द्वारा व्यक्त किये गये विचार ही हैं।

२ जहाँगीर के समय १६१ में बहुत बड़ा अकाल पड़ा था।

(सुन्दर दास ने इसका वर्णन किया है)

३ कलि बारहिं बार दुकाल परै

बिन अन्न दुखी सब लोग मरै।

(गोस्वामी तुलसीदास)

आवश्यक था कि भारत का सम्राट् ही प्रथम कदम उठावे। इस क्षेत्र में प्रथम कदम अकबर ने ही उठाया उसने भारत में एक ऐसे नये-समाज की स्थापना का प्रयत्न किया जो न हिन्दू हो और न मुसलमान वरन् भारतीय हो। बदायूँनी के इन शब्दों में देखिये

'जिस साम्राज्य का प्रमुख एक व्यक्ति था उसके लिए यह बुरी बात थी कि उसके सदस्यों में परस्पर फूट हो और वे एक दूसरे से ऐसे भिन्न हों कि आपस मे लड़ें-झगड़ें — इसलिए हमें चाहिए कि उन सबको एक सूत्र मे पिरोने का प्रयत्न करें किन्तु इस ढंग से कि वह सब एक तो हो जायें लेकिन एक धर्म में जो अच्छी चीजें हैं उन्हें न त्यागें और दूसरे न जो अच्छी चीजें हैं उन्हें ग्रहण कर लें। इस प्रकार ईश्वर के प्रति सम्मान प्रकट होगा जनता में शान्ति स्थापित होगी और साम्राज्य सुरक्षित रहेगा।[1]

सुधारक के लिए आवश्यक था कि वह पग-पग पर हिन्दू-मुस्लिम जनता की गहरी धार्मिक भावनाओं और विश्वासों का सामना करता रहे। अकबर तो विदेशी एवं विजातीय था। इस कारण उसके मार्ग में बाधायें भयंकर रूप से आईं। परन्तु अकबर ने हिन्दू अथवा मुसलमान किसी एक सम्प्रदाय को सुधारने का प्रयत्न नहीं किया और न कोई सम्प्रदाय ही कायम किया। उसने सबको मिलाकर एक नवीन राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया जो कि हिन्दू और मुसलमानों के सीमित दायरे से बहुत दूर हो। इसी कारण उसका कार्य और भी दु-साध्य हो गया। फिर भी उसने बाल्य तथा सती-प्रथा का निषेध किया। विवाहावस्था की अवधि बढ़ाई, मद्यपान तथा वेश्या वृत्ति पर सामाजिक नियन्त्रण लगाये। विभिन्न सम्प्रदायों के भेद भाव मिटाने के लिए नवीन धर्म की स्थापना की जजिया आदि धार्मिक करों को हटाया सभी को समान रूप से सरकारी पद देने प्रारंभ किये हिन्दू-मुसलमानों मे अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ किये। विभिन्न उपायों द्वारा उसने अपने स्वप्न[2] को पूरा करने की चेष्टा की।

परन्तु उसका यह स्वप्न पूर्ण न हो सका। कारण कि अकबर के बाद होने वाले शासकों ने धीरे धीरे इस नीति में परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया और औरंगजेब ने तो अकबर के किये हुए समस्त कार्यों पर पानी ही फेर दिया और फिर से संकुचित विचारों को लेकर इस्लाम के आधार पर शासन करना प्रारम्भ कर दिया।

धर्म समाज एवं राजनीति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसमें से एक का भी

---

१ भारत मे मुगल शासन का इतिहास श्रीराम शर्मा पृष्ठ ७१६।

२ उसका स्वप्न था—

'सब धर्मों और मतों का सार खींचना सब सुन्दर पौधों से अच्छे से अच्छे पुष्प चुनना और फिर एक मुकुट ऐसा गूँथना जो केवल राजा के लिए ही नहीं बल्कि समय आने पर हर मुसलमान ब्राह्मण बौद्ध ईसाई और पारसी के लिए हो अपनी असंख्यक प्रजा को अपनी अधीनता में एकता के सूत्र में पिरोना पुरानी घृणा को प्रेम के सोने मे परिवर्तित करना और फिर सर्वत्र उसका प्रचार

हुआ। आचार्य शंकर ने इसी युग में उत्पन्न होकर हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता का सुदृढ़ किया। वेदान्त पर उन्होंने प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। रामानुजाचार्य माध्वाचार्य निम्बार्क आदि इस युग के प्रमुख विचारक थे। इस युग में ब्रह्म की उपासना के लिये विविध रूप प्रचलित थे। जिसमें राम कृष्ण विष्णु तथा शिव जनता में विशेष प्रिय थे। शक्ति रूप में दुर्गा चंडी काली उमा लक्ष्मी के रूप अधिक पूजे जाते थे। मंत्र-तंत्र के उपासकों का भी अभाव नहीं था। बलि प्रथा प्रचलित थी।

कलायें

इस समय कला के क्षेत्र में अनेक प्रकार के परिवर्तन एवं विकास हुये। इस समय निर्माण-कला (मूर्ति निर्माण तथा मन्दिरों के निर्माण के रूप में) का अधिकतर विकास हुआ।

राजपूत-चित्रकारी

मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप १५ वीं शताब्दी में पहाड़ी चित्रकारी एवं राजपूत-चित्रकारी का जन्म हुआ। इस शताब्दी में उत्तरी भारत में चित्रकारी की दो दृष्टियों से प्रगति हुई। प्रथम थी भक्ति के विकास के द्वारा प्रान्तीय बोलियों की उन्नति एवं विकास तथा दूसरी कागज का प्रचलन। कागज के व्यवहृत होते ही पत्थरों से हटकर चित्रकला कागज पर अंकित होने लगी। इस युग में राजपूत-कला ने नवीन शैलियों और प्रभावों से जन्म एवं रूप ग्रहण किया। मुगलों के संरक्षण में राजपूत शैली ने और भी उन्नति की। राजपूत-कला के पूर्व पतनोन्मुख उच्चकोटि की कला तथा गुजराती-कला का प्रचलन था। राजपूत-कला के विकास-क्षेत्र थे मालवा मेवाड़ उदयपुर, अजमेर, जयपुर, जोधपुर बीकानेर, किशनगढ़ नाथद्वारा कोटा नागपुर तथा दतिया। अठ्ठारहवीं शताब्दी तक यह कला उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँच गयी थी। राजपूत-कला की प्रधान पृष्ठ-भूमि का विषय है रागमाला। कृष्णलीला नायिका भेद दरबारों के दृश्य शिकार के दृश्य मेला समारोह ऋतु चित्रण आदि इस कला के अन्य विषय हैं।

राजपूत कला की मुख्य विशेषतायें हैं

(१) मौलिक शक्ति एवं वीरता।

( ) भावुक भावों की सरलता एवं प्रसन्नता।

(३) परम्परागत तात्पर्य।

(४) आह्लाद एवं चमत्कार।

(५) सजावट।

राजपूत चित्रकला के साथ ही साथ कांगड़ा पहाड़ी या हिमालय चित्रकला का भी विकास हुआ। इस कला का विकास क्षेत्र काश्मीर था। इसका विकास क्षेत्र जम्मू से गढ़वाल और पठान कोट से कुलू घाटी तक था। राजपूत कला के समान

इनके भी रंग चमत्कार और आंतरिक भावनाएं सजीव हैं। परन्तु १८ वीं शताब्दी में इन दोनों कलाओं का पतन हो गया।

नृत्य एवं संगीत

मध्य काल में नृत्य-कला एवं संगीत की प्रचुर उन्नति हुई। उत्तर भारत में हिन्दू मुस्लिम सम्पर्क के माध्यम से कत्थक-नृत्य का विकास हुआ। इसी प्रकार दक्षिण में देव-दासियाँ 'भारत नाट्यम' नृत्य करती थीं। राजदरबारों में नृत्य की यह शैली बहुत प्रचलित थी। कथाकली तथा मणिपुरी नृत्यों का प्रदर्शन भी राजदरबारों तथा विशेष समारोहों पर होता था।

संगीत की इस समय विशेष उन्नति हुई और प्रथम बार अनेक राग रागनियों को सुना गया। तबला सितार सारंगी तथा अन्य आधुनिक वाद्य-यन्त्रों की रचना भी इसी काल में हुई। इसी काल में संगीत के नियमों को लेकर संगीत-शास्त्र पर अनेक ग्रंथ लिखे गये। कोहला दत्तिल सारंगदेव हरिदास स्वामी दामोदर माहोबाल सोमनाथ पंडित व्यंकट मुखी तथा पुडरीक विट्ठल आदि इस युग के प्रमुख विद्वान हैं। जिन्होंने संगीत-शास्त्र पर श्रेष्ठ ग्रंथों की रचना की। गाने की विविध शैली विधियाँ स्वर-ताल आदि को लेकर नई-नई खोजें हुई। इसी समय हिन्दुओं के मुख्य वाद्य-यंत्र वीणा के बोल के अनुकूल स्वर-ताल बनाये गये। हिन्दु-मुस्लिम सम्पर्क के कारण नवीन रागों की रचना हुई। इस काल मे अनेक प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुये जिसमें अलाउद्दीन खिल्जी के दरबार के गोपाल नायक ग्वालियर के नायक बख्श स्वामी हरिदास तानसेन बैजू-बावरे जगन्नाथ लाला बाबा आवरंग तथा सदारंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संगीत-कला का पतन औरंगजेब के काल में प्रारंभ हुआ और अठारहवी शताब्दी में अन्य कलाओं की भाँति संगीत-कला का भी पतन हो गया।

निर्माण कला

इस काल मे मन्दिर निर्माण-कला में विशेष उन्नति हुई। इस समय मन्दिर या देवालय 'विमान' कहे जाते थे। उनके ऊपर का भाग स्तूपाकार होता था जिसे शिखर स्तम्भ या मीनार भी कहा जाता था। 'विमान' के अन्तर्गत एक छोटी अंधेरी कोठरी भी होती थी जिसे गर्भ-गृह कहते थे। इसके समक्ष एक मंडप रहता था जहाँ भक्त एकत्र होते थे। खजुराहो के मन्दिर इस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं इसका समय १ वीं शताब्दी है। इस काल के उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के मन्दिर की निर्माण-कला मे प्रचुर भेद है। उत्तरी भारत के मन्दिरों के शिखर स्तम्भाकार तथा दक्षिण मन्दिर स्तूपाकार है। खजुराहो के मन्दिरों में भारतीय निर्माण-कला के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। राजपूताना मध्य भारत गुजरात आबू पर्वत पर भी निर्मित मन्दिरों का कला की दृष्टि से उल्लेख होना आवश्यक है। कला की दृष्टि

में जोधपुर का 'महामन्दिर' तथा उदयपुर का एकलिंग मन्दिर उल्लेखनीय है। पाटन से १८ मील दूर पर स्थित मोधरा का 'सूर्य मन्दिर' भी कला की दृष्टि से दर्शनीय है। आबू पर्वत पर निर्मित 'विमला मन्दिर' कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका ग्यारह फेरे में निर्मित वृहद गुम्बद कलाकार की दक्षता और कौशल का परिचय देता है। सोमनाथ का मन्दिर भी कला की दृष्टि से यहाँ उल्लेखनीय है। इस काल में निर्मित मन्दिरों में बम्बई प्रान्त का अमरनाथ मन्दिर ग्वालियर का 'सासबहू मन्दिर' नासिक का 'गोंडेश्वर मन्दिर' कला के अनुपम उदाहरण हैं। इसी समय काठियावाड़ सिंत्रुजय तथा गिरनार पहाड़ियों पर बने हुये जैन-मन्दिर की कला दर्शनीय है। काश्मीर के मन्दिरों की कला समस्त कलाओं से पूर्ण तथा भिन्न है। यह कला गान्धार तथा गुप्त-कला से साम्य रखती है।

जाति प्रथा

मध्यकालीन हिन्दू-समाज में जाति प्रथा का प्रचलन था। ब्राह्मणों का सर्वाधिकार सम्मान था। ये वेद और विद्या के विशेषज्ञ होते थे और ये सम्राटों के परामर्शदाता होते थे। ब्राह्मण कवि ज्योतिषी दार्शनिक या पुरोहित होते थे। ये संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान था। इनका मुख्य कार्य था शासन करना युद्ध करना यज्ञ करना तथा अध्ययन में संलग्न रहना। इस काल के क्षत्रियों में अनेक उपजातियाँ भी उत्पन्न हो गई थीं। इस समय तक मद्यपान आदि अनेक प्रकार की बुराइयाँ इस वर्ग में उत्पन्न हो गई थीं। क्षत्रियों के बाद वैश्य थे। कृषि पशुपालन दान यज्ञ सूद के द्वारा धन अर्जन करना व्यापार वाणिज्य और ऋण देना इनका व्यवसाय था। चतुर्थ जाति शूद्रों की थी। सेवा इनका परम-धर्म था। इनके अतिरिक्त कायस्थ नाम की एक विशेष जाति थी। इनका कार्य था लिखने-पढ़ने का। मध्यकाल में सब जातियों में मैत्रीपूर्ण व्यवहार था। उनमें विवाह सम्बन्ध भी हो जाता था। समाज में स्त्रियों का सम्मानपूर्ण स्थान था। वे वाद-विवाद में भाग लेती थीं। स्त्रियों में इन्दुलेखा सुभद्रा मदालसा मरूला तथा लक्ष्मी जैसी कवयित्री हुई हैं।

मध्य-युग में मुस्लिम-संस्कृति

मध्य-युग में मुस्लिम-संस्कृति की प्रधानता थी। इस्लाम की पताका के नीचे मुसलमान परस्पर सहोदर की एकता को अंगीकार किये हुए अनैक्य से अभिशप्त हिन्दुओं को पराजित करते फिरते थे। मुस्लिम-संस्कृति के प्रचार के कारण चतुर्दिक हिंसा अत्याचार अनाचार और भ्रष्टाचार का प्रचार था।

साहित्य

इस काल में फ़ारसी-साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विकास हुये। मध्य-काल में ही फ़ारसी-साहित्य का जन्म एवं विकास हुआ। फ़ारसी-साहित्य में धर्म-निरपेक्ष गद्य

की रचना प्रारम्भ हुई। इस भाषा में विरचित साहित्य में ऐतिहासिक साहित्य एवं कथाओं की अधिकता है। मुसलमानों के योगदान से साहित्य के ऐतिहासिक स्वरूप की उन्नति से भारतीय-संस्कृति और भी अधिक उर्वरा हुई। सुल्तान युद्धों एवं शासन में व्यस्त रहते थे परन्तु फिर भी वे विद्वानों और साहित्यिक अभिरुचि के लोगों का समादर करते थे। एशिया के अनेक भागों से साहित्यिक एवं विद्वान आकर दिल्ली में बस गये थे। सुल्तान उनका स्वागत करते थे। दिल्ली नगर विद्वानों और फारसी साहित्य का अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गया था। इसी समय अनेक केन्द्रीय मकतबा विद्यालयों और महाविद्यालयों की स्थापना की गई। राज्य की ओर से कुतुबखाना या पुस्तकालयों की स्थापना हुई। इस समय तीन प्रकार की शैक्षिक संस्थाएं विद्यमान थी प्रारम्भिक माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय। विश्वविद्यालय मुख्य नगरों में होते थे। ये नगर थे जालंधर दिल्ली फिरोजाबाद तथा जौनपुर। मस्जिद तथा खानकाह आध्यात्मिक-शिक्षा प्रचार के केन्द्र होते थे। लड़कियों की भी शिक्षा का प्रबन्ध था। बमबन के सबसे बड़े शाहजादे मुहम्मद ने सर्वप्रथम शिक्षा संस्थाओं का संगठन प्रारम्भ किया था।

कला कौशल की शिक्षा कारखानों में दी जाती थी। विभिन्न व्यापारी वर्गों ने अपने-अपने शैक्षिक कारखानों की स्थापना कर रखी थी। शिक्षा में नैतिकता एवं अनुशासन पर जोर दिया जाता था। सुल्तान-काल में फारसी की विशेष उन्नति हुई।

इस समय उत्कृष्ट कोटि की कथा तथा ऐतिहासिक ग्रंथ प्रस्तुत हुये। जिनमें हसन निजामी की 'ताजुल मआसिर' मिहाजुद्दीन सिराज की 'तबकात-ई-नासीरी' जियाउद्दीन बरनी की 'तारीख-ई-फिरोजशाही' शम्स ई-सिराज अफीफी की 'तारीख-ई-फिरोजशाही' यहिया बिन अहमद की 'तारीख-ई-मुबारकशाही' तथा इसामी की 'फतूह-उस-सलातीन' उल्लेखनीय है। इस समय कहानियाँ लोकप्रिय व्यावहारिक कथाओं तथा लघु कथाओं से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना भी हुई। इस कोटि के ग्रन्थों में मुहम्मद औफी की 'जवामी उलहिकायात' खुसरो की 'मस्नवी-उल अनवर' यूसुफ गादा की 'तफायत-नसीह' शिहाब ई-नि शात खाना-ई-नासिर शाही बरनी की 'फतवा-ई-जहान्दारी' तथा मासूद करीमी की 'फिक्र-ए-फिरोज शाही' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस समय आये हुये अनेक यात्रियो ने यात्रा-विवरण भी रोचक ढंग से प्रस्तुत किये। इन यात्रियों में मार्को पोलो इब्नबतूता फाह्यान अब्दुर्रज्जाक कोंटी एटीनेस वर्थेमा बर्बोसा तथा सिदी अली रईस प्रमुख हैं।

मध्य-काल में ही देशी-साहित्यों का विकास तथा उर्दू का जन्म हुआ। प्रान्तीय भाषाओं में प्रचुर साहित्य की रचना हुई। मुगल-काल में पाठशाला या मकतबों के पाठ्यक्रम में कुरान के पाक कलमों को कण्ठ करना अनिवार्य था। माध्यमिक-शिक्षा संस्थाओं पाठ्यक्रम कला धर्म लौकिक-गणित विज्ञान हिसाब किताब अर्थशास्त्र इतिहास कानून नीति साहित्य और दर्शन का अध्ययन होता था। धर्म समस्त अध्ययन का मूल था। प्रत्येक मदरसा में एक मस्जिद होती थी। विश्वविद्यालयों

में निवास का समुचित प्रबन्ध होता था। अकबर के राज्यकाल में अनुवाद इतिहास ग्रन्थ और कविता की प्रचुर रचना हुई। अकबर और जहाँगीर के दरबारों में विद्वानों की बड़ी कद्र थी। इन विद्वानों ने नई नई शैलियों को जन्म दिया और मौलिक साहित्य की रचना की। अकबर के दरबार में अबुलफज़ल मुल्ला दाऊद फैजी सरहिंदी अबुल बकी अबलफैज अब्दुर्रहीम अब्दुल फतह मुहम्मद हुसैन नावरी तथा शिराज जैसे कवि एवं विद्वान विद्यमान थे। जहाँगीर के दरबार के विद्वानों में गयास बेग नकीब खाँ मुतामिद खाँ नियमातुल्लाह अब्दुल हक देहलवी प्रमुख थे। औरंगजेब के राज्य-काल में साहित्य की धारा क्षीण पड़ गई थी क्योंकि उसे कविता से प्रेम नहीं था। फिर भी ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना फ़ारसी में गुप्त रूप से लिखी गई। मुहम्मद काज़िम ने 'आलमगीरी' तथा ख़फ़ीख़ाँ ने 'मुन्तख़ाबुल लुबाब' ग्रन्थों की रचना की थी।

औरंगजेब की मृत्यु के समय और उसके बाद साहित्य-आन्दोलन बन्द नहीं हुआ वरन् इस समय विरचित साहित्य में सांस्कृतिक पतन के लक्षण दृष्टिगत होने लगे। यह वासनापूर्ण तथा सुकुमार नग्न युवतियों की रूप-रेखा का वर्णन करने वाला साहित्य था।

मुग़ल-काल में कविता चरम-सीमा पर पहुँच गई थी। बाबर और हुमायूँ स्वतः कवि थे। अकबर भी शायरी करता था। अबुलफज़ल ने लिखा है कि दरबार में ७ से अधिक उच्च कोटि के कवि विद्यमान थे। इन कवियों ने अनेक काव्य ग्रन्थों की रचना की। जहाँगीर साहित्यिक अभिरुचि का शासक था। बाबर के आत्म चरित्र के समान जहाँगीर ने भी आत्म चरित्र लिखा है। जहाँगीर के दरबार में भी उच्चकोटि के कवि थे जिनका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। शाहजहाँ ने कला और साहित्य को और भी संरक्षण दिया। अबुलफज़ल हिन्दी-फ़ारसी के प्रमुख प्रतिनिधि थे। इस काल में अब्दुल हमीद लाहौरी मुहम्मद वारिस मुहम्मद सलीह आदि प्रसिद्ध कवि हुये। फ़ारसी शैली को विकसित करने वालों में अमीन-ए-कज़ बीनी जलालुद्दीन तबातबाई जैसे लोग उल्लेखनीय हैं। गज़ल कसीदा तथा मसनवी शैली में काव्य की रचना इस काल में खूब हुई। ऐतिहासिक ग्रन्थों में अब्दुल हमीद लाहौरी का 'पादशाहनामा' इनायत खाँ का 'शाहजहाँनामा' तथा मुहम्मद सलीह का 'अमल-ई-सलीह' प्रमुख हैं।

नृत्य एवं संगीत

इस समय 'उत्तर एवं दक्षिण' में प्राचीन नृत्य की परम्परा तथा प्रणाली जारी थी। नर्तकियों और वेश्याओं के प्रसार तथा पतन के कारण नृत्यकला कला के उच्च सिंहासन से गिरकर भ्रष्ट हो रही थी। शासक-वर्ग विलासी हो रहा था अतः वे इस कला की ओर से विमुख थे। फलतः यह कला पेशेवर लोगों तक ही सीमित रह गई। नृत्य की जो दशा हुई उससे विभिन्न स्थिति संगीत की थी। नवाबों के दरबारों में

संगीतज्ञों और संगीत-ग्रंथ वादक कुशल कलाकार आश्रय तथा प्रोत्साहन पाते थे। सुल्तान अलाउद्दीन असाधारण संगीत प्रेमी था। अलाउद्दीन फिरोज खिल्जी प्रसिद्ध संगीतज्ञ था और अपने साथियों के साथ वह नृत्य भी करता था। राजा मानसिंह के राज्यकाल (१४८६–१५१८) में ग्वालियर, संगीत-कला का प्रसिद्ध केन्द्र था। राजा मानसिंह स्वयं ध्रुपद संगीत के रचयिता माने जाते हैं। बैजू बावरी गोहाल इस समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ और आचार्य थे। मुगल भी संगीत के संरक्षक और प्रेमी थे। बाबर इस कला में निपुण था। हुमायूं तथा अकबर भी इसी प्रकार संगीत के प्रेमी थे। तानसेन अकबर के ही आश्रय में रहता था। अकबर के दरबार में तीस से अधिक श्रेष्ठ संगीतज्ञ रहते थे। मालवा के बाजबहादुर शासकसवन्त हरिदास रामदास सुभान खाँ बाज्ञ बारी मियां मालक अकबर के समकालीन प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। जहांगीर के शासन-काल में जहांगीर दाद खुर्रम दाद मखान तथा छत्तर खाँ आदि प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। शाहजहां के दरबार में रामदास महाबान लाल खाँ गुण समुद्र तथा जगन्नाथ जैसे प्रसिद्ध गायक थे। औरंगजेब के राज्य-काल में संगीत पर पूर्ण नियंत्रण लगा दिया गया था। परन्तु बाद के मुगलों ने इसे फिर सरक्षण और प्रश्रय प्रदान किया।

निर्माण कला

निर्माण-कला की दृष्टि से मध्य-युग का विशेष स्थान है। मुस्लिम शासक लालकीमत प्रिय व्यक्ति थे। इस काल में बहुत ऐसी इमारतें बनी जिनमे हिन्दू तथा मुसलमान-कला का सुन्दर समन्वय है। मुस्लिम-निर्माण-कला मेहराबों गुम्बजों तथा मुम्बजों पर आधारित थी और हिन्दू कला खम्भे शहतीरों तथा स्तूपाकार खम्भों अथवा संकीर्ण शिखरों पर आधारित थी। मुगल-काल में निर्माण कला की विशेष उन्नति हुई। अकबर को हिन्दू निर्माण शैली बहुत प्रिय थी। सन् १५५६ १६ ५ ई के मध्य निर्मित इमारतों में हिन्दू निर्माण शैली की प्रधानता है। आगरा के किले में जहांगीर-महल इस निर्माण शैली का सुन्दर उदाहरण है इसका केन्द्रीय भवन चौकोर स्तम्भ छोटे मेहराब आदि हिन्दू-निर्माण-शैली के उदाहरण हैं। दीवान-आम पंचमहल सिकंदरा (अकबर की समाधि) आगरा में सिकन्दरा एतमाद्दौला की कब्र जोधाबाई का राजमहल (फतेहपुर सीकरी) हिन्दू-निर्माण-शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। मुस्लिम निर्माण-कला का प्रतीक ताजमहल है। शाहजहां के अनन्तर मुगलों की इमारतों में यूरोपीय प्रभाव परिलक्षित होने लगा।

चित्रकला

मुसलमान बादशाहों ने चित्र कला पर उतना ध्यान नहीं दिया जितना अन्य कलाओं की ओर ध्यान दिया था। कारण कि चित्र-कला का घनिष्ट सम्बन्ध है मूर्ति पूजा से मानते थे। फिर हिन्दुओं ने इस्लाम ग्रहण कर लिया उन्होंने इस कला को

प्रचार किया। मुगल इस कला को फारस से लाये थे। कहा जाता है कि अलाउद्दीन खिल्जी ने अपने मुईजी के किले में चित्रकारी बनवाई थी। बाबर अपने पूर्वजों के पुस्तकालयों से इस कला के सुन्दर नमूने ले आया था। हुमायूं ईरान से नवीन फ़ारसी कला के प्रसिद्ध दो चित्रकारों को ले आया था। अकबर ने राजकीय चित्रशाला की स्थापना की थी। जहाँगीर तो कलाकारों का राजा प्रसिद्ध ही है। शाहजहाँ भी चित्रकला प्रेमी था। परन्तु औरंगजेब के राज्य-काल में समस्त कलायें हासमान हो गई थीं। मुगल चित्र-कला में पुस्तकों के चित्र ी सम्मिलित हैं। यह धर्म-निरपेक्ष कला थी।

अन्त में हम यही कहेंगे कि दो विभिन्न धाराओं में बहती हुई हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों के सामञ्जस्य का प्रचार हमारे निर्गुण सन्त कवियों ने किया।

आर्थिक-परिस्थितियाँ

मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष के लिए अर्थ या धन की अत्यधिक आवश्यकता होती है। किसी भी देश में समाज के समस्त प्रकार के आदान प्रदानों का एक मात्र आधार धन होता है। देश की आर्थिक परिस्थितियों का राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक तथा धार्मिक-परिस्थितियों से अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। कारण कि राजनीति समाज संस्कृति तथा धर्म के मूल में धन या अर्थ महत्वपूर्ण कार्य करता है। जीवित रहने के लिये राजनीति का संचालन करने के लिए सांस्कृतिक वातावरण के सर्जन के लिये तथा धर्म साधना के हेतु उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करने के लिये धन तथा अर्थ की बड़ी आवश्यकता होती है। इसीलिये यह कहना असम्भव न होगा कि किसी देश की आर्थिक परिस्थिति का उस देश की चतुर्दिक उन्नति और आशातीत सफलता के लिये सुदृढ़ होना परमावश्यक है। इतना ही नहीं देश के विकास और जय के लिये उसकी आर्थिक-सत्ता की पुष्टता बहुत आवश्यक है।

भारतवर्ष के तेरहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी पाँच-सौ वर्षों के इतिहास का जब हम ध्यानपूर्वक देखते हैं तो ज्ञात होता है कि यह समय इस देश का सबसे अभिशप्त-युग था। जीवन का चतुर्दिक वातावरण क्षुब्ध और विषाक्त था। उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों के कारण देश की राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ क्षुब्ध और हीन तो बनी ही थीं साथ ही इस समय की आर्थिक परिस्थितियाँ बड़ी शोचनीय और चिन्तनीय थी। उत्तर-पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के कारण इन पाँच सौ वर्षों की कृषि वाणिज्य दस्तकारी और धनार्जन के अन्याय उपाय नष्ट हो गये थ। इन पाँच सौ वर्षों में जनता इतनी त्रस्त और प्रताड़ित क्षुब्ध और विचलित अशान्त और धैर्यविहीन हो गई थी कि उसका मन धनोपार्जन और वाणिज्य से विलग हो गया था। अकाल और आक्रमणों की इतनी अधिकता एवं प्रबलता रही कि जनता का जीवन हर ओर से संकटपूर्ण बन गया।

था। इन पाँच सौ वर्षों में सैकड़ों अकाल सैकड़ों अभियान और सैकड़ों विनाशकारी युद्ध हुये फिर भला देश की आर्थिक स्थिति कैसे अक्षुण्ण बनी रह सकती थी।[1]

मुसलमानों के आगमन से पूर्व हमारा देश सम्पन्नता और समृद्धि का केन्द्र था। प्रसिद्ध है कि इस देश में दूध-घी अन धान्य की नदियाँ बहती थीं। मानव-जीवन सम्पन्नता का प्रतीक था। समाज सब ओर से सन्तुष्ट होकर उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर था। देश की सम्पन्नता और समृद्धि से आकर्षित होकर महमूद गजनवी के आक्रमणों से देश की आर्थिक स्थिति की विकृति का प्रारम्भ हुआ। देश की शस्य-श्यामला भूमि विनाश रक्तपात संहार तथा पिशाचों की क्रूर-लीलाओं की क्रीड़ास्थली बन गई।

महमूद गजनवी ने प्रथम बार १ ई में भारत पर आक्रमण किया और सीमावर्ती नगरों पर विजय प्राप्त की इस आक्रमण से उसे अतुल धनराशि प्राप्त हुई। इस आक्रमण के एक वर्ष बाद उसने भटिण्डा के राजा जयपाल पर आक्रमण किया। उसे पराभूत करके उसकी अपार सम्पत्ति को अपने अधिकार में कर लिया। सन् १ ६ में उसने भारत पर अपना तृतीय व चतुर्थ आक्रमण किया। इस आक्रमण में उसने भीरा तथा मुल्तान नगरों को अपने अधिकार में किया। मुल्तान के शासक से २ हजार सोने की दिरम लेकर वह गजनी लौट गया। सन् १ ८ में उसका पाँचवाँ आक्रमण हुआ और सेवक पाल को पराजित करके उसने चार लाख दिरम हर्जाने में वसूल किये। सन् १ ९ में महमूद ने भारत पर छठा आक्रमण किया। यह भारत में परिवर्तन करने वाला युद्ध था। इस युद्ध में उसने आनन्दपाल को पराजित करके नगर कोट के किले पर अधिकार कर लिया और किले की अपार सम्पत्ति का अधिकारी बना। सन् १ १४ में थानेश्वर पर उसका भयानक आक्रमण हुआ और घोर संग्राम के अनन्तर विजय और अपार सम्पत्ति महमूद के हाथ लगी। सन् १ १८ में यमुना पार करके कन्नौज पर आक्रमण किया। महावन के शासक को लूटकर उसने मथुरा में प्रवेश किया और प्रचुर धन राशि लूटी। सन् १ १९ में कन्नौज के प्रतिहारों ने बिना युद्ध किये अधीनता स्वीकार करके उसे प्रचुर सोना देकर गजनी विदा किया। सन् १ २५ में उसने सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण किया। इस अभियान में उसे अपार धनराशि मिली। प्रसिद्ध है कि सोमनाथ के मन्दिर को लूट कर प्राप्त धन और सामग्री को ५ हजार ऊँटों पर लाद कर वह गजनी गया इस प्रकार केवल एक आक्रमणकारी ने भारतवर्ष पर सत्रह प्रहार किये और अपार असंख्य धनराशि लूट कर इस देश की आर्थिक-स्थिति को विकृत बना गया।

महमूद गजनवी के अनन्तर भारतवर्ष की भूमि पर प्रबल आघात और लूट-मार करके यहाँ की जनता को शोषित करने वाला व्यक्ति था मोहम्मद गोरी। मोहम्मद गोरी ने ११९१ ई में आक्रमण किया और वीर राजपूतों को पराजित किया इसी

---

१ सुन्दर-दर्शन डॉ त्रिलोकीनारायण दीक्षित पृष्ठ १३ १४ १५।

युद्ध में महाराजा पृथ्वीराज बन्दी बनाये गये। ११९४ ई० में उसने कन्नौज पर आक्रमण किया इस युद्ध में जयचन्द पराजित हुआ। इन दोनों युद्धों के बाद उसे विपुल धन सम्पत्ति और वैभव प्राप्त हुआ। इतिहासकारों ने महमूद गजनवी और मोहम्मद गोरी को समान रूप से भयंकर लुटेरा सिद्ध किया है।[1] उन्होंने देश की आर्थिक स्थिति को हर प्रकार से नष्ट किया।

मोहम्मद गोरी के पश्चात् गुलाम-वंश का राज्य स्थापित हुआ। सन् १२२ ई में इल्तुतमिश के राज्यकाल में मंगोल सरदार चंगेज खाँ ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। अपनी तलवार की झनकार से उसने समस्त एशिया को कँपा दिया। चंगेज खाँ का अभियान विनाश का सन्देश बन कर आया परन्तु वह शीघ्र ही टल गया। चंगेज खाँ के आक्रमण के फलस्वरूप कृषि की दशा बहुत विकृत हो गई थी। फौजें लहलहाती हुई कृषि को कुचलती चली जाती थीं।

गुलाम-वंश के अनन्तर खिल्जी-वंश का राज्यकाल सन् १२९ ई में प्रारम्भ होता है। खिल्जी नरेशों के राज्यकाल में अनेक युद्ध हुए जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय है देवगिरि की चढ़ाई। इसमें युद्ध नहीं हुआ राजा रामचन्द्र ने हार स्वीकार करके अतुल सोना हीरे जवाहरात और हाथी भेंट किये। इस चढ़ाई में कृषि की अत्यधिक हानि हुई।[2] अलाउद्दीन के राज्यकाल में मुगलों के आक्रमण और भय के कारण बड़ी अराजकता फैल गई थी। सरदार कुतुलग ख्वाजा के भय से दिल्ली में इतने शरणार्थी आ गये थे कि भुखमरी की हालत उत्पन्न हो गई थी।[3] इसके अनन्तर रणथम्भौर और चित्तौड़ गढ़ के युद्धों में देश की विपुल सम्पत्ति विनष्ट हुई। अलाउद्दीन के राज्यकाल में वस्तुओं का बाजार भाव इतना चढ़ गया था कि उसे नियत करने के लिए राज्य की ओर से मूल्य निर्धारित कर दिये जाते थे। नाप-तौल का निरीक्षण स्वयं बादशाह ही करता था। इसी समय भूमि-कर का भी नया बन्दोबस्त किया गया।[4] अलाउद्दीन के राज्यकाल में जनता की आर्थिक स्थिति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि दुधारू गाय का दाम तीन टंका और खूबसूरत स्त्री का दाम ३ टंका हुआ करता था। स्मरण रखना चाहिए कि टंके का मूल्य लगभग रुपये के बराबर ही हुआ करता था।

इस युग में भारत को अनेक दुर्भिक्षों का भी सामना करना पड़ा। जलालुद्दीन फिरोज खिल्जी के शासन काल में (सन् १२९ – ९६) अनाज की बहुत ही अधिक कमी हो गई थी। दिल्ली में अन्नका भाव ७॥ जीतल प्रति मन से बढ़ कर ४ जीतल प्रति मन हो गया था। शिवालक की उपत्यका तक के लोग दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर जब

---

१ भारत का क्रमबद्ध इतिहास महावीर अधिकारी पृष्ठ २४०–२४१।
२ भारत का क्रमबद्ध इतिहास महावीर अधिकारी पृष्ठ २९३।
३ भारत का क्रमबद्ध इतिहास महावीर अधिकारी पृष्ठ २९५।
४ भारत का क्रमबद्ध इतिहास महावीर अधिकारी पृष्ठ २७१।

की खोज में दिल्ली आने लगे थे और वहाँ भी भोजन न प्राप्त होने पर आत्म-हत्या कर लेते थे जिससे जीवन का ही अन्त हो जाय। मुहम्मद तुगलक के समय में भी इसी प्रकार का अकाल गंगा-यमुना के दोआबे में पड़ा और बहुत से नर-नारी भूख से तड़प तड़प कर प्राण देने के लिए विवश हुए, लेकिन सुल्तान की आज्ञा से अधिकारियों ने कोड़े मार कर कर वसूला।[1] अलाउद्दीन खिल्जी ऐसे वैभवशाली सुल्तान ने जनता को दुर्भिक्ष से रक्षा करने की चेष्टा भी की परन्तु उसे सफलता न प्राप्त हुई क्योंकि अराजकता के कारण किसानों के लिए कृषि पर ध्यान देना असम्भव सा हो गया था और अनाज के अभाव में जनता की भूख मिटा देने का कोई उपाय उस समय था नहीं। आवागमन के साधन भी इतने सुलभ न थे कि बाहर के प्रदेशों से अन्न मँगवाया जा सके।

अकाल के समय में अन्न का मूल्य बहुत ही बढ़ जाता था। फिरोज शाह तुगलक के समय के दुर्भिक्ष में तो ६४ जीतल प्रति मन के भाव से भी जनता को अन्न प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं था। परन्तु यह ऊँचे भाव दुर्भिक्ष के समय ही होते थे। जब अनाज पर्याप्त मात्रा में होता था तो कीमतें गिर जाती थीं। प्रसिद्ध यात्री इब्नबतूता के कथनानुसार बंगाल में वस्तुओं की कीमतें जितनी कम थीं उतनी संसार के किसी अन्य देश में नहीं थीं।

अलाउद्दीन खिल्जी मुहम्मद तुगलक और फिरोज शाह तुगलक के समय दुर्भिक्ष काल को छोड़कर वैसे वस्तुओं की कीमतें ठीक ही रहती थीं। अलाउद्दीन का बाजार सम्बन्धी नियम इतिहास में प्रसिद्ध है परन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त नियम ढीले पड़ गये और उसकी कड़ियाँ टूट-टूट कर गिरने लगीं। मुहम्मद तुगलक में व्यावहारिकता का अभाव था उसने ताँबे का सिक्का चलाया परन्तु व्यावहारिक पक्ष की शून्यता के कारण देश और भी खोखला हो गया। फिरोज ने देश-सुधार की चेष्टा भी की परन्तु मृत्यु के बाद और भी कुव्यवस्था फैल गई।

परन्तु इस युग में विदेशी व्यापार भी होता था। समुद्र-मार्ग द्वारा चीन मलाया ईरान अरब और योरप के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। इब्नबतूता और मार्कोपोलो ने भारत से अनेक बन्दरगाहों का उल्लेख किया है जिनमें विदेशों के व्यापारी अपना माल बेचने व भारतीय माल का क्रय करने लिए एकत्र हुआ करते थे।

स्थल-मार्ग द्वारा मध्य-एशिया ईरान तिब्बत और भूटान के साथ व्यापारिक-सम्बन्ध था। घोड़ों खच्चरों व ऊँटों के काफिला से भारत एवं विदेशों के व्यापारी आदान-प्रदान किया करते थे। परन्तु हिन्दू-जनता का क्या स्थान था इस उद्धरण द्वारा स्पष्ट हो जाता है :

'यद्यपि उत्पादन और व्यापार अपनी पूरी गति के साथ देश के भीतर और बाहर चलता रहा फिर भी बड़े-बड़े व्यापारी और मुसलमान अमीर ही उसका लाभ उठा

---

१ भारत का विस्तृत इतिहास महावीर अधिकारी पृष्ठ २८४।

थके निम्न श्रेणी की हिन्दू जनता केवल उत्पादक मर थी उपभोग से उसका कोई अर्थ न था।[1]

सन् १३९८ ई म क रता की प्रतिमूर्ति तैमूर का प्रसिद्ध एवं भयानक आक्रमण हुआ। इस आक्रमण का वर्णन बड़ा लोमहर्षक है। हिन्दुओं द्वारा पराजय स्वीकार कर भी जान पर भी उन्हें हर प्रकार से लूटा गया उनकी सम्पत्ति को नष्ट किया गया[2] और खेत-खलिहान जला दिये गये। तैमूर की सामान्य आज्ञा से उसके सैनिक अन्न धान्य अनाज जानवरों के लिए खाद्य बलात् घरों से घुसकर लूट लाते थे।[3] जब तक तैमूर रहा तब तक ही जनता के प्राण संकटों में पड़े ही रहते थे उसके प्रत्यागमन के अन्तर देश व्यापी अकाल दुर्भिक्ष भुखमरी ने जनता के जीवन को ग्रस्त कर लिया। खेती-बारी पूर्णतया नष्ट हो गई थी।[4] तैमूर के आक्रमण ने देश को और भी अधिक बर्बाद कर दिया।

बाबर और हुमायूं के समय की आर्थिक-दशा के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात नहीं हो सका क्योंकि 'बाबरनामा' में जो आर्थिक-स्थिति दिखाई गई है उससे अनेक इतिहासकार सहमत नहीं हैं। उसी प्रकार हुमायूं नामा (गुलबदन बेगम) में जो आर्थिक-स्थिति का उल्लेख किया गया है उससे भी इतिहासकार सहमत नहीं हैं। अकबर के समय की आर्थिक-दशा अच्छी थी[5] इसका प्रमाण योरपीय यात्रियों के विवरण से भी प्राप्त हो जाता है। साथ ही उसके तथ्यों का प्रमाण 'आइन-ए-अकबरी' म भी मिलता है। बाद के मुगल-शासकों के समय की आर्थिक-स्थिति का ज्ञान भी इतिहासों से प्राप्त हो जाता था। इस काल में यूरोपीय व्यापारियों ने अपनी कोठियां समुद्र-तट के नगरों में स्थापित कर ली थी और उनके लेखा-जोखा से मुगल-युग के आर्थिक-जीवन की जानकारी प्राप्त हो जाती है। ये विवरण साथ ही साथ प्रामाणिक भी हैं।

---

१ भारत का बृहद् इतिहास पृष्ठ ११२।

2 The Rai submitted. but the Amir inflicted heavy punishments pon the inhabitants of Bhatnir Men and Women were slain, and their food were fo cibly seized and the buildings and the fort were raized to the Ground

—A Short History of Muslim Rule in India—page 165

3 A Short History of Muslim Rule In India—page 165.

4. To the sufferings consequent upon a war conducted by heartless ruffians, fired by a fantastic thirst of bloodshed and plunder were dded the horrors of famine and pestilence which destroyed men and cattle, and caused suspension of agriculture.

—A Short History of Muslim Rule in India—Page 166.

5 A Short History of Muslim Rule in India—Page 636

मुगल-युग में भारत के अनेक नगर बहुत ही समृद्ध थे।[1] आगरा फतेहपुर सीकरी लाहौर बुरहानपुर, अहमदाबाद बनारस पटना राजमहल बर्दवान हुगली चटगांव ढाका आदि इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

अकबर ने १५७७ ई में अब्दुस्समद शिराजी को दिल्ली टकसाल का दारोगा बनाया और मुगल-युग की मुद्रा-पद्धति को स्थायी व नियमित रूप देने की चेष्टा की। इसी प्रकार अन्य शहरों के टकसालों के भी दारोगा नियुक्त किये गये। यह व्यवस्था की गई कि इन विभिन्न टकसालों में जिन सिक्कों का निर्माण हो वह तोल आकार व धातु-शुद्धता की दृष्टि से एक सदृश हों। वस्तुओं की कीमतें भी निर्धारित की गईं।[2] जिससे जनता सुगमतापूर्वक वस्तुओं को प्राप्त कर ले।

मुगल-काल में बहुसंख्यक लोग खेती ही करते थे परन्तु व्यवसाय एवं शिल्प भी इस युग मे विकसित हो चुके थे। भारत के सूती व रेशमी कपड़ों की मांग अन्य देशों में थी। यदि अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध तक व्यावसायिक जीवन को ध्यान में रखा जाय तो भारत भी व्यावसायिक दृष्टि से उच्च-स्तर पर था।

वस्त्र-व्यवसाय भारत का सर्व प्रधान व्यवसाय था। गुजरात खानदेश बनारस पटना आदि इस व्यवसाय के केन्द्र थे परन्तु मुगल-युग में भी भारत को अनेक दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ा। सन् १५५५ व १५५६ में बियाना के समीपवर्ती प्रदेशों में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। इस दुर्भिक्ष का वर्णन करते हुये बदायूनी ने लिखा है

'लोग मानव मांस को खाने में तत्पर हो गये और दुर्भिक्ष पीड़ित मर,मारियों की दशा को आँख से देखना सम्भव नहीं रहा। वह सम्पूर्ण प्रदेश एक रेगिस्तान की भांति दिखाई देने लगा।'[3] १५७३-७४ में गुजरात में दुर्भिक्ष पड़ा जिसके साथ भयंकर महामारी भी फैल गई। अनाज के अभाव में कीमत बढ़ने लगी और लोग अनेक कष्ट भोगने लगे। सन् १५९५ से १५९ तक भारत को फिर एक बार दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा और नर-मांस भक्षण तक में लोगों ने संकोच न किया। ये तीन दुर्भिक्ष क्रमश बाबर, हुमायू व अकबर के समय में हुए।[4] जहाँगीर के

---

१ १५ ५ मे फिच नामक यूरोपियन यात्री ने लिखा है

आगरा और फतेहपुर दो बहुत बड़े-बड़े नगर है। इन दो मे से प्रत्येक विशालता और जनसंख्या की दृष्टि से लंदन की अपेक्षा बहुत बड़ा है। आगरा और फतेहपुर के बीच का अन्तर १२ मील है। इस सुदीर्घ मार्ग के दोनों ओर बड़ी-बड़ी दुकानें है इस पर चलते हुये इतने मनुष्य मार्ग में मिलते हैं मानों हम बाजार मे घूम रहे हैं।

२ आइन-ए-अकबरी में वस्तुओ की कीमतें दी है।

३ एं शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृष्ठ ९५१।

४ गोस्वामी तुलसी दास ने भी लिखा है।

कलि बारहिं बार दुकाल परै, बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।

शासन काल में भारत को किसी दुर्भिक्ष का सामना न करना पड़ा। परन्तु सन् १६३ में शाहजहाँ के शासनकाल में दक्षिण और गुजरात में फिर एक बार भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा।[1] सन् १११५ से १६४२ के मध्य में देश में अनेक बार दुर्भिक्ष पड़े। सन् ११४५ से ४६ का दुर्भिक्ष बड़ा ही भयंकर था। देश में त्राहि-त्राहि मच गई। लोग नर भक्षक बन गये। सन् ११५ और ११२८ में सूरत में व्यापक दुर्भिक्ष पड़े। वस्तुओं के मूल्य बहुत बढ़ गये। सन् ११२६ तथा सन् ११६ में भी देश के विभिन्न स्थानों में दुर्भिक्ष पड़े जिनके कारण मानवता अत्यधिक दुःखी और पीड़ित रही।[2]

मुगल शासकों ने दुर्भिक्ष के अवसरों पर जनता की सहायता की परन्तु उनके द्वारा की गई व्यवस्थाओं से जनता को लाभ न हो सका क्योंकि उससे भी लाभ उठाने वाला उच्च वर्ग ही था। मुगल-काल में अन्न की समस्या ही मुख्य समस्या थी। तुलसीदास का रोटी के लिए 'द्वारे ते ललात बिललात' प्रसिद्ध ही है। इस अन्न की समस्या ने समाज में विषमता ला दी थी

"खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिक न चाकर को चाकरी
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सौं कहाँ जाइ का करी"
(गोस्वामी तुलसीदास)

रोटी के ही प्रश्न ने भारतीयों के सम्मिलित परिवार की भावना को भी ठेस पहुँचाई।[3] दासता की भावना जागृत हुई

मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं।
उदर भरइ सोइ पाठ पढ़ावहिं ॥[4]

शासकों द्वारा सतत् शोषित और भगवान द्वारा दिये गये दुर्भिक्षों की ज्वाला से पीड़ित प्रजा की आर्थिक-दशा शोचनीय थी।

---

१ डच व्यापारी ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है
"गलियों में अर्ध मृत दशा में पड़े हुये लोगों को दूसरे लोग मार डालते थे और मनुष्य-मनुष्य का भक्षण करने के लिये तत्पर हो गये थे।"

२ रीति-कालीन हिन्दी-साहित्य (लेख)—डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित।

३ मात पिता सुत मित सौं पाती
करैं पियार भया सब काहीं।
जब नहिं पूत कमाना होई
निसरि जाय अम्मा यो सोइ॥
। नूर मुहम्मद इन्द्रावती। उत्तरार्द्ध।

४ गोस्वामी तुलसीदास रामचरित मानस उत्तरकांड

"ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी ।"[1]

आर्थिक-कष्ट से समाज की सुख शान्ति विनष्ट हो गई थी । परस्पर घृणा ईर्ष्या लोभ का ताण्डव समाज में दिखाई पड़ता था । जनता की गाढ़ी कमाई का धन राज वर्ग की विलासिता की पूर्तियों में व्यय होता था । हिन्दू-जनता की आय से अर्ध भाग के करीब केवल हिन्दू होने के नाते ही करों में देना पड़ जाता था । औरंगजेब ने तो कर और भी बढ़ा दिये थे और युद्ध के लिये जाने वाली फौजों के कारण खेती भी ठीक से नहीं हो पाती थी

"चाकरी न आकरी न खेती न बनिज भीख"[2]

आर्थिक दृष्टि से मुगल-काल में जनता तीन भागों में विभाजित थी । प्रथम मनसबदार थे राजकर्मचारी द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत आते थे और तृतीय श्रेणी में उनकी गणना होती थी जो अपने परिश्रम के आधार पर जीवन के दिवस पूरे करते थे । प्रथम वर्ग सम्राट का पूर्णतया अनुकरण करता था । मद्य मांस मदिरा और कामिनी में अनुरक्त रहता था । यह वर्ग अधिक से अधिक व्यय करके आराम की वस्तुओं का संग्रह करता था । आराम और वैभव के लिये ये सब कुछ व्यय करने को उद्यत रहते थे । इसी श्रेणी के द्वारा विदेशी सामान खरीदा जाता था ।[4] मध्यवर्ग का जीवन सुखमय था । इसी श्रेणी में निम्न कोटि के राजकर्मचारी भी थे जो औरंगजेब के राज्य-काल में विशेष दुखी थे ।[5] तृतीय श्रेणी या निम्न-वर्ग के लोगों का जीवन बड़ा दुःखमय और संघर्ष प्रधान था । उनकी आय उनके खाने भर के लिये पर्याप्त नहीं थी । उनके पास ऊनी वस्त्रों का अभाव था ।[6] अकबर के राज्य-काल में निम्नवर्ग भी सुखी था । जहाँगीर के समय मजदूरों की दशा-हीन थी उन्हें पूरा वेतन नहीं मिलता था ।[8] मजदूरों से बेगार भी जाती थी । इस श्रेणी के लोग दिन

---

१ तुलसी-ग्रंथावली दूसरा खंड (कवितावली) पृष्ठ १८५ ।
२ तुलसी-ग्रन्थावली दूसरा खंड (कवितावली) पृष्ठ १७९ ।
३ ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृष्ठ ४८६ ।
४ ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया पृष्ठ ६४८ ।
5 A Short Hi t ry f Muslim Rule I India—Page 680.
6 A Short History of Muslim Rule in India—Page 651
7 A Short History of M lim Rule I India—Pag 657
8. A Short History of Muslim Rule in India—Page 651
"The workmen were not paid adequate w ges."
9. "They were used by forc and made to work in the house of a noble or officer who paid them what he liked.

Ibid—By Dr Ishw ri Pr sad—Page 651

भर में एक बार खिचड़ी का भोजन करते थे।[1] औरंगजेब के राज्य-काल में निम्न वर्ग की बड़ी दुर्दशा थी। इतिहासकार सरकार ने इस वर्ग की आर्थिक दशा का सविस्तार वर्णन किया है।[2]

मुगल-साम्राज्य में भारतीय-जनता की आर्थिक-दशा निरन्तर शोचनीय बनी रही। इतिहासकार स्मिथ का मत है[3] कि अकबर के राज्यकाल में जनता की आर्थिक दशा आज की तुलना में अच्छी थी। यही दशा शाहजहां के समय में भी रही। शाहजहां अर्थ-विषयक विभाग का निरीक्षण स्वतः करता था। वह स्वयं विषम समस्याओं पर विचार करके उनका हल निकालता रहता था। जनता की आर्थिक-स्थिति का ह्रास औरंगजेब के समय से प्रारम्भ हुआ।[4] इस ह्रास की स्थिति के कई कारण थे। हिन्दुओं की आय और कमाई का आधे से अधिक भाग जजिया में निकल जाता था। इसके अतिरिक्त उन्हें तीर्थ-यात्रा-कर एवं तथा अन्य सामाजिक कर समय समय पर देने पड़ते थे। औरंगजेब की फौजें खेतों को नष्ट करती हुई जाती थी। दक्षिण के दीर्घ और व्यापक युद्धों के कारण जनता की दशा आर्थिक दृष्टि से और भी हीन होती गई। औरंगजेब की अदूरदर्शिता धार्मिकता तथा दक्षिण के व्यापक और दीर्घकालीन युद्धों के कारण किसानों और व्यापारियों की दशा विकृत बनी रही।[5] देश में चारों ओर लूट-मार का बाहुल्य था। जनता लुटेरों के कारण तथा आर्थिक विषमताओं के कारण घूसखोरी का दोष सर्वत्र व्याप्त था।[6]

औरंगजेब के राज्य-काल में वाणिज्य या व्यापार क्षीण हो चुका था। अकबर की दूर-दर्शिता और व्यापार कुशलता के कारण देश में व्यापार की वृद्धि हुई थी।[7] जहांगीर के समय में जनता के मध्य नई बाजारें, दुकानें और मेले आदि लगवाये

---

1 "They took one meal a day and this consisted of Khichri – their houses were built of mud with thatched roof
Ib d—By Dr Ishwari Prasad—Page 651

2 History of Aurangzeba—by Sarkar Vol. V Ch 62 P ge—489 441 443 445 and 445 447

3 The ordinary labou er n Akbars days had more to eat than he has now and was happier than his compatriot today
A Short History of Musl m Rule In India—P ge 636

4 History of Aurangzeb—by S rkar
Vol. V Cha. 62 P 439-44

5 History of Aurangzeb—by Sarkar
Vol III Ch. 62 P 439-41

6 History of Aurangzeb—by Sarkar
Vol III Ch. 62 P 461

7 Akbar the gr at Moughal—By Smith—P 411

गये ।[1] शाहजहां के समय में विदेशो से सम्बन्ध स्थापित किये गये ।[2] इतिहासकार इस बात से पूर्णतया सहमत हैं कि शाहजहां के शासन काल में व्यापार की अच्छी उन्नति हुई ।[3] औरंगजेब ने अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित समस्त व्यापारिक सम्बन्धों को सदैव के लिये समाप्त कर दिया । व्यापारियों पर नये नये कर और नियम लगा कर उन्हें अपने राज्य से हटाने का प्रयत्न किया ।[4] औरंगजेब के राज्य-काल में विदेशी व्यापारियों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा ।[5] व्यापारियों की सुरक्षा का प्रबन्ध अच्छा नहीं था ।[6] औरंगजेब की मृत्यु-काल तक भारत का व्यापार

---

1 'Trade in Jahangir's time was brisk and market had firmer tone. Distant markets were tapped and new markets opened because of the increased demands. of the Portuguese the Dutch and the English.

— 'The Commercial policy f Moughal'
—By Dr D Pant.—P ge 146

2 "Shahjah n was a good trader'
— 'The Commercial Policy of Moughal"
—By Dr D pant.—Page 210

3 The Commercial Policy of M ughal.
—By D D p nt —Page 201

4 Aurangzeb was not trader H was anhilator of trade. The various monopolies in salts wax silk and other were the creation of his. governors. All trade regulations violated and various interference in trade mou ted to a policy of abstruction."

'The Commercial P licy of Moughal"
—By D D Pant.—P ge 242

5 The Portugues trade was completely Smashed by Aurangzeb The English suffered much —E glish trade had consider bly decreased du ing Aurangzed reign

'The Commercial Policy f Moughal
—By Dr D Pa t.—Page 240.

6 "Trade in th latter part f Aurangzed s reign f llowed rung i the othe parts of Empire for safety to lif and presperity wa very little.

"The Commercl l Policy of Mo ghal
—By D D Pant.—P g 240

प्राय समाप्त और नष्ट हो चुका था।[1] वास्तव में यह सब औरंगजेब की कट्टरता एवं धार्मिकता का फल था। औरंगजेब के राज्य में बढ़ी हुई चुंगी की द और करों ने व्यापार की स्थिति को और भी क्षीण कर दिया था। हिन्दू व्यापारियों को मिटाने के लिये औरंगजेब ने कोई प्रयत्न अवशेष नहीं रक्खा।[2]

औरंगजेब से लेकर ईस्ट इण्डिया-कम्पनी की स्थापना तक देश की आर्थिक-स्थिति बहुत विकृत बनी रही। औरंगजेब की मृत्यु-तिथि सन् १७०७ से लेकर शाहआलम के राज्यकाल सन् १७७१ तक देश के सिंहासन पर कोई शासक स्थिर होकर बहुत समय तक राज्य न कर सका। प्रत्येक शासक राज्य सिंहासन के मंच पर आता और दुर्भाग्य तथा परिस्थितियों से अपमानित होकर राजनीति के पर्दे के पीछे अन्तर्हित हो जाता था। इस अवधि में बहादुरशाह, जहाँदार फर्रुखसियर मुहम्मदशाह, मुहम्मदशाह अहमदशाह आलमगीर सानी शाह आलम आदि शासकों ने भारतवर्ष के सिंहासन पर राज्य किया। परन्तु इन सभी का राज्यकाल अनिश्चित एवं अशांति में युक्त था। उनमें से कोई इतना शक्तिशाली न था जो देश की ह्रासमान परिस्थितियों को समाप्त करके उसे उन्नति की ओर अग्रसर कर सकता। भारतीय शासन क्रमशः शिथिल और शक्तिहीन होता गया और दूसरी ओर ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी का राज्य और अधिकार सुदृढ़ होता गया। सन् १७७४ से सन् १७८५ तक लार्ड हेस्टिंग्ज ने कम्पनी सरकार की नीति को गवर्नर-जनरल पद से कार्यान्वित किया था।

सन् १७०७ से लेकर सन् १७७१ तक राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति के साथ ही साथ देश की आर्थिक स्थिति भी विकृत होती गई। नित्य नये उत्पात गृहयुद्ध आक्रमण और पारस्परिक कलह के कारण देश की व्यापारिक तथा आर्थिक परिस्थिति ह्रासमान होती गई। बहादुरशाह को राजपूतों से युद्ध करने पड़े।[3] इसके अनन्तर फर्रुखसियर के राज्य-काल की अवधि छः वर्षों तक चलती रही। इस काल में देश की सभी प्रकार की परिस्थितियाँ मरहठों[4] सिक्खों[5] तथा सैयदों[6] के कारण

---

१ India at the death of Aurangzeb was like a cripple needing the support of others. Sh leaned more and more on the English From the prowed position of great manufacturing country send ng her goods far wide. She became a heiver of wood and drawer of mater All this followed from the neferous activities of Aurangzeb who inforcing his faith last this throne."

Th Commercial Policy of Moughal.

—By Dr D Pant.—Page 241-242.

२ A Short History of Muslim Rule in India – Page 605.

३ लेटर मुगल्स विलियम इर्विन पृष्ठ ६६।

४ लेटर मुगल्स विलियम इर्विन पृष्ठ १८२।

५ लेटर मुगल्स विलियम इर्विन पृष्ठ ९०।

६ लेटर मुगल्स विलियम इर्विन पृष्ठ १२७ १४१।

निरन्तर युद्ध चली रहीं। सन् १७३९ में भारत ने नादिरशाह के आक्रमण को झेला। इस आक्रमण से देश की रही-सही आर्थिक परिस्थिति और भी हीन हो गई। लोग भूखों मरने लगे। सन् १७४७ १७५१ १७५६ १७५७ ई० में अहमदशाह दुर्रानी के चार भयानक और विपत्ति बरसानेवाले आक्रमण हुये। इन युद्धों और आक्रमणों के कारण नयी विपत्ति उपस्थित रहती थी। खेती-बारी इन युद्धों और अभियानों के कारण कभी पनपने नही पाती थी। व्यापार म हर प्रकार की हानि की सम्भावना बनी रहने के कारण कोई व्यापारी निश्चिन्त होकर पूरा समय और ध्यान नही दे पाता था। इस समय हर प्रकार की असंगति या विषमताएँ तथा विभीषिकाएँ समाज को अभिशप्त कर रही थी। इस समय की आर्थिक-परिस्थितियों का चित्रण सत-कवि चरण दास ने बड़ ही रोचक ढंग से संक्षेप में किया है

> एकन पग पनही नहीं एक चढ़ै सुख पाल ॥
> नही जो मोहि बताइये एक मुक्ति को जाहि।
> एक नरक को जाय कर मार जमों की खाहि ॥
> एक दुखी इक अति सुखी एक भूप एक रंक।
> एकन को विद्या बड़ी एक पढ़ें नहि अंक ॥
> एकन को मेवा मिलें एक चने भी नाहि।
> कारन कौन दिखाइये करि बरनन की ठाहि ॥
> नही मोहि समझाइये मन को धोखा जाय।
> तू ही करि निस्सन्देह मैं रहो चरन लिपटाय ॥

मुगल-काल मे धन वैभव सत्ता और ऐश्वर्य केवल कुछ व्यक्तियो के हाथो म कन्द्रित था। उच्च-वर्ग तथा शासक-वर्ग प्रासाद-निर्माण नृत्य एवं सुरापान मे लाखों रुपये व्यय करता था परन्तु जनता की भलाई और उन्नति के लिए उनके पास अवकाश नही था। यह वर्ग अपने स्वार्थों मे सदैव संलग्न रहता था। समाज की आर्थिक विषमताओ ने देश की संस्कृति को असंतुलित कर दिया था। आर्थिक असमानता ने भारतीय-जनता की एकरूपता को नष्ट कर दिया और जनता मे भाँति भाँति का भेद-भाव समुत्पन्न हो गया।

इन आर्थिक परिस्थितियों ने भारतीय जनता को कगाल बना दिया था। इसका प्रभाव मध्य-वर्ग व निम्नवर्ग पर ही अधिक पड़ा। हमारे निर्गुण सत-कवियो ने जनता के इस वर्ग का ध्यान ईश्वर की ओर लाने की चेष्टा की क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई भी सहारा न था। सत कबीरदास ने तो स्पष्ट शब्दों म जनता को सतोष धारण करने का उपदेश दिया। उन्होने सतोष-धन को ही श्रेष्ठ बताया

> गोधन गजधन बाज धन और रतन धन खान।
> जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान ॥

जीवन की विषमता को पूर्णरूपेण समझने वाले निपुण संत-कवियों ने मानव सुलभ तृष्णा की भी कड़ी आलोचना की क्योंकि तृष्णा के ही कारण मानव में संतोष नहीं आने पाता है। तृष्णावान् मानव कहीं भी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। इस कारण तृष्णा से दूर ही रहना चाहिए।[1] शोषण के विरुद्ध भी हमारे संत कवियों ने कहा

> कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
> आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय।।

कितनी सुन्दर भावना है स्वयं ठगे जाओ परन्तु किसी दूसरे को न ठगो। इस प्रकार इन सन्त-कवियों ने धन को अभिशाप बतलाकर दीनता में ही सुख का अनुभव करना सिखलाया

> सब ते लघुताई भली लघुता ते सब होय।
> जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय।।
>
> (कबीर)

अन्त में हम यही कहेंगे कि उन पाँच-सौ वर्षों में जनता का एक ओर तो शासक वर्ग शोषण कर ही रहा था। दूसरी ओर दुर्भिक्ष के कारण और भी स्थिति खराब हो गई थी। ऐसे आर्थिक कष्ट के युग में हमारे संत-कवियों ने जो सन्तोष और दीनता का महत्त्व प्रदर्शित किया उसने निश्चय ही जनता को अपनी स्थिति में स्थिर रहने और ईश्वर प्रेम में रत रहने का उपदेश दिया।

धार्मिक परिस्थितियाँ

समाज धर्म और साहित्य का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये तीनों किसी न किसी रूप में एक दूसरे के विकास में सहायक होते हैं। साथ ही यह भी निश्चित है कि एक के भ्रष्ट होने पर शेष दो भी किसी न किसी रूप में भ्रष्ट और उद्देश्यविहीन बन जाते हैं। उदाहरणार्थ समाज के पतित हो जाने पर धर्म और साहित्य स्वतः हीन भावनाओं से सम्पन्न हो जाते हैं। जब साहित्य सक्रिय और सद्भावनाओं से सम्पन्न होता है तो समाज और साहित्य स्वतः समुन्नत बन जाते हैं। समाज धर्म और साहित्य तीनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। तीनों का विकास और ह्रास एक दूसरे पर निर्भर है। तेरहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के समाज साहित्य और धर्म की यही दशा थी। उत्तर-पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों

---

1. भी जिन्दा है डाकिनी की जीवन का नास।
   और और निस दिन करै जीवन करै बिनास।।
   —कबीर

ने भारतीय-समाज और धर्म को इतना पद-दलित किया कि भारतीय-जनता अपनी समस्त मौलिकता स्वातंत्र्य और प्रगतिशीलता को भूलकर जीवन के दिनों को पूरा करते रहने में ही अपने जीवन की कुशलता समझती रही। तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक बराबर भारतीय-जनता मुसलमान विजेताओं की तलवारों से इतनी आतंकित रही कि लाखों हिन्दुओं ने भारतीय कीड़े का सा जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा स्वधर्म निधनं श्रेयः को भूलकर इस्लाम-धर्म को हर प्रकार से अंगीकार कर लिया।

तेरहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक का समय भारतीय-संस्कृति के लिये बड़ा ही भयंकर और भयावह था। मुसलमानों के रूप में विनाश के बादल हिन्दू-जाति के मस्तक और क्षितिज पर सदैव छाये ही रहते थे। हिन्दुओं की जीवन-नौका इन पांच सौ-वर्षों में राजनीतिक उत्पातों अत्याचारों उत्पीड़नों के कारण निरन्तर अस्थिर ही बनी रहती थी। इस मध्य में न जाने कितनी ही बार भारत की पवित्र शस्य-श्यामला उर्वरा भूमि हिन्दुओं के रक्त से नहलाकर अपवित्र की गई। सिकन्दर लोदी महमूद गजनवी मुहम्मद गोरी बाबर, हुमायूँ शाहजहाँ औरंगजेब जैसी अनेक शक्तियों ने अपनी कठोरता के माध्यम से सहस्रों प्रकार से हिन्दुओं के दिल को दहलाकर, उन पर धार्मिक सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रतिबन्ध लगाकर उनके जीवन को नारकीय बना दिया। इन पांच-सौ वर्षों की राजनैतिक दशा संक्षेप में तीन शब्दों—दमन शोषण और उत्पीड़न में व्यक्त की जा सकती है। विनाश का भयावह-ताण्डव सर्वत्र विद्यमान था। इस समय का समाज हर प्रकार से त्रस्त था। जब समाज की यह दशा थी तो उस की धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियाँ क्या हो सकती हैं इसका अनुमान सरलता के साथ लगाया जा सकता है।

सन् ११२ से लेकर १४१२ ई तक भारत के सिंहासन पर तुगलक-वंश राज्य करता रहा। इन मध्यम १ वर्षों का इतिहास बड़ा अनिश्चित रहा। तुगलक शासक अस्थिर स्वभाव के थे। उनकी योजनाएं अत्यधिक महत्वाकांक्षाओं से अभिप्रेरित थीं। इब्नबतूता जैसे निष्पक्ष यात्रियों ने मुहम्मद तुगलक के व्यक्तित्व का बड़ा रोचक मूल्यांकन किया है।[1] मुहम्मद तुगलक के व्यक्तित्व का चित्रण करते हुये

---

1 M hammad is a man who bov all others is fond of making p es nt d hedd g blood There m y always be seen at his gat some poor person becoming rich or some loving one cond m ed t death His generou and brave action and his u l and lent d eds, ha btained celerity among the p pl Sul n seems to be n m zi g compound of contra d l t h wa lk ll medievl despots bject g t ps as m l g nd fl t d the most brutal punishment [hose who ff nd d t l h will irresp tl of he k d o wh h th y belonged
A Short Hi t f t Muslim R l n I dia—by
Dr Ishwari Pd.—l g 133.

डा. ईश्वरी प्रसाद ने कहा है "मुहम्मद कमजोर दिमाग का शासक था जो सदैव मुफ्ती और मौलवियों द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने के लिये अभिलाषी बना रहता था।"[1]

सन १३९८ में विनाश विपत्ति और विघटन का सन्देश लेकर तैमूर ने भारत वर्ष पर आक्रमण किया। तैमूर के आक्रमण का हिन्दू-धर्म तथा संस्कृति पर बड़ा दूषित और भयंकर प्रभाव पड़ा। उसके आक्रमण का लक्ष्य था काफिरों से इस देश को खाली कराके मुसलमान बसा देना।[2] तैमूर की क्रूरता का विवरण बड़ा लोमहर्षक है।[3] तैमूर के आक्रमण से देश में अराजकता तथा अशान्ति का हृदय-विदारक साम्राज्य चारों ओर प्रसारित हो गया।[4] तैमूर के आक्रमण के अनन्तर भारतीय राजनैतिक सांस्कृतिक तथा सामाजिक-जगत के निष्प्रभ खिज्रखां मुबारकशाह बहलोल लोदी तथा सिकन्दर लोदी बने। इतिहासकारों ने खिज्रखां की प्रशंसा की

---

1 H was weak m nded man who listened too much to the advice of muftis and maulvies, the results of this policy were seen fter a generat on in the complet disintegration of the Sultanat of Delhi

2 His moti e in doing so w to purify the land itself from th filth of nfidelity and polytheism.

A Short History of Muslim Rule in India
—By Dr Ishwari Prasad—Page 166

3 Men and women were slain, their goods were forcibly seized and the buildings and the fort were razed to the ground .. when Timur reached near Delhi ordered that the 100,000 Hindus who were in h campus should be put to death for he thought that on the great d y of battle they might break their bonds and go ver to the enemy Even such a pious man as Maulana Nasir-ud-din Omar who had never killed a sparrow in his life, slew 15 Hindus who happened to be his prisoners

A Short History of Muslim Rule i India
—By D Ishwari Prasad—Page 165.

4 Timu s invasion caused w de spread anarchy in Hindustan. The Government of Delhi was complet ly paralysed and greatest confusion prevailed To th sufferi gs consequent upon a war conducted by heartless ruffians fired by a fantastic thirst fo blood shed and plunder were added the horrors of famine and which distr yed men and cattle and caused suspension of agriculture.

—A Short History of Muslim Rule in India—
—By Dr Ishwari Pd.—Page 166

है।[1] पर मुबारकशाह कमजोर और अनिश्चित स्वभाव का व्यक्ति था।[2] बहलोल लोदी के अनन्तर उसका पुत्र सिकन्दर लोदी गद्दी पर बैठा। इतिहासकारों का कथन है कि सिकन्दर लोदी अत्यधिक संकीर्ण और हिन्दुत्व का विरोधी था। न जाने कितने हिन्दुओं को उसकी आज्ञा के परिपालन के लिये वध कर दिया गया। सिकन्दर लोदी की संकीर्णता का विवरण बड़ा व्यापक और घृणा उत्पन्न करने वाला है।[3] इस प्रकार के राजनैतिक उत्पीड़न से भरे हुये युग में देश की धार्मिक परिस्थितियों का सहज रूप से अनुमान लगाया जा सकता है। कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन साधक थे। कबीर न केवल साधक थे वरन् वे युग-द्रष्टा और सृष्टा भी थे। उन्होंने बहुत ही उदार दृष्टि से अपनी समकालीन परिस्थितियों का अध्ययन किया और बड़े ही कटु अनुभव किये। उन्होंने देखा कि तत्कालीन देश की धार्मिक और सामाजिक स्थितियाँ बड़ी विकृत हैं। जनता की आस्था सत्य से हटकर असत्य में संलग्न है। मानवता पथभ्रष्ट हो चुकी है और मानव जीवन का कोई मूल्य नहीं है। राजनीति के झिलमिले आवरण में मानव आमूल परिवर्तित होकर दानव हो गया है। मानव समाज द्वैत के संकल्प-विकल्प में पड़ा हुआ बाह्याचारों में संलग्न है। वह भक्ति के पथ से विचलित होकर माया-काया के मोह में पड़ा हुआ था।[4] मनुष्य रंक-राव

---

1 A Short History of Muslim Rule in India—
—By Dr Ishwari Pd —Page 212

2 A Short History of Muslim Rule in India—
—By Dr Ishwari Pd —Page 213

3 He was intensely religious and allowed himself to be guided and dominated by ulmas' in every detail of government. He persecuted the Hindus and desired to banish idolatory from the land. So great was his zeal for faith that he once ordered the temples of Mathura to be destroyed and sorais and Mosques to be built in their stead. The Hindus were not allowed to bathe at the ghats on the banks of the Jamuna and an order was passed prohibiting barbers from shaving the heads and the beards of the Hindus in accordance with their religious customs.

A Short History of Muslim Rule in India —Page 221

४ जागि रे मन बौरा जगमग ॥

अबकी बार मरे बनि जाई सीझा हाथ सिंधौरा ।
प्रीति प्रतीति करो दृढ़ गुरु की सुनो सबद अनजोरा ॥
होइ निसंक मगन ह्वै नाचै लोभ मोह भ्रम छाड़ै ।
सूरा कहा मरन से डरपै सती न संचय भाँडै ॥
लोक लाज कुल की मरजादा यही गले की फाँसी ।
आगे ह्वै पग पाछे धरिहौ होय जगत में हाँसी ॥
यह संसार सकल जग मैला नाम गहे तेहि सूचा ।
कहैं कबीर भक्ति मत छोड़ो गिरत परत चढ़ ऊँचा ॥

सं॰ बा॰ सं॰ भाग २ पृष्ठ २ ।

वैभव कनक-कामिनी के मोह में पड़कर पथभ्रष्ट हो गया था।[1] जैसे अबोध बालक-बालिका गुड़ियों-गुड्डों से अपने मन को बहलाते रहते हैं उसी प्रकार तत्कालीन मानव-समाज देवता पितर भुइयाँ भवानी की उपासना में अपने कष्टों का परिष्कार करने की योजना बना रहा था। वास्तव में सत भक्ति या सत्-धर्म उस समय विलीन हो गया था। जीवन असत् तम और कृत्रिमता से आवृत हो गया था[2] तीर्थ व्रत जप-तप आदि क्रियाओं में भटकता हुआ मानव अद्वैत ब्रह्म को बिसर गया था।[3] समाज झूठे सुख को वास्तविक सुख मानकर उसी में रमा हुआ था।[4] वाह्याचारों में उलझे हुए समाज को देखकर कबीर ने कहा है।

> सिर का कारन मुगन है तेरा बसन अकेला।
> साच न जाने बापुरो रहे माँगना देहा॥

तीर्थों मे भटकते हुए[5] पत्थरों की पूजा करते हुये मानव दुष्कर्म कर तथा क्रूरता से भरे हुये कार्यों मे मग्न हुए थे।[6] कबीर के युग में हिन्दू-धर्म बाह्य प्रभावों और दोषों से तो अभिशप्त था ही साथ-साथ आभ्यन्तरिक दोष भी उसे खोखला बनाये डाल रहे थे। धर्म के पवित्र रूप को वाह्याचारों और असत्य ने इस प्रकार आच्छादित कर लिया था कि असत्य ही सत्य के रूप में प्रतिभासित सा प्रतीत होने

---

1 इतना किसो करार बाढ़ि गुरु बाहुर कीन्हा।
   भूलि गयो यह बात भवा माया आधीना॥
   विषया बान तमाम देहूँ जावन मद माती।
   बसत निहारत छाँह गमक के बोलत बाती॥
   बाबा बस्तर लाइ के पहिरे बसन रंगाय।
   गलिया-गलिया आवी मारे १र सिरिया लख मुसकाय॥
   स बा स भाग २ पृष्ठ २१।

2 करी अमन तजि साईं मिलन की॥
   गुड़िया गुड्डा सूप सुपलिया।
   तजिरे बुधि लरिकैया खेलन की॥
   देवता पितर भुइया भवानी।
   यह मारग चौरासी चलन की॥
   सं बा स भाग २ पृष्ठ २२।

3 स बा स भाग १ पृष्ठ ५।

4 सं बा स भाग १ पृष्ठ ६।

5 स बा स भाग १ पृष्ठ २१ १।

6 सं बा भाग स १ पृष्ठ ६२ १।

7 स बा स भाग १ पृष्ठ ६२ ४।

गया। अंधविश्वासों ने सद्विश्वासों का स्थान ग्रहण कर लिया था। अहिंसा त्याग और सत्य का स्थान पशुबलि नर-बलि और हिंसा ने ग्रहण कर लिया था। साधन के स्थान पर बाह्याचारों की प्रतिष्ठा हो रही थी। कबीर ने इस प्रवृत्ति की कटु आलोचना की। कबीर के समय ब्राह्मण बहुपठित तो थे पर उन्हें तत्व ज्ञान नहीं था। योगी माया में लिप्त तथा धूर्त साधक—जन निद्रा मैथुन और नारी में लिप्त थे। मंत्र देने वाले गुरु अहंकारी थे। कबीर के समय तक जनता नितान्त पथ भ्रष्ट हो चुकी थी। बड़े-बड़े योगी माया में लिप्त रहते थे। हिन्दू और मुसलमान धर्म के वास्तविक रूप को भूलकर हिंसा में प्रवृत्त थे। दोनों धर्म एक दूसरे से बाह्य विषयक भेद मान कर हिंसा में रत हो रहे थे। हिन्दू पत्थरों की पूजा कर रहे थे और मुसलमान पीर-औलियों द्वारा प्रवर्तित पथ पर अग्रसर थे। साधु लोग बाह्याचारों के दास बने हुये धन एकत्र करते फिरते रहते थे। और लोग चांदी के आभूषण पहनते थे। घोड़ा गोड़ियों पर चढ़ कर आनन्दपूर्वक विचरते रहते थे।[1] उनकी विवेक बुद्धि को असत्य ने आच्छादित कर रखा था। हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धार्मिक नेताओं का अन्धानुकरण कर रहे थे। धर्म के नाम पर अधर्म आचार के नाम पर अनाचार कबीर जैसे उदार दृष्टिकोण वाले युगद्रष्टा के लिये असह्य था। धर्म और साधना के क्षेत्र में खींचातानी कबीर को पसंद नहीं थी। इसलिये हिंसा में रत कुटिलता में पगे हुये और बाह्याचारों में संलग्न मानव को उन्होंने सहज ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया। कबीर के युग में धर्म के वास्तविक रूप को वेद कुरान पुराण ने आच्छादित कर रक्खा था। अतः उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथों की कटु आलोचना की।[1] कबीर ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध भी बहुत

---

१ साधु भया तो क्या भया माला पहिरी चारि।
बाहर भेष बनाइया भीतर भरी भंगारि॥
मन विरक्त नाम मन ठगा सोना पहिर लजावै बाना।
घोरी घोरा कीन्ह बटोरा गाव पाय जस चले करोरा॥

२ सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हे कोई।
जिन सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोई॥
सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हें कोई॥
पाचू राखै परसना सहज कहीजै सोई॥
सहजै सहजै सब गये सुत बित कामिनि काम।
एकमेक ह्वै मिलि रह्या दास कबीरा राम॥

३ वेद किताब दोय फंद पसारा।
ते फंदे पर आप विचारा॥
बीजक पृष्ठ २६६

सन् १२ से १५ तक देश की दशा निरन्तर विषम बनी रही। हिन्दू समाज हिन्दू संस्कृति पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। हिन्दू धर्म को नष्ट कर देने के लिये साम दाम दंड और भेद आदि सभी उपायों से प्रयत्न किया गया। इस गम्भीर विषम शोचनीय और नित्य ही परिवर्तनशील दशा में हिन्दुओं का धर्म संकट मे पड़ चुका था। उनके राम जनता के हृदय और मस्तिष्क से विलग हो चले थे। परिस्थिति इस बात की द्योतक थी। कि मूर्ति उपासक कितने निर्बल अशक्त और संकट में थे और दूसरी ओर मूर्ति-भंजक कितने बलवान और कितने ऐश्वर्यवान थे। मूर्ति भंजकोंको सुख और ऐश्वर्य के पालने में झूलते हुये देख कर हिन्दुओं का मूर्ति-पूजा से भी विश्वास उठ रहा था। वे इसकी नि-सारता पूर्णरूपेण समझ चुके थे। फलत महान् संघर्ष और क्रांति के इस युग मे एक ऐसे धार्मिक-आन्दोलन की आवश्यकता थी जो देश के निवासियो को अन्धकार में प्रकाश दिखा सके निराशा में आशा का संचार कर सके इस आवश्यकता की पूर्ति वैष्णव आन्दोलनों ने की। इसी परम्परा मे सन्तों ने उपासना के लिये निर्गुण ब्रह्म का आश्रय ग्रहण किया और इस भावना ने जातीय सांस्कृतिक तथा धार्मिक मतभेदों के लिये शेष अवसर भी समाप्त कर दिये।[1]

बाबर और हुमायू के राज्य काल में भारतवर्ष की धार्मिक स्थिति और भी विकृत हो गई थी। हिन्दू जनता को धार्मिकता का दंड भोगने के लिये भांति भांति के कर या टैक्स देने पड़ते थे। इतिहासकारों का मत है कि हिन्दू-जनता पर लगे हुये जजिया की दर बहुत अधिक थी।[2] हिन्दुओं को देवपासना करने की स्वतन्त्रता नहीं थी।[3] उन्हें अपने प्राचीन मन्दिरों का पुनरुद्धार कराने का भी अधिकार नहीं प्राप्त था।[4]

---

१ संत-दर्शन—डॉ॰ त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृष्ठ १९६—१७।

2. Th J lya was a very heavy burden to the masses. But It was not its, burden al e wli ch was irksome It was badge of inferiorlty round th neck of th unfaithful remini g them cons tantly that they f rmed a subject people u der an allen rule. The Jazly was not the only additional ta Imposed on the non-muslims. Most of M slim rulers collected a pilgrimage tax at the Hind places of religions f irs

The Religlous Policy of Mughal Emperor
—By S R Sharma—page 2

3. *Public worish p of H ndn idols wa forbidden*
The Sh Hut ry of M sllm R l in I dia
—D I hv ri Parsad—Page 3.

4. Thu t was h ld th t th Hindus should not be allowed to build w P bl temples or to epai ld ones
—Ib d D I hwari P rsad—P g 4

हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य स्थिति भद इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी नौकरी केवल मुसलमानों को ही दी जाती थी।[१] बाबर की आज्ञा से मीरबाकी ने हिन्दुओं और जैनियों के अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों को ध्वंस करके उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया था।[२] बाबर अपनी धार्मिक-नीति में बड़ा अनुदार था।[३] हुमायूं से वह एक बार इसलिये असंतुष्ट हो गया था कि हुमायूं ने कारणों से प्रेरित हो कर एक मामले में हिन्दुओं के प्रति क्षमा प्रदर्शित की थी।[४] बाबर और हुमायूं के राज्य-काल में हिन्दू-जनता बराबर यह अनुभव करती रही कि उसका जीवन दुःखमय है।।

हुमायूं के अनन्तर भारतवर्ष के सिंहासन पर अकबर आसीन हुआ। अकबर के समकालीन संत-कवि मथुरादास ने बहुत संक्षेप में अकबर की धार्मिक-नीति और देश की धार्मिक-परिस्थिति का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है

तीस बरस तक अकबर रहा।
तिन साधुन सों कछु न कहा।।[५]

स्पष्ट है कि अपने तीस वर्ष के राज्य काल में अकबर ने हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में किंचित मात्र हस्तक्षेप नहीं किया। इस नीति के फलस्वरूप देश में पूर्ण शांति और स्वास्थ्य रहा। अकबर की धार्मिक-नीति और औदार्य को प्रभावित करने का बहुत कुछ श्रेय उसकी हिन्दू रानियों का था। उसके अंतःपुर में हिन्दू रानियां मूर्ति-पूजा व्रत जप दान स्वतन्त्रतापूर्वक किया करती थी।[६] अकबर के उपासना

---

1 The third dust net on between the Hindus and the muslims appeared in the public service

—Ibid Dr Ishwari Prasad—Page 5.

They were certanly deviced and share n the higher appoint ment in the stat

—Ibid, Dr Ishwari Parsad—Page 7

2 By Baber s order Mir Baqi destroyed the temple at Ayodhya Commemorating Rama s b rth place a d built a Mosque in its place i (1528 29) He nestroyed ja ldols at urva near Gwalio

—Ibid Dr I hwari Prasad—Page 9

3 *Ibid D Iswari Prasad—Page 9.*

4 Ibid D Ishwari Prasad—8

५ भक्त-परिचयी पृष्ठ ११।

६ बनारस-गाथा भाग दो पृष्ठ १११।
तथा तजकिरात उल मुल्क—
रफीउद्दीन सीराजी पृष्ठ १६६—१६७।

यह में सभी लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मतोंको प्रकट कर सकते थे।[1] अकबर ने अपने पूर्वजों द्वारा निर्धारित जजिया[2] तीर्थ-यात्रा-कर[3] तथा मंदिरों के पुनरुद्धार के विरुद्ध लगे हुये प्रतिबंधों को हटा दिया।[4] अकबर की सारग्राहिता और उदारता का एक उल्लेखनीय उदाहरण यह है कि उसने अथर्ववेद महाभारत तथा रामायण जैसे हिन्दुओं के उत्कृष्ट ग्रंथों का स्पष्टतार्थ अनुवाद कराया।[5] अकबर ने अपने राज्य में शुद्धि की भी आज्ञा दे दी थी।[6] सन् १५६२ ई० में उसने हिन्दू बन्दियों को बलात् मुसलमान बनाने की पूर्व प्रचलित प्रथा को भी विशेष उद्घोषणा के द्वारा रद्द कर दिया।[7] अकबर ने गोवध का निषेध कर दिया[8] और हिन्दुओं को उच्च-पदों पर नियुक्त किया। अकबर के अंतःपुर और राज प्रासाद के बाहर सबको सभी हिन्दू-त्यौहारों को मनाने की पूर्ण स्वच्छन्दता थी। अकबर का हृदय बड़ा उदार एवं विशाल था। वह हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू भाषा का प्रेमी था। बीरबल तथा गंग जैसे उच्च-कोटि के हिन्दी के कवि उसके दरबार में सम्मान के अधिकारी थे। अकबर ने अपने राज्य काल में 'पारसीक प्रकाश' ग्रन्थ की रचना भी कृष्ण दास द्वारा करवाई।[9] संक्षेप में अकबर के तीस वर्ष के राज्य-काल में धार्मिक-नीति की दृष्टि से हिन्दू-जाति को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने पाया।

अकबर के बाद जहांगीर राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। जहांगीर के समकालीन सधुरादास के शब्दों में

> तिनके पीछे भा जहांगीरा।
> करता भयल हरै सब पीरा॥[11]

जहांगीर की धार्मिक नीति के सम्बन्ध में वर्तमान लेखकों का सधुरादास से

---

१ रेलिजस पालिसी आफ मुगल इम्परर्स पृष्ठ १६।
२ अकबर-नामा पृष्ठ २ —२ ८।
तथा रेलिजस पालिसी आफ मुगल इम्परर्स पृष्ठ २१।
३ अकबर-नामा भाग २ पृष्ठ १६।
४ वा जरिक पृष्ठ ७५।
५ रेलिजस पालिसी आफ मुगल इम्परर्स पृष्ठ २५।
६ मुन्तखिब उत-तवारीख भाग २ बदायूनी पृष्ठ १११।
७ अकबर-नामा भाग २ पृष्ठ १५९।
मुन्तखिब उत-तवारीख भाग पृष्ठ २६१।
८ रेलिजस पालिसी आफ मुगल इम्परर्स पृष्ठ २६ २७।
[illegible] अप्रैल १६ ७ में डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का लेख पारसीक प्रकाश।
११ सधुरा-परिचयी पृष्ठ १६।

पूर्णतया साम्य है। जहांगीर ने अपनी धार्मिक-नीति म पिता का ही अनुसरण किया[1] किन्तु वह मुसलमानों के प्रति कुछ पक्षपातपूर्ण था।[2] इस्लाम के प्रति उसकी रुचि अधिक थी।[3] अकबर की भांति वह धर्म के ग्रहण और परित्याग क सम्बन्ध मे पूर्ण उदार नहीं था।[4] वह इस्लाम को अंगीकार करने वालों को अपने कोष स वृत्तियां देता था[5] और उनका विशेष आदर होता था।[6] इन अपवादों के अतिरिक्त वह प्राय उदार ही बना रहा। अनेकबार युद्ध के अवसरों पर उसने हिन्दुओं के मन्दिरों को नष्ट करवा दिया था। वह हिन्दू धार्मिकों के प्रति उदार था। संक्षेप म अकबर की तुलना मे जहांगीर की नीति कुछ सङ्कुचित हो थी।[10]

सन् १६२७ म जहांगीर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु क अनन्तर उसका पुत्र शाहजहां सिंहासन पर बैठा। मथुरादास ने शाहजहां के विषय में लिखा है

---

१ रेलिजस पालिसी-आफ मुग़ल इम्परर्स पृष्ठ ७।
   तथा दि हिस्ट्री आफ जहांगीर डा बनारसी प्रसाद पृष्ठ २१६।

2 He was chara terized being less favourably inclined to H'ndus.
   The Religous Policy of Moughal Emperors—Page 70

3. Jahangir would not go ba k on the path of tolerance which his father had opened but w thout embanking on active persecution the newly acquired status of Hindus He began to take interest in fortunes of Islam in his own territories.
   The Religious Policy of M ughal Emperors—Page 72

4. A short History of Muslim Rule in India
   Dr Ishwari Prasad—Page 72

5. The Memories of the Asiatic Society of B ngal
   Part V Page 154

६ तुज़क-ए-जहांगीरी पृष्ठ १४६।

7 Oxford History of India, By Smith, Page 397

8 Jahangi —R nd B
   P ges 254, 255 nd 2 5.

9. The Religious of Moughal Emperors—Page 74.

10 In short Jahangir ordinarily continued Akbar's toleration. He experimented in simultaneous maintenance of several religions by the state' with all this Jahangir sometimes acted as protector of tru faith than asking of vast magority of n n-muslims. Departures however slight from Akbar's wide outlook had thus began.
   The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 90

शाहजहाँ जिनके सुन राज।।
तिन पर बहुत गरीब नेवाजा ।।[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शाहजहाँ गरीबों पर दयालु था। परन्तु इस उद्धरण में 'फिर' शब्द ध्यान देने योग्य है। यह फिर शब्द दो बातों को स्पष्ट करता है। 'फिर' से यह आभास मिलता है कि यद्यपि वह जहाँगीर की भाँति उदार नहीं था फिर भी ग़नीमत था। फिर से एक और ध्वनि प्रस्फुटित होती है और वह है भविष्य में घटित होने वाली औरंगजेब की दुर्धर्ष नीति जिसकी तुलना में शाहजहाँ की नीति फिर भी अच्छी थी। शाहजहाँ की नीति कट्टरता के रंग में अनुरंजित थी। यद्यपि शाहजहाँ एक राजपूत नारी का पुत्र था जिसके पिता की माता स्वयं राजपूत स्त्री थी तथापि उसमें मातृ-पक्ष के इन स्वाभाविक गुणों का लेश-मात्र प्रभाव नहीं दृष्टिगत होता है।[2] सन् १६३५ ई० में उसने अपने को इस्लाम विरोधी शक्तियों का विनाशकारी शत्रु उद्घोषित किया।[3] उसकी आज्ञा से उच्च पद केवल मुसलमानों के लिये ही सुरक्षित कर दिये गये[4] और हिन्दू तीर्थयात्रियों पर कर लगा दिये गये।[5] सन् १६३२ में प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार और नवीन का निर्माण रुकवा दिया गया।[6] उसकी नीति देख कर मुसलमान अधिकारी हिन्दुओं को और भी पीड़ित करते थे। जुझार सिंह उसके परिवार और पत्नी के प्रति उसका जो व्यवहार था वह हिन्दुत्व विरोधी

---

1. मलूक-परिचयी पृष्ठ १६।
2. If Akba was liberal in his eligious views and Jahangir Indifferent to nice questions of theology Shahjahan was an orthodox muslim Although born of a R jput m ther to a father whose m ther w also Rajput princess Shahaj han does not seem to have much been much nfluenced by these factors. H was thirtysix at the time f accession and thus ld enough to chalk out a policy for himself

   The Religious P licy of Moughal Emper r—Page 94.
3. In 1635 h definitely p oclaimed himself a distroyed f ll those who did not conform to his ideas f Islam

   S H M R I—By Dr Ishwari Prasad P ge 96- 97
4. Ibid Dr I hw a I Prasad P ge 98
5. Ibid Dr Ishw ri Prasad Page 92
6. In 1032 Shahj h n had prohib ted the reation of new temples N importa t Hi d bu ld g religious or secular dates from his reign.

   Oxf rd History of India—By Smith—P ge 421
7. History f Shahjaha —

   —By Banarsi pr sad—Page 89 90

तत्व को प्रकट करने वाला सत्य था।[1] शाहजहां ने हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को भांति भांति से अभिशप्त कर रखा था।[2] संक्षेप में शाहजहां औरंगजेब की धर्मान्ध नीति की भूमिका के रूप में इतिहास के पृष्ठों में एक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व माना जा सकता है।

शाहजहां की मृत्यु (सन् १६५८) के अनन्तर उसका पुत्र औरंगजेब राजसिंहासन पर बैठा। औरंगजेब की राजनीति का उल्लेख करते हुए मलूकदास ने कहा है कि

शाहजहां पातशाह जब मुआ तेंह देस में बहु विस हुआ।
औरंगजेब ताहि सुत एका तेंह राज तिन कियो विवेका॥
शाहजहां सुत औरंगजेबा चले स्वधर्म कुरान कथा॥[3]

मलूकदास के प्रस्तुत उद्धरण का उत्तरार्ध विशेष ध्यान देने योग्य है। औरंगजेब ने कुरान को अपना पथ प्रदर्शक बनाकर अपनी धार्मिक-नीति का निर्माण किया।[4] औरंगजेब इस्लाम का निकट अनुयायी था इसीलिये राजसिंहासन पर बैठते ही राज्य में प्रचलित हिन्दू प्रथाओं[5] और राज्य पदों के लिए हिन्दुओं की नियुक्ति बन्द कर दी।[6] सन् १० २ में उसने फौज से भी हिन्दुओं को हटा दिया।[7] औरंगजेब अपने को इस्लाम राजधर्म का अध्यक्ष तथा स्वामी मानता था इस धर्म में धार्मिक असहिष्णुता पाप समझी जाती थी। मुहम्मद साहब के आदेशानुसार औरंगजेब ने सन् १६७९ में हिन्दुओं पर व्यापक रूप में जजिया कर लगा दिया।[8] मलूकदास ने भी औरंगजेब द्वारा लगाये हुये जजिया कर का उल्लेख किया है

काजी मुल्ला करै बड़ाई हिंदू को जाजिया लगवाई।
हिंदू जोग वेद सब कोई बरस दिनन में जैसा होई॥

---

1 History [illegible]f Shahjahan—By Dr Ishwari Prasad—Page 69
2 The Religiou[illegible] Policy of Moughal Emperors, Page. 94—95
३ मलूक-परिचयी-पृष्ठ १७।
4. He was a muslim K[illegible]g and it seemed to him unreasonable not to govern country [illegible]ccording to his interpretation of injuctions Quran [illegible]nd trad[illegible]tions-Religious Policy of Mughal Emperors—
By Shri Ram Sharma—Page 152
5. A Sho[illegible]t History of Muslim Rul[illegible] in India
[illegible] D[illegible] I[illegible]hwari Prasad—Page 120
6 History Aurangzeb—By S[illegible] J[illegible] N Sarkar
Vol. III ch. XXXIV P[illegible]ge 277
7 The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 135.
8. Hi[illegible]tory of Aura[illegible]gzeb—By Sa[illegible]kar
-Vol III ch XXXIV page 227
9 The fall of Moughal Empire
-By Sidney J Owne Page 76
१ मलूक-परिचयी पृष्ठ १६

जज़िया से राज्य की आय बहुत बढ़ गई।[1] कर देने में असमर्थ हिन्दू विवश हो कर इस्लाम धर्म को अंगीकार कर लेते थे। औरंगजेब हिन्दुओं की इस प्रकार की विवशता से प्रसन्न होता था।[2] औरंगजेब में मन्दिरों को नष्ट करने की प्रवृत्ति बहुत पहले से थी। २८ फरवरी सन् १६५९ को नवीन मन्दिरों के निर्माण को रोकने के लिये औरंगजेब ने एक आज्ञापत्र प्रकाशित किया।[3] ९ अप्रैल १६६९ को एक राजाज्ञा द्वारा उसने राज्य के समस्त मन्दिरों को नष्ट कर देने के लिये आदेश दिया।[4] सन् १६६९ के अगस्त मास में विश्वनाथ जी का प्रसिद्ध मन्दिर नष्ट कर दिया गया।

औरंगजेब के समकालीन कवि मथुरादास ने (औरंगजेब द्वारा) मंदिर-ध्वंस का सविस्तार वर्णन निम्नलिखित शब्दों मे किया है

तब बहुरो मथुरा चलि आयो पाछड़ देख सब मंदिर ढायो।
द्वारका नाथ की पुस्क पठायो रणछोर को त्यागे आयो॥
बद्रीनाथ गोकुल उजारा जगन्नाथ को कियो बिकारा।
नगर कोट की कला बिचारी कला न देवी महा उजारी॥
बहुत बिकट मन मांहि बिचारा परशु राम को देवल उजारा॥[5]

---

[1] Hist ry of Aurangzeba By Sarkar
VoL III Pag 274
Many Hindus who were unable to pay turned Mohammadans to obtai elief f om insults of collectors Aurangzeb rejoices that by su h exacti these Hindus will be forced to mbrace the Mohammada faith.

[2] History of Aurangz b—By Sarka
VoL III P ge 275.

[3] The R ligious Policy of Moughal Emperors—P ge 136.

[4] The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 136.

[5] रेलिजस पालिसी-आफ मुगल इम्परर्स पृष्ठ १४१

[6] (क) मलूक-परिचयी पृष्ठ १६ १

(ख) कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगजेब
कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरि रब की।
तोरि डारे देवी देव अनेक सोई
पेरखी निज प्रामन ते छूटी माल सबकी॥
भूषन भनत भाज्या काशीपति विश्वनाथ
और क्या गिनाऊँ नाम गिनती मे अब की।
दिल मे दरन लागे चारो वर्न ताही समै
सिवाजी न होतो सुनति होती सब की॥
भूषण-ग्रन्थावली शिवाबावनी पृष्ठ ४६, ५

इसी प्रकार भूषण ने भी मन्दिरों के ध्वंस का वर्णन किया है। भूषण और मथुरादास द्वारा उल्लिखित इन घटनाओं का समर्थन वर्तमान इतिहासकारों द्वारा भी हुआ है।[1] गोस्वामी हरिराय जी ने भी गोकुल तथा मथुरा के मन्दिरों के प्रति औरंगजेब के प्रकोप का वर्णन अपने ग्रंथ 'श्री गोवर्धननाथ जी की प्राकट्य वार्ता' में किया है। मथुरादास ने अपनी परिचयी में गुरु तेग बहादुर के वध का भी वर्णन किया है।[2] उनके मत से वेद-पुराण का पठन-पाठन सभी राजाज्ञा से निषिद्ध कर दिया था। ब्राह्मणों की पूजा-पाठ और कर्म-काण्ड सब छूट गया था।[3] सन् १६६९ में औरंगजेब की राजाज्ञा से हिन्दुओं के समस्त मन्दिर और पाठशालाएं नष्ट कर दी गई।[4]

सन् १७०७ ई में औरंगजेब की मृत्यु हुई। इस समय देश में धार्मिक सामाजिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से हिन्दू-जाति पूर्णतया नष्टप्राय थी। औरंगजेब की मृत्यु के अनन्तर चिरकाल तक सिंहासन के लिये उसके पुत्रों में गृह-कलह होती रही। अन्ततोगत्वा बहादुरशाह अपने पराक्रम के बल पर हिन्दुस्तान के सिंहासन पर बैठा। उसके राज्य-काल में सिक्खों के साथ प्रायः पांच वर्षों तक युद्ध चलता रहा। दो-तीन बार राजपूतों से भी उसका संघर्ष हुआ। अंत में सन् १७१२ में

---

1 ( ) The Religious Policy of Moughal Emperors—Page 141
(b) History of Aurangzeb—by Sarkar
Vol III Pp 301-302
(c) Aurangzeb and his times—By Zahiruddin Faruqui
Page 247 259

२ नानक के सिष्यन को पूछा गुरु का धरम न तुमही बूझा ॥
धरे सरीर छोड्यो हरिरायी तेग बहादुर प्रकटे भाई ॥
बादशाह मोहि पकड़ मंगवाया कला न देखी गरदन मारा ॥
मलूक-परिचयी पृष्ठ १७।

३ कालरूप पातसाह हो बैठा पूजा भाव छूटा घर बैठा ॥
वेद पुरान मना करवावे ब्राह्मण पूजा करन न पावै ॥
जहँ लग स्वामी स्थान बनावे पातसाह सब मुरति मिटावै ॥
मलूक-परिचयी पृष्ठ १९।

4 It was three years later that a g neral order was issued for the destruction of ll the schools and temples of the Hindus. On 9th April 1669 t was reported to th Emperor that Brahamans of Sind Multan and particularly of Banaras were using their temples as School which atracted students —Orders in accordance. with the organization of Islam were sent to the governor of all the Prov nces that th y should dest oy schools and temples of infidels.
The Religious Policy f Moughal Emperors—Pag 139—140

उसकी मृत्यु हो गई। बहादुर शाह के बाद उसके उत्तराधिकारियों में प्रायः सात वर्षों तक युद्ध और संघर्ष होते रहे। २९ मार्च सन् १७१२ को जहांदार सिंहासन पर बैठा। ११ जनवरी १७१३ को जहांदार को बन्दी बनाकर फर्रुखसियर गद्दी पर बैठा। २८ अप्रैल १७१९ को फर्रुखसियर का अमानुषिक ढंग से वध हुआ। फर्रुखसियर का राज्यकाल राजनैतिक उथल-पुथल की दृष्टि से महत्वपूर्ण है परन्तु धार्मिक परिस्थितियों की दृष्टि से यह समय विशेष महत्व का नहीं है। २८ सितम्बर १७१९ को मुहम्मदशाह राज सिंहासन पर बैठा। उसके राज्यकाल में नादिरशाह और अहमदशाह दुर्रानी के (सन् १७४७ १७५१ १७५६ एवं १७५७) चार विनाशकारी आक्रमण हुये। प्रत्येक आक्रमण में हिन्दुओं को हर प्रकार से पीसने का प्रयत्न किया गया। मुहम्मदशाह के बाद थोड़े-थोड़े समय के लिये अहमदशाह आलमगीर सानी शाहआलम का राज्यकाल रहा। तदन्तर कम्पनी-सरकार का प्रभुत्व बढ़ा। धीरे धीरे अंग्रेजों के अधिकार बढ़ते गये। औरंगजेब से लेकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के राज्य-काल तक की धार्मिक-परिस्थितियों का ज्ञान हमें चरन दास की रचनाओं से भली भांति हो जाता है।

चरन दास के युग में भी बाह्याचारों ने धर्म के पवित्र रूप को आच्छादित कर लिया था। गृहस्थ एवं साधु माला तिलक ग्रहण करके सत्य की खोज में भटक रहे थे।[1] दम्भ एवं पाखंडों में लगी हुई जनता अपनी तृष्णा को शान्त करने का प्रयत्न कर रही थी। राजा योगी गृहस्थ सब माया और कुबुद्धि से अभिशप्त थे।[2] साधु संन्यासी सत्य को छोड़कर इन्द्रियों और मन के दास बन गये थे। वे पथभ्रष्ट होकर भटकते फिर रहे थे।[3] तपसी और यती पथ भ्रष्ट हो गये थे। वे धूनी रमाने एवं

---

१ माला तिलक बनाय पूर्व अरु पश्चिम दौरा।
नाभि कमल कस्तूरि हिरन जंगल को दौरा॥
चरन दास सखि दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
निरखि परखि ले निकट ही कहन सुनन कू दूर है॥

२ साधो चलो तुम सभारी जग होरी मचि रही भारी॥
दंभ पखउज गहे करम डफ ढूकर ढूकर की तारी॥
औगुन तार तमूरा साजैं आसा तृस्ना गनि धारी।
पाप पुन्य दोउ न पिचुकारी छाड़त हैं बारी बारी॥
सनमुख ह्वै नारि आ नर नाचा ताके बाद सभी नारी।
लोभ मोह अभिमानी भरी लै माया आगरि डारी॥
राजा परजा जोगी तपसी बीच रहे मझारी।

३ सुरति निरति की खबर नहिं जानी जहा विषय को लटके।
बनो जपन बसन गृह और भेष पुरातन ठटके॥
प्रीति रीति की सार न जानैं डारत भटके भटके।
विरिया धर्म मर्म उरते न माया के लटके॥

अपने युग की परिस्थितियों का चित्रण चरन दास ने निम्नलिखित पंक्तियों मे बड़ी कुशलता के साथ किया है —

सब जग धर्म भुलाना ऐसे।
ऊंट की पूंछ से ऊंट बन्ध्यों ज्यों भेड़ चाल है जैसे ॥
धार का सोर तू कूकर की देखा देखी चाली।
तैसे हनुमा बाहिर भैरों सेढ़ मसानी काली ॥
पांच भूमिया हिल करि जावें जाय जखोड़ी डौरे।
सढ़ो सरवर इष्ट करत हैं लोग लोगाई बौरे ॥
राखें भाव स्याम मर्दम की जनको लाय जिमावे।
टेढ़ चमरन को सिर नावें ऊंची जाति कहावें ॥
धूप धूम पत्थर से मांगे जाके मुख नहिं नाता।
तपसी पपड़ी ढेर करत हैं यह नाहिं जावें माता ॥
जाके माथे बकरा मारें ताहिं न हत्या जानें।
मैं लोहू मावे छो लावें ऐसे मूढ़ अयाने ॥
कहैं कि हमारे बालक जावें बड़ी आयुर्बल जीवें।
उनके आगे विनती करते अंसुवन हिरदा भीजें ॥
मोये मढ़रे के पग लागें साधु सन्त की निन्दा।
चेतन को तजि पाहन पूजै ऐसा यह जग अन्धा ॥
सत संगति की ओर न जावें भक्ति करत सकुचावें।
चरनदास सुकदेव कहत हैं जो न नरक को जावें ॥

चरन दास के युग में धर्म अधोगति को पहुंचकर विनाशशील हो गया था। धर्म के सच्चे पथ से हट कर लोग कृत्रिमता म संलग्न हो गये थे।

विगत पृष्ठों म अभिव्यक्त देश १३वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक की राजनैतिक सामाजिक सांस्कृतिक आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन पांच-सौ वर्षों में देश की स्थिति अत्यन्त शोचनीय और दयनीय थी। इन पांच-सौ वर्षों मे देश की राजनीतिक सामाजिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक स्थितियां पूर्णतया विकृत हो गई थी। जनता एक विचित्र प्रकार की निराशा का अनुभव कर रही थी। विघटन विध्वंस विच्छेद विद्रोह और विनाश का चारों ओर अक्षय साम्राज्य था। हिन्दी के सन्त-कवियों ने इन विकृत परिस्थितियों के फलस्वरूप समुत्पन्न विषमताओं को दूर करने के लिये एक ऐसी साधना पद्धति का उपदेश दिया जहां न कोई ऊंचा था न कोई नीचा न कोई कुलीन था न अन्त्यज न मूर्ति-पूजा की आवश्यकता थी और न तीर्थ-यात्रा की। इस मत में रोजा नमाज तिलक जप तप छाप सब कुछ निस्सार था। इस मत की भूमिका मे आकर सब समान सब महान् और सब ईश्वर के प्रिय थे।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

(तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१)

भागवत में भी उल्लेख है कि—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः ।

(भागवत—२।६।३९-४)

तथा—

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥

(भागवत—३।३२।२६)

ब्रह्म सदैव सत्य रहा है और रहेगा भी । वह ज्ञानमय चैतन्य एवं आनन्दस्वरूप है । उसका स्वयं शरीर नहीं परन्तु विनाशवान् शरीरों में पैठ कर वह संसार की लीला कर रहा है । वह केवल निर्मल स्वरूप है पूर्ण है । उसका आदि नहीं अंत नहीं । वह नित्य एवं अद्वितीय है । वह एक होने पर भी अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है । एक ही परमात्मा सर्वभूत मे परिव्याप्त है । वह सर्वत्र विद्यमान है । संसार के समस्त कार्यों विधानों तथा व्यवस्था का वह नियंता है । वह समस्त प्राणियों में बसा है । संसार के कार्यों को साक्षी रूप मे देखने वाला चैतन्य केवल एक अद्वितीय तथा गुणों के दोष से रहित है

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद्—६।११)

ऐसा अद्भुत ब्रह्म सदैव प्राणियो के हृदय मे निवास करता है । अपने-अपने हृदय में स्थित इस महात्मा को जो शुद्ध हृदय से विमल मन से अपने मे विराजमान देखते है वे अमर होते है —

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

(श्वेता ६।९)

वेदों स्मृतियो पुराणो का मत है कि वह देवो का देव जल में वायु व समस्त भुवन मे सब औषधियो में सभी वनस्पतियो मे सब जीवधारियों में परिव्याप्त रहा है ।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन—
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(श्वेता ४।१७ २)

लोक में उसका कोई स्वामी नहीं है न उसके ऊपर कोई शासन और अनुशासन संचालित करने वाला है, न उसका कोई चिन्ह है। वही सबका कारण है परन्तु उसका कोई कारण नहीं है उसका कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है, न उसका कोई रक्षक ही है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनाम् परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेता ६।७)

सृष्टि के आदि में भी वही ब्रह्म था और अंत में भी वही रह जायगा। तात्पर्य है कि वही ब्रह्म चिरन्तन है सत्य है शाश्वत है। भागवत में भगवान् का कथन है कि —

अहमेवास मेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
(भागवत्—२।९।३२)

मनुस्मृति म उस ब्रह्म के गौरव और महत्ता का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥
(मनुस्मृति—१।५।७)

ऋग्वेद के इस ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि —

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्वेद ८।७।१।१)

तथा

यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

घृणा तथा प्रेम आदि मानसिक-वृत्तियों की अभिव्यंजना तो मानव-समाज अत्यन्त प्राचीन काल से करता चला आ रहा है। साथ ही प्रकृति के नाना रूपों से उद्भूत अपने मनोविकारों तथा जीवन की अन्यान्य परिस्थितियों के सम्बन्ध में अपने अनुभवों को व्यक्त करने में भी उसे एक प्रकार का सन्तोष तृप्ति तथा आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिये वह दूसरे के सहयोग का सदैव आकांक्षी बना रहता है। जब उसे अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के उपयुक्त व्यक्ति मिल जाता है तो वह उससे अपना सम्पर्क घनीभूत करने लगता है। व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर होते ही उसके जीवन में चेतना जागृति और व्यापकता का समावेश होता है। उसी स्थल पर आकर उसे बृहत्तर समाज में व्यापक अनुभूति और प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है।

मानव की यह सहज प्रकृति है कि वह सदैव विश्लेषण से संश्लेषण की ओर अग्रसर रहता है। इस संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति ही समाज है। जिसके माध्यम से उसका व्यक्तिगत व्यावहारिक आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन जनहित का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मानव का समष्टि रूप उसे उदार, व्यापक हृदय वाला बना देता है तथा उसकी प्रवृत्तियों को परिष्कृत बना देता है। क्योंकि एकाकी जीवन न त्याग का संदेश ही दे सकता है और न सद्भावना एवं सहानुभूति का बीजारोपण ही कर सकता है। समाज में रहकर ही मानव सहिष्णुता को वरदान स्वरूप प्राप्त करता है। एकाकी जीवन के फलस्वरूप जो संकीर्णता की भावनाएं मानव में जाग्रत हो जाती है उन्हें व्यापक एवं परिष्कृत बनाने का श्रेय समाज को ही है।

मानव द्वारा अर्जित प्रत्येक वस्तु समाज का अंग बन जाती है। इसी कारण तो मानव एवं समाज का अटूट सम्बन्ध है। समाज मानव-जाति के लिये जिस वस्तु या तत्व को कल्याणकारी मानता है उसे ही प्रश्रय देता है तथा कल्याणकारी तत्वों की ओर मनुष्य जाति को प्रेरित करता है। समाज के नियमों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति समाज से बहिष्कृत समझा जाता है। इस सामान्य नियम का प्रचलन सभी देशों एवं सभी कालों में होता आ रहा है। यहां पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में रहकर मानव को उसके नियमों का पालन करना ही पड़ता है। समाज सदैव आदर्श व्यक्तियों की व्यवस्था करने में प्रयत्नशील रहता है यद्यपि उसका यह प्रयत्न समय के साथ नवीन रूप धारण करता रहता है। उसी के साथ-साथ नई व्यवस्थाएं उपस्थित होती हैं।

समाज-शास्त्र के विचारकों एवं विद्वानों का कथन है कि समाज साधक साधन और साध्य का संगठन है[1] इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। परिवर्तन का सम्बन्ध साधारणत अतीत से ही होता है। अतीत की व्यवस्था में अन्तर आना ही परिवर्तन है। यह परिवर्तन समाज के रूप के साधनों में होता है चाहे उन्नति की ओर हो या अवनति

---

1 Society is n organization of men mean nd men logs.

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'

(तैत्तिरीय उपनिषद् २।१।१)

भागवत में भी उल्लेख है कि—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः ।

(भागवत—२।६।३९-४०)

तथा—

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥

(भागवत—३।३२।२६)

ब्रह्म सदैव सत्य रहा है और रहेगा भी। वह ज्ञानमय चैतन्य एवं आनन्दस्वरूप है। उसका स्वयं शरीर नहीं परन्तु विनाशवान् शरीरों में पैठ कर वह संसार की लीला कर रहा है। वह केवल निर्मल स्वरूप है पूर्ण है। उसका आदि नहीं अंत नहीं। वह नित्य एवं अद्वितीय है। वह एक होने पर भी अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है। एक ही परमात्मा सर्वभूत में परिव्याप्त है। वह सर्वत्र विद्यमान है। संसार के समस्त कार्यों विधानों तथा व्यवस्था का वह नियंता है। वह समस्त प्राणियों में बसा है। संसार के कार्मों को साक्षी रूप में देखने वाला चैतन्य केवल एक अद्वितीय तथा गुणों के दोष से रहित है

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेताश्वतर उपनिषद्—६।११)

ऐसा अद्भुत ब्रह्म सदैव प्राणियों के हृदय में निवास करता है। अपने-अपने हृदय में स्थित इस महात्मा को जो शुद्ध हृदय से विमल मन से अपने में विराजमान देखते हैं वे अमर होते हैं —

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

(श्वेता ६।९)

वेदों स्मृतियों पुराणों का मत है कि वह देवों का देव जल में वायु में समस्त भुवन में सब औषधियों में सभी वनस्पतियों में सब जीवधारियों में परिव्याप्त रहा है।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(श्वेता ४।१७ २)

लोक में उसका कोई स्वामी नहीं है न उसके ऊपर कोई आज्ञा और अनुशासन संचालित करने वाला है न उसका कोई चिन्ह है। वही सबका कारण है परन्तु उसका कोई कारण नहीं है उसका कोई उत्पन्न करने वाला नहीं है, न उसका कोई रक्षक ही है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वर
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनाम् परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
(श्वेता ६।७)

सृष्टि के आदि में भी वही ब्रह्म था और अंत में भी वही रह जायगा। तात्पर्य है कि वही ब्रह्म चिरन्तन है सत्य है शाश्वत है। भागवत में भगवान् का कथन है कि —

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
(भागवत्—२।९।१२)

मनुस्मृति में उस ब्रह्म के गौरव और महत्ता का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है —

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥
(मनुस्मृति—१।५।७)

ऋग्वेद के इस ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि —

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(ऋग्वेद ८।७।३।१)

तथा

यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवानां नामधा एक एव
तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥
(ऋग्वेद ८।३।१७।३)

वेदों में ईश्वर जीव तथा जगत को एक ही माना गया है। एक ही ईश्वर सब भूतों में छिपा हुआ है यह सर्वत्र व्याप्त और सब प्राणियों का अन्तरात्मा है[१] सम्पूर्ण। विश्व के विभिन्न पदार्थों म परमार्थत कुछ भी अन्तर नहीं है।[२]

१—एको देव सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी भूतान्तरात्मा।

२—नेह नानास्ति किंचन।

सारा ससार एक मात्र ईश्वर से व्याप्त है, ऐसा समझना चाहिये।

ईशावास्यमिदं सर्वं।
एक एव परो आत्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थित।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च॥

परम आत्मा एक ही है। वह पच भूतों में और जीवों मे व्याप्त है। जैसे जल के अनेक पात्रों में एक ही चन्द्रमा अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतों में यह एक आत्मा अनेक रूपों में दीखती है तथा भिन्न-भिन्न आदर्शों एवं प्रतिमाओं को दिखला रही है।

अथर्ववेद में कहा गया है

ओम्! स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु।
स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्य।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम् सूर्यम्॥

अर्थात् हमारे माता-पिता सभी प्रकार से जीवन-यापन करें, संसार के समस्त प्राणी स्वस्थ रहें। गौ के सदृश उपयोगी जीवों की वृद्धि हो विश्व में शान्ति स्थापित हो। सूर्य का प्रकाश संसार को सदैव प्राप्त हो।

मनुस्मृति में एक स्थान पर ब्रह्म की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषि र्होता न्यसीदत् पिता न।
स आशिषा द्रविणमिच्छमान प्रथमच्छदवरॉ आविवेश॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक॥
(मनुस्मृति ८।३।१६।२ ३)

श्रुति का अभिमत है कि यह विश्वात्मा एक है—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत

तथा (ऐतरेय ब्राह्मण १।१।१)

एकमेवाद्वितीयम्
(छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।१)

---

१ एको देव सर्वभूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा

२ नेह नानास्ति किंचन

वह निर्गुण तथा दृष्टि से अतीत है,

न संदृशेतिष्ठति रूपमस्य

न चक्षुषा पश्यति कश्च नैनम्।

(श्वेता ४।२०)

तथा

ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु

त पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

वह समस्त सृष्टि का रचयिता है। परमात्मा ने ही सूर्य चन्द्रमा पृथ्वी एवं आकाश की रचना की है —

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

(ऋग्वेद ८।८।४८।३)

वह ब्रह्म या परमात्मा एक ही है। वेदों का वचन है कि

(१) एकमेवाद्वितीयम् (छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।१)

(२) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद २।३।२२।४६)

(३) एक सन्त बहुधा कल्पयन्ति

बृहन्नारदीय पुराण में उल्लेख हुआ है कि भगवान नारायण अविनाशी अनन्त सर्वत्र व्यापक तथा माया से अलिप्त हैं यह स्थावर जङ्गमन्य समस्त संसार उनसे व्याप्त है। वह जरारहित है। उसे कोई शिव कोई सदा सत्य-स्वरूप विष्णु तथा कोई ब्रह्मा कहता है —

नारायणोऽक्षरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरञ्जनः।

तेनेदमखिलम् व्याप्तम् जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥

तमादिदेवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम्।

केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदूचिरे ॥

(बृहन्नारदीय पुराण १।२।२ ५)

इसी प्रकार 'शिव पुराण' में स्वयं महेश्वर का वचन है —

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्म विष्णुहराख्यया।

सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलोऽहं सदा हरे ॥

अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति।

एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदेच बन्धनं भवेत् ॥

(शिव पुराण २।१।९।२८ ३८)

'भागवत' में भगवान का वचन है कि हम ब्रह्मा और शिव संसार के कारण हैं हम सबके आत्मा ईश्वर, साक्षी स्वय प्रकाश तथा निर्विशेष हैं। वह मैं (विष्णु)

अपनी त्रिगुणमयी माया में प्रवेश करके संसार की सृष्टि रक्षा तथा प्रलय करता हुआ भिन्न भिन्न कार्यों के अनुसार नाम धारण करता हूं—

अहं ब्रह्मा च सर्वश्च जगतः कारणं परम।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृग विशेषण ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन रक्षन् हरन् विश्वं दध्र संज्ञां क्रियोचिताम् ॥
(भागवत—४।७।५०—५१)

हमारे दार्शनिकों ने अनेकानेक सत्यों की स्थापना करने की चेष्टा की है। इस देश में ईश्वर की सत्ता इतनी व्यापक एवं विस्तृत मान ली गई है कि पृथ्वी के कण-कण में उसकी शक्ति स्थिर है। बाह्य पदार्थों में भेद भाव दृष्टिगत होता है पर मूल में एक ही शक्ति विद्यमान है। इसी आशय को गोस्वामी तुलसी दास ने बड़े सरल शब्दों में व्यक्त करते हुये कहा था :

सिया राम मय सब जग जानी।
करहु प्रनाम जोरि जुग पानी ॥"

सन्त कबीर दास एवं उनकी परम्परा में अवतरित होने वाले सन्तों ने वेदों एवं उपनिषदों की इस विचारधारा को व्यावहारिक रूप प्रदान किया और उन्होंने कथनी एवं करनी का सुन्दर सामञ्जस्य प्रस्तुत किया। इन सन्तों ने अपनी सामाजिक-नीति की रचना आध्यात्मिक विचारधारा पर की। भारतीय-दर्शन की यह परम्परा शताब्दियों से निखरती चली आ रही है। निर्गुण सन्त-कवियों ने अपने धार्मिक-चिन्तन को सामाजिक दृष्टि से परिष्कृत एवं चरितार्थ किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सामयिक परिस्थितियां परिच्छेद का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य-युग (११ —१ तक) में भारत की दशा कितनी हीन दयनीय और विषम थी। इन पांच सौ वर्षों में उत्तर-पश्चिम से इतने आक्रमण हुये कि यहां का सामाजिक सांस्कृतिक धार्मिक आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन निरन्तर अस्थिर बना रहा। जीवन और समाज के प्रत्येक अंग एवं प्रत्येक पहलू पर इतने भीषण प्रहार हुये कि यहां का जीवन पांच-सौ वर्षों तक निरन्तर क्षुब्ध और अस्थिर बना रहा। आक्रमणकारियों ने यहां के जीवन समाज एवं धर्म पर इतने भीषण आक्रमण किये कि भारतीय-जनता के जीवन पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया था परन्तु धैर्य और साहस ने विपत्तियों की घनीभूत तह को विनष्ट करके उसे आशा की ज्योति के दर्शन कराये। इन परिस्थितियों में भारतीय-जनता का हृदय और मस्तिष्क कैसे स्थिर रह सकता था। इस अनिश्चित स्थिति और अदृश्य विपत्तियों का भारतीय जनता पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ा। इन पांच सौ वर्षों में भारतीय-समाज अनाचार भ्रष्टाचार, दुराचार अन्ध-विश्वास और विलासाजनित भावनाओं का केन्द्र बन गया था।

मध्ययुगीन भारत पराधीनता के पाश में आबद्ध हो चुका था। मुसलमानों का राज्य स्थापित होने से हिन्दूजनता के मन में स्वाभिमान एवं उत्साह के भाव विलीन हो गये थे। विलासिता की वृद्धि के साथ ही हिन्दू एवं मुसलमान दोनों ही नैतिक दृष्टि से अध-पतित होने लगे थे। मदिरा का प्रचार व्यापक रूप में हो रहा था। यद्यपि बलबन एवं अलाउद्दीन आदि शासकों ने सुधार करने की चेष्टा की परन्तु वैभव में संलग्न रहने के कारण एक ओर तो मुसलमानों को उस ओर ध्यान देने का अवसर ही न मिला दूसरी ओर उस वृद्धि के साथ धार्मिक शिथिलता भी आ गई। समाज में अनेक प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित थे। हिन्दू तो पराधीन होकर पहले ही गौरवहीन हो गये थे अब विलास में फंसकर उन्हें पूरी पूरी आत्मविस्मृति हो गई। उनके सामने उनके देव-मन्दिर नष्ट किये जाते मूर्तियां खंडित की जाती एवं निरपराध हिन्दुओं के रुधिर की सरिताएँ प्रवाहित *की जा रही थीं। शनै शनै मुस्लिम-साम्राज्य सम्पूर्ण भारत में स्थापित हो गया* था और हिन्दू-जाति परिस्थितियों से हतोत्साहित होकर केवल ईश्वर के सहारे ही रह *गई थी। इस प्रकार भक्ति की ओर जनता आकर्षित हुई। मध्य-युग में हिन्दुओं* का जीवन बड़ा अस्थिर और ह्रासमान था। जीवन के समस्त मानदंड उत्थान के सभी साधन और धार्मिकता के सभी आधार विनष्ट होते जा रहे थे। इन परिस्थितियों में निराशा व्यग्रता हीनता उच्छृंखलता और व्यथा का साम्राज्य चारों ओर फैला हुआ था। हिन्दुओं के समक्ष उनके प्रिय भगवान की मूर्तियां ध्वंस की जा रही थी। महमूद गजनवी के समान भीषण आक्रमणों से हिन्दू-जनता का हृदय दहल उठा। मुसलमानों के प्रहार से विनष्ट होती हुई मूर्तियों को देख कर हिन्दू-जनता की आस्था और विश्वास मूर्तिपूजा से शनै शनै हिल चला था। धर्म भावना की निस्सारता रोहित और पंडितों के पाखंडों बाह्याचारों की प्रधानता आदि ने हिन्दू जनता के हृदय में हिन्दू-धर्म की प्राचीन मान्यताओं के प्रति भीषण आघात और विद्रोह की भावना को जन्म दिया। इसी समय रामानंद कबीर रैदास जैसे उदार चेतामनस्वियों ने मानवता को व्यापक भावनाओं से पूर्ण और उदारता से युक्त एक नवीन धर्म का रूप प्रदर्शित किया जिसमें न जातीयता के आधार पर शोषण सम्भव था न असमानता के कारण घृणा की भावना की प्रधानता न पत्थर की मूर्ति के भगवान के बैर होने की मान्यता स्थापित थी। यह था निर्गुण मत। उपर्युक्त इन्हीं कारणों से सन्तों की साधना अन्तर्मुखी हो गई और उन्होंने अन्तस्साधना पर जोर दिया। क्रमशः धर्म का स्वरूप भी परिवर्तित हो चला था और निर्गुण-पंथ का उदय निश्चित हुआ। जिस व्यवस्थित रूप में स्थापित करने का श्रेय संत कबीर को प्राप्त है उन्होंने बाह्य विधानों को त्याग कर आत्म-साधना पर जोर दिया।

कबीर स्पष्ट कहते हैं कि

लोक जानि ना भूलो भाई

तथा

झूठे सुख को सुख कहै
मानत है मन मोद।
जगत चबेना काल का
कुछ मुख में कुछ गोद॥

इस कारण इस संसार के प्राणी मात्र में उसी ब्रह्म के दर्शन करना चाहिये

कहै कबीर मैं पूरा पाया
सब घट साहब दीठ।

सन्त गरीबदास सुन्दरदास मलूकदास भीखा साहब आदि ने भी इसी बात का प्रतिपादन कबीर के स्वर मे स्वर मिला कर किया। इनकी साखियों से स्पष्ट है कि राम और संसार पृथक नहीं है। कारण कि जब एक ही ब्रह्म ने समस्त संसार की रचना की है तो रचनाओं में भेद कहा? एक ही चित्रकार द्वारा चित्रित समस्त चित्रों में उसी की ही कला तो विद्यमान है। तूलिका के रंगों ने उसके बाह्य रूप में परिवर्तन अवश्य कर दिया है। मानव ने अपनी सुविधा के कारण सांसारिक विभिन्न वस्तुओं को पृथक सत्ता दे दी है। इस विश्व में न कोई कुलीन है न कोई अछूत। मिट्टी मिट्टी ही है चाहे उसको कोई भी रूप प्रदान कर दिया जाय। समस्त रूपों में ब्रह्म की जो सत्ता है वह विभाज्य नहीं है। इसी आधार पर सन्तों ने अस्पृश्यता आन्दोलन प्रारम्भ किया और जनता का ध्यान वास्तविकता की ओर आकर्षित किया। इन धार्मिक-तत्वों मे संत-कवियों की सामाजिक तथा साम्प्रदायिक दृष्टि सन्निहित है। इन संत-कवियों ने सामाजिक धार्मिक एवं जाति-वर्ग भेदों को हटाकर अभेद की ओर संकेत किया। धनी-निर्धन राजा-रंक ब्राह्मण-शूद्र हिन्दू-मुसलमान मे कौन सा भेद है? धन निःसार वस्तु है। यह स्थायी भी नहीं है। जनता को चेतावनी देते हुये कबीर ने लिखा है

चलती खेती देखि करि मर्वे कहा किसान।
अजहूँ झोला बहुत है घर आवे तब जान॥

सामाजिक सुविधाएं एवं परिस्थितियां मानव के पास धन-संचय कर देती हैं परन्तु उस धन का गर्व न करना चाहिये उसे केवल एक दास के रूप मे ही समझना चाहिये स्वयं धन का दास नहीं होना चाहिये। यदि स्वयं धन के दास हो गये तो धन की तृष्णा कभी भी नहीं बुझ सकती है। सन्त सुन्दरदास कहते हैं

जो दस बीस पचास भये सत
होइ हजार तु लाख मंगैगो।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य
पृथ्वीपति होन की चाह जगैगी।
स्वर्ग पताल को राज करौं
तृष्णा अधिकी अति आग लगैगी।

सुन्दर एक संतोष बिना सठ
तेरी तो भूख कभी न मरैगी ।[1]

चाहे धनी हो या निर्धन राजा हो या रंक हिन्दू हो या मुसलमान सभी मनुष्य ही हैं। शारीरिक रूपरेखा सभी की समान है। मनुष्य मनुष्य पहले है, दूसरा कुछ बाद में। प्रेम क्रोध भय घृणा आदि सबमों का अनुभव सभी समान रूप से करते हैं यह बात दूसरी है कि मात्रा में अन्तर हो। प्रत्येक मानव जिसे इस संसार में पूर्ण आयु मिलती है वह शैशव यौवन एवं वृद्धावस्था से होकर गुजरता है। ये तीन अवस्थायें मानव के शरीर में परिवर्तन प्रस्तुत करती हैं। सत्य तो यह है कि जब सब कर्त्ता एक ही है तो भेद कहां से होगा। उसे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाय उसे चाहे राम कहें या रहीम या अल्लाह, दोनों में अन्तर नहीं है। वाचिक भेद के द्वारा तात्विक भेद नहीं हो सकता है। कबीर ने इस भेद को मिटाने का प्रयत्न इन शब्दों द्वारा किया है

हमारे राम रहीम करीम केसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई ॥

कबीर ने राम एवं रहीम को एक ही माना है। इस प्रकार उन्होंने हिन्दू मुसलमानों में भी एकता समुत्पन्न कराने का प्रयत्न किया है। कबीर-पंथ में भी हिन्दू-मुसलमान दोनों ही शिष्य थे। कबीर के मत से इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है

भरे भाई दोइ कहां सो मोहि बतावी ?
बिचिहि भरम का भेद लगावी।
जोनि उपाइ रची है धरनी दीन एक बीच भई करनी ॥
राम रहीम जपति सुधि गई उन माला उन तसबी लई।
कहै कबीर चेत रे भौंदू बोलनि हारा तुरक न हिन्दू ॥

इस प्रकार की क्रान्तिकारी विचारधारा का समाज-विकास के लिये बड़ा महत्व है। यदि समाज में भेद भाव मिट जाय तो संघर्ष एवं प्रतिशोध की भावना भी धीरे धीरे दूर हो जाय। शान्ति सुख एवं समदृष्टि का विकास वहीं पर हो सकता है, जहां समान सुविधायें सबको प्राप्त हों। कबीर की इस समता भावना से प्रेरित होकर सुन्दरदास मलूकदास नानक दादू भीखा गरीबदास आदि ने समाज में समता की भावना का बीजारोपण किया और समाज को तत्व-निरूपण की ओर प्रेरित किया। सभी का जीवन समान है। अत शोषण एवं विनाश आदि की भावना को त्याग कर मानवता की ओर ध्यान देना चाहिये। इस ओर प्रत्येक निर्गुण संत-कवियों ने संकेत किया। उन्होंने कहा कि गाय चाहे जिस रंग की हो उसका दूध सफेद ही होता है उसी प्रकार हिन्दू-मुसलमान निर्धन धनवान

---

१ स बा स भाग २ पृष्ठ १२१

सभी का एक काल होता है। हिन्दू-मुसलमानों के उस संघर्ष युग में इस प्रकार के उपदेशों ने समाज में धर्म मानवता की गरिमा को अक्षुण्ण बनाने का प्रयत्न किया। ये तर्क समाज में विच्छेद विभग आदि भावनाओं को कम करने के लिये बड़े समर्थ थे। इस प्रकार निर्गुण सन्त-कवियों ने समाज में व्याप्त संकीर्णता तथा विनाशकारी तत्वों को छोड़कर बृहत्तर मानव-समाज स्थापित करने का प्रयत्न किया।

मुसलमानों की असहिष्णुता के कारण ही इन सन्त-कवियों ने एक ईश्वर की भावना का उपदेश किया है। हिन्दुओं के लिये यद्यपि यह नवीन बात न थी फिर भी वे उस युग में उसे भूल चुके थे। इन सन्त-कवियों ने फिर से स्मरण करा दिया। मलूकदास के शब्दों में:

सर्वव्यापी एक करतारा। जाकी महिमा आर न पारा॥
हिन्दु तुरुक का एकै करता। एकै ब्रह्म सबन का भरता॥
— शब्द संग्रह

यह परब्रह्म सबके साथ है और सबके साथ समान व्यवहार करता है। 'पारब्रह्म सब सम करि जानै हिन्दू तुरुक एक करि मानै।' उसमें भेद भाव की प्रकृति नहीं है। मलूकदास तो दूसरे ब्रह्म की कल्पना ही नहीं करते हैं।[1] कबीर ने भी कहा है:

कहै कबीर एक राम जपहु रे
हिन्दू तुरुक न कोई[2]।

दोनों ही हिन्दू व मुसलमान का कर्ता एक ही है —

हिन्दू तुरुक का कर्ता एकै।
ता की गति लखी न जाई॥
(कबीर ग्रन्थावली पृ १ ६।१)

संतों ने न केवल सांस्कृतिक एकता की ओर ध्यान दिया वरन् उन्होंने ब्रह्म की अभिन्न अद्वितीय सत्ता की ओर भी भारतीय-जनता का ध्यान आकर्षित किया। इससे यह लाभ हुआ कि हिन्दू और मुसलमानों के मध्य में विद्यमान ब्रह्म-विषयक भावना की व्यापक एवं बाधक दुष्प्रवृत्ति किन्हीं अंशों में समाप्त हो गई। इस ओर प्राय समस्त संतों ने सराहनीय प्रयत्न किये। संत नाम देव द्वारा प्रस्तुत ईश्वर स्वरूप में हमें विभिन्न ईश्वर विषयक धारणाओं के समन्वित रूप के दर्शन होते हैं:—

एक अनेक बियापक पूरक जित देखौ तित सोई।
माया चित्र बिचित्र बिमोहित बिरला बूझै कोई॥

---

१ एक बगल का एकै करता।
दीसर ब्रह्म कहां है रहता॥
२ कबीर ग्रन्थावली १ ६।१७।

सब गोविन्द है सब गोविन्द है गोविन्द बिन नाहीं कोई।
सूत एक मणि सत सहस्र जस ओत प्रोत प्रभु सोई॥
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा जल से भिन्न न होई।
यह प्रपंच परब्रह्म की लीला विचरत आन न होई॥
मिथ्या भ्रम अरु स्वप्न मनोरथ सत्य पदारथ जाना।
सुकिरत मनसा गुरु उपदेसी जागत ही मन माना॥
कहत नामदेव हरि की रचना देखो हृदय बिचारी।
घट-घट अंतर सर्व निरन्तर केवल एक मुरारी॥

(सं बा स भाग २ पृ ११)

नामदेव के समान ही कबीर ने एक ही ब्रह्म को घट-घटवासी तथा उस में संसार व्याप्त एवं संसार को उसमें व्याप्त माना है —

लोका जानि न भूलो भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई।
अल्ला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निंदा॥
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा।
ता अल्ला की गति नहीं जानी गुरि गुड़ दीया मीठा॥
कहै कबीर मैं पूरा पाया सब घटि साहिब दीठा।

(कबीर ग्रन्थावली पृ १०४)

हिन्दू-मुसलमानों का यह ब्रह्म स्वरूप तथा गुणों से अतीत है। वह वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है। वह अनिर्वचनीय है और यदि अभिव्यक्ति की जाय तो कौन पतियायगा। वह न भारी है न हल्का है —

भारी कहौं तो बहु डरौं हलका कहूं तौ झूठ।
मैं का जाणौं राम कूं नैनूं कबहूं न दीठ॥
दीठ है तो कस कहूं कह्यां न को पतियाइ।
हरि जैसा है तैसा रहौ तू हरिषि-हरषि गुण गाइ॥

(कबीर ग्रन्थावली—पृ १०)

समस्त सृष्टि में वही एक ब्रह्म व्याप्त है —

जहँ देखौं तहँ एक ही साहिब का दीदार' —

कबीर के मत में ऐसा ब्रह्म गुणा एवं रूपा से रहित तथा घट-घट वासी है। वह पाप-पुण्य स्थूल-सूक्ष्म के परे है। वह ध्यान एवं ज्ञान से अतीत है। वेद भी उसका वर्णन करने में समर्थ नहीं है। संसार के समस्त वस्तुओं से भिन्न यह अनुपम तत्व है —

राम के नाव निसान बागा ताका मरम न जानै कोई।
भूख तृषा गुण वाके नहीं घट घट अंतरि सोई॥

बेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पापरु पुन्यं।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित विवर्जित स्थूल सुन्यं।।
भेष विवर्जित भीख विवर्जित विवर्जित डयंभक रूपं।
कहै कबीर तिहुं लोक विवर्जित ऐसा तत अनूपं।।

(कबीर-ग्रन्थावली पृ ११९-१११)

कबीर तथा उनके अनुयायी संत-कवियों ने हिन्दू-मुसलमान के लिये जिस ब्रह्म की कल्पना की वह अवतार की सीमा तथा भावना से परे है। वह अवतार के बन्धन से परे है। वह अनादि अनन्त और अखण्डित है—उसका कोई रचयिता नहीं है वह स्वयं अपने में पूर्ण तथा कर्ता है।

अनघड़िया देवा कौन करे तेरी सेवा।
गढ़े देव को सब कोई पूजै नित ही लावै सेवा।
पूरन ब्रह्म अखंडित स्वामी ताको न जाने भेवा।
दस औतार निरंजन कहिए सो अपना न होई।
यह तो अपनी करनी भोगे कर्ता औरहि होई।
जोगी जती तपी संन्यासी आप आप में लड़िया।।

संतों का ब्रह्म अजर अमर अलख एवं अकथनीय है। वह अदृष्ट अगोचर एवं अरूप है फिर भी वह घट-घट वासी है। वह व्यष्टि-ब्रह्माण्ड से परे है। कबीर का कथन है—

संतों धोखा कासूं कहिये।
गुण में निर्गुण निरगुण में गुण बाट छाड़ि क्यूं बहिये।
अजरा अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई।
नाति स्वरूप बरण नहिं जाके घटि घटि रह्यौ समाई।
प्यंड ब्रह्मण्ड छाड़ि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई।।

(कबीर ग्रन्थावली पृ १८)

कबीर ने ब्रह्म को सूत्रधार के रूप में भी चित्रित किया है। सृष्टि की रचना में यद्यपि पंचतत्व तथा सत्व रज एवं तम गुणों की क्रिया निहित रहती है किन्तु सृष्टि उनके कार्य नहीं होती। इस त्रिलोक को ब्रह्म ही क्रियाशील बनाए हुए है, ठीक उसी प्रकार यथा कठपुतली सूत्रधार के हाथों से क्रियाशील रहती है। निस्सन्देह समस्त त्रिभुवन में वही परम समाहित है—

बाजै जंत्र बजावै गुनी राम नाम बिन भूली धुनी।
रजगुन तमगुन सतगुन तीन पंचतत्व ले साज्या बीन।
तीन लोक पूरा पेखना नाच नचावै एकै जना।
कहै कबीर संसा करि दूरि त्रिभुवननाथ रह्या भरि पूरि।।

(कबीर-ग्रन्थावली पृ १२१)

इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य असंतुलित धार्मिकता ही रही है। धर्म ने धर्म वर्ग जाति संघर्ष को समुत्पन्न करके मानव की उदार वृत्तियों को सदैव के लिए संकीर्ण बना डाला। धर्म के नाम पर रक्त की सरितायें बहाई गईं। मन्दिर-मस्जिद के भीतर तक ही भगवान का अस्तित्व माना गया और इन मन्दिर एवं मस्जिदों की दीवारों ने संकीर्णता का सर्जन किया। यह अभिशाप आज भी किसी न किसी दशा में विद्यमान है। बुल्लेशाह ने इस बात की कड़ी आलोचना भी की है। कबीर ने भी मुल्ला व पंडितों से पूछा है

तुरक मसीत दे हिन्दू दुहुठां राम खुदाई।
जहां मसीत देहुरा नाहीं तहं काकी ठकुराई ॥[1]

एक ही ब्रह्म सार्वभौम है फिर मन्दिर तथा मस्जिद की सीमाओं के अन्तर्गत सीमित कर देना उचित नहीं है जहां मन्दिर एवं मस्जिद नहीं है क्या वहाँ ब्रह्म का निवास नहीं है ?

इस प्रकार इन सन्तों ने सामाजिक-जीवन को सरल सुखमय एवं उदार बनाने के हेतु इस प्रकार के उपदेश बारम्बार दिए हैं।

जियत पितर न मानै कोई
मुए सराध कराहीं

तथा मुसलमानों से कहा है —

मुल्ला करिलयो न्याव खुदाई

इस प्रकार की भावना अन्य सन्त-कवियों में भी विकसित हुई है।

निर्गुण-सन्तों ने आत्मसंतोष की भावना को जाग्रत किया क्योंकि समाज को सुखी एवं समृद्ध बनाने के लिये सन्तोष की भावना बहुत ही आवश्यक है। यह भावना तभी जाग्रत हो सकती है जब मानव केवल अपना कर्म करे, न उसमें आसक्त हो और न उसके फल की ही चिन्ता करे। गीता में योगेश्वर ने कहा है

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगो स्त्वकर्मणि ॥

(गीता)

साथ ही तृष्णा का दमन करना भी अत्यन्त आवश्यक है। संतोष की भावना का विकास होते ही हीनता एवं दीनता की समस्त प्रवृत्तियां विलीन हो जाती हैं। "गोधन गजधन बाजधन और रतनधन खान जब आवै संतोषधन सब धन धूरि समान।"[2]

---

१ कबीर-ग्रन्थावली पृष्ठ १ १२८।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ ५१

तृष्णा की अग्नि में पूर्ण संसार भस्म होता जा रहा है। परन्तु तृष्णा सुरसा के समान अपने रूप को नित्य विस्तार देती जा रही है। आशाएं एवं आकांक्षाएं मानव-हृदय को हर समय घेरे रहती हैं। श्रीमद्भागवत में भी तृष्णा को ही दुःख का मूल कारण माना गया है

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनः प्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥
(भागवत ९।१९।१३।१८।१६)

इन सभी सन्त कवियों ने तृष्णा की आलोचना की है। कबीर के मतानुसार तृष्णा डाकिनी है काम है भ्रमाग्नि है, इसने सुर, नर मुनि सभी को खा डाला है

की त्रिसना है डाकिनी की जीवन का काल ।
और और निस दिन चहै जीवन करै बिहाल ॥
त्रिस्ना अग्नि प्रलय किया तृप्त न कबहू होय ।
सुर नर मुनि और रंक सब भस्म करत है सोय ॥[1]

सन्त सुन्दरदास के अनुसार तृष्णा के आधार और निवासस्थल शरीर दिन-दिन क्षीण एवं विनष्ट होते जा रहे हैं, परन्तु तृष्णा नष्ट न हुई। वह नित्य नवीन ही बनी रहती है। संसार के लोग मृत्यु को प्राप्त होते जा रहे हैं पर तृष्णा नई ही बनी है

नैननि की पल ही पल में छिन आध घरी घटि आवु गई है ।
जाम गयौ जुग जाम गयौ पुनि सांझ गई अब राति गई है ॥
आवु गई अब कालिह गई परसों तरसों कछु और ठई है ।
सुन्दर ऐसे हि आयु गई तृष्णा दिन ही दिन होत नई है ॥[2]

मानव कण कण करके धन-धान्य का संकलन करता है। तृष्णा के कारण उसे शान्ति नहीं मिलती है। वह जीवनपर्यन्त इसी कार्य में संलग्न रहता है। वह जीवन की सब मधुरता को भी भूल जाता है और नित्य प्रति तृष्णा की अर्चना में ही लगा रहता है। ज्यों-ज्यों आयु क्षीण होती जाती है वह धन अर्जन में और भी व्यस्त होता जाता है :

---

१ क ग्र ग भाग १ पृष्ठ ५५ ।
२ सुन्दर-ग्रन्थावली पृष्ठ ४२१ ।

तन ही तन को बिललात फिरै सठ जाचत है जन ही जन की ।
तब ही तन की मति सोच करै नरबात रहै मन ही मन की ॥
मन ही मन तृष्णा न मिटी पुनि मावत है धन ही धन की ।
छिन ही छिन सुन्दर आयु घटी कबहू न गयी तन ही तन की ॥
लाख करोरि अरब्ब खरब्बनि नील पदम्म तहां लग गाठी ।
कोरि ही कोरि भंडार भरे सब और रही भुमिभी तर दाटी ॥
तोहु न तोहि सन्तोष भया सठ सुन्दर ते तृष्णा नहिं काटी ।
सूझत नाहि न काल सदा सिर मारिकै थाप मिलाई माटी ॥[1]

मानव भौतिकता में ही अत्यधिक संलग्न है। अपनी क्षुधा को शान्त कर लेना ही वह परम धर्म समझता है। क्षुधा से राजा-रंक देव-नर इत्यादि सभी पीड़ित रहते हैं। ज्ञान के अभाव मे सभी भूख भूख करते है पर सन्तोष कोई नहीं धारण करता है।[2]

कबीर ने जिस प्रकार तृष्णा को डाकिनी कहा है उसी प्रकार सुन्दर दास ने तृष्णा को हत्यारिन एवं पापिन कहा है क्योंकि उनके अनुसार मानव की आध्यात्मिक जगत में असफलता एव भौतिक जगत म अशान्ति का एक मात्र कारण तृष्णा ही है।

खाति थुधा लरकै भिलि बालर दूरि कियो कबहू नहिं धोया ।
तू हतियारिनि पापिन कौहिनि सोच कछू मति नाहिं रोया ॥
तोहि मिल्यो तब ते भयी बन्धन तू नारि है तब ही होइ मोया ।
सुन्दर और कहा कहिये तुहि है तृष्णा अपत्तीकरि तीया ॥[3]

इस तृष्णा ने तीनों लोकों को अपनी विनाशकारी लपटों में झुलसा डाला तथा सातों सागरों के जल का शोषण किया फिर भी डायन की भांति मानव का भक्षण करने के हेतु दांत निकाले घूमती रहती है। अपरिमित मानवों का भक्षण करने पर भी इस डायन को सन्तोष नही होता है[4] वह अग्नि के समान बढ़ती हुई मानव का विनाश करती है

सुन्दर तृष्णा यो बढ़ै जैसे बाढ़े आगि ।
ज्यों-ज्यों नावै फूस की त्यों-त्यों अधिकी जाग ॥[5]

तृष्णा की गति प्रत्येक लोक के प्रत्येक प्राणी में है डायन के समान दांत निकाले हुये वह स्वर्ग पाताल एवं मृत्यु लोक तीनों में विचरण करती है

---

१ सुन्दर-ग्रन्थावली पृष्ठ ४२१।
२ सुन्दर-ग्रन्थावली पृष्ठ ४२४।
३ सुन्दर-ग्रन्थावली पृष्ठ ४२१।
४ सुन्दर-ग्रन्थावली पृष्ठ ४२४।
५ सुन्दर-ग्रन्थावली पृष्ठ ७११।

इस प्रकार संत-कवियों ने दीन बनने का उपदेश कर सामाजिक-जीवन को धनी बनाने का प्रयत्न किया है।

संतोषी व्यक्ति कंचन के समान सर्वत्र ही निर्मल होते हैं और उसके दर्शन मात्र से हृदय को आनन्द की अनुभूति होती है

साध सन्तोषी सर्वदा निरमल जा के बैन ।
ता के दरस स्परस से जिय उपजै सुख चैन ।।[1]

दुःख से पीड़ित मानव-समाज की सेवा करना प्रत्येक मानव का धर्म है। सेवा एवं विनम्रता में निकटतम सम्बन्ध है। विनम्र मानव में ही सेवा भाव जाग्रत हो सकते हैं। सामाजिक गुणों में सेवा का महत्व बहुत ही अधिक माना गया है। वस्तु व्यक्ति की सेवा करके ही समाज में सुख शान्ति स्थापित की जा सकती है। इन संत-कवियों ने यह भी बताया कि जो वस्तु एवं विनाश नहीं हैं वे भी यदि धन के गर्व या बल के मद से अनुचित कार्यों में संलग्न हैं तो वे भी सेवा एवं उपचार के पात्र हैं। इन संतों ने उपदेश दिया कि मानव को गर्व नहीं करना चाहिये यह संसार क्षणभंगुर है फिर गर्व किस वस्तु का करे। कबीरदास जी कहते हैं

कबिरा गर्व न कीजिये काल गहे कर केस ।
ना जानौं कित मारिहै क्या घर क्या परदेस ।।

संत मलूकदास गर्व करने वाले प्राणियों से कहते हैं

मन तू काहे पर गर्वाना ।
यह देही जैसे कांच की सीसी जबहू मरम न जाना ।।
जो दिन तोको आयु भयो है, सो दिन काल्हि न ऐहै ।।
हंस लचे पुनि फूकि जावगी फिर पाछे पछितैहै ।।
ये जो भाई बन्धु तुम्हारे सपने का सा मेला ।
जबय अस्त की बात कहत है कोई अमर न देखा ।।
छत्रपती राजा दुर्योधन एकोतर से जाके भाई ।
तेऊ धरि के काल गिरायेस जेऊ मूसहि लेत बिलाई ।।
रावन बैर कियो रघुपति सो लंका देखि भुलाना ।
सोला लाख तै चार सपूत है रावन जात न जाना ।।
चलत फिरत एक बड़ा तमासा तब कोई भाला लावै ।
प्राण गये जब काया छिनके तब कोई निकट न आवै ।।
(शब्द संग्रह)

मनुष्य की जाति तो पानी के बुलबुले के समान है

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ११-७ ।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ ६ ।

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जाता ।
एक दिना छिप जायगी ज्यौं तारा परभात ॥[१]

फिर भी मानव मृत्युभय से दूर, संसार में आसक्ति रखता है। इनको साहिब कहते हैं कि संसार मद मे मस्त है उसे कोई डर नहीं है

जगत मद मान में माता खुदी का शौक नहिं जाता ।
खड़ा सिर पर बड़ी हारे, फिरस्ते तीर तकि मारे ॥[२]

सभी संत-कवियों ने संसार की निस्सारता की ओर ध्यान दिलाया और बारम्बार इस दिशा में चेतावनी दी।

कबीर

कुसल कुसल हो पूछते जग में रहा न कोय ।
जरा मुई ना भय मुआ कुसल कहां से होय ॥[३]

दादू

दुख दरिया संसार है सुख का सागर राम ।
सुख सागर चलि जाइये दादू तजि बेकाम ॥[४]

मलूकदास

इस जीने का गर्व क्या, कहाँ देह की प्रीति ।
बात कहत दह जात है, बारू की सी भीति ॥[५]

सुन्दरदास

काल ग्रसत है बावरे चेतत क्यों न अजान ।
सुन्दर काया कोट में होइ रह्यो सुलतान ॥[६]

गरीबदास

पानी की एक बूंद सौं साज बनाया जीव ।
अंदर बहुत अदेस था बाहर बिसरा पीव ॥

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ६।
२ स बा स भाग २ पृष्ठ २४ ।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ ६।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ ७६।
५. स बा स भाग १ पृष्ठ १ १।
६ स बा स भाग १ पृष्ठ ११ ।
७ स बा स भाग १ पृष्ठ १८८।

तृष्णा होसे खाकसी स्वर्ग मृत्यु पाताल ।
सुन्दर तीन्यु लोक में भट्यो न एकहु मान्न ॥

इसी प्रकार संत गरीबदास जी ने भी लिखा है

आशा तृस्ना नदी में बूडे तीनूं लोक ।
ममता माया बिस्तरी आतम आलम दोष ॥[1]

संत मलूक दास ने आशा व तृष्णा को सभी गृहों में विद्यमान देखा

आशा तृष्णा सब घट व्यापी मुनि गंधर्व कोई न बाचा ॥

मलूकदास के अनुसार देव सुर एवं नर कोई भी उसके प्रभाव से नहीं बचा है। तृष्णा की होली में समस्त संसार दग्ध एवं उत्पीड़ित है। 'तृस्ना की होरी बरै बरै सभी नर-नार' सभी नर नारी जल रहे है परन्तु तृष्णा है कि घटने का नाम ही नहीं ले रही है।

चरनदास के मतानुसार समस्त दुखों का कारण तृष्णा ही है। तृष्णा और लोभ में बड़ा निकट सम्बन्ध है। तृष्णा मानव को अन्धा बना देती है और मानव विवेकहीन होकर असंगत कार्य करने लगता है।

लोभ नीच बर्जन करु महापाप की खानि ।
मन्त्री जाका मूठ है बहुत अबली जानि ॥
तृष्णा जाकी जाये है सो अंधा करि देय ।
बड़ी बड़ी सुधि नहीं नहीं जालका भेद ॥

इन संत-कवियों ने बारम्बार इसी ओर संकेत किया कि यदि तृष्णा का परित्याग कर दिया जाय तो समस्त दुख दूर हो जायें। तृष्णाओं को हृदय में जन्म देना ही समस्त दुखों एवं कष्टों का कारण है। सभी संत-कवियों ने बताया कि केवल आवश्यक सामग्री ही उपलब्ध करनी चाहिये। साथ ही संतोष के लिये आत्म संयम भी अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इन्द्रियों पर संयम एवं नियंत्रण सदैव होना चाहिये। इसी संयम एवं नियंत्रण के द्वारा मानव आत्मनिर्भरता को व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित कर सकता है। संयम के बल पर ही मानव योग-सिद्ध कर सकता है, योग-दर्शन में भी अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध बतलाया गया है

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'

मन का स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक है। वह किसी न किसी उधेड़बुन में लगा रहता है। कभी चुप नहीं रह सकता। इसलिये प्रयत्नशील होकर जहां जहां मन जाए वहां-वहां से लौटाकर उसे आत्म-चिन्तन में लगाना चाहिये

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ २७।
२ भक्ति सागर पृष्ठ १६६।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(गीता ६।२६)

कहा भी जाता है "संयम साधे सब सुख धाम।" जब संयम एवं नियंत्रण अपने आप ही हृदय में उत्पन्न हो जाता है, तब बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

सन्तों की दृष्टि में दीनता की भावना संतोष को आश्रय करने वाली होती है क्योंकि दीनता की भावना से ही प्रेम त्याग आत्मनिर्भरता एवं सन्तोष-वृत्ति का जन्म होता है। इन्हीं प्रवृत्तियों के द्वारा मानव सामाजिक-जीवन में उदारता का व्यवहार कर सकता है। दीनता की भावना से ईर्ष्या काम क्रोध-परसंताप आदि संकीर्ण और दोषमयी भावनाएं विनष्ट हो जाती हैं। कबीर ने कहा है दीन मनुष्य देवता बन जाता है क्योंकि वह तो सबका मुख देखता है परन्तु उसको कोई नहीं देखता

दीन लखै मुख सबन को दीनहिं लखहिं न कोय ।
भली बिचारी दीनता नरहु देवता होय ॥[1]

कबीर ने दीनता की उपमा द्वितीया के चन्द्रमा से दी है

सब ते लघुताई भली लघुता से सब होय ।
जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय ॥[2]

दीन व्यक्ति सदैव अपने को ही सबसे हीन समझता है। कबीर कहते हैं

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय ।
जो दिल खोजौं आपना मुझसा बुरा न होय ॥[3]

संत दरियादास भी लिखते हैं :

सुरग नरक बांधे नहीं मोच्छ बंध से दूर ।
बड़ी गरीबी जगत में संत चरन रज धूर ॥[4]

रैदास जी तो दोनों से जोर देकर कहते हैं

हरि सा हीरा छाड़ि के करै और की आस ।
तो नर जमपुर जायेंगे सत भाखै रैदास ॥

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ११।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ ११२।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ ११६।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ २ ६-१।

इस प्रकार संत-कवियों ने दीन बनने का उपदेश कर सामाजिक-जीवन को सुखी बनाने का प्रयत्न किया है।

संतोषी व्यक्ति कंचन के समान सदैव ही निर्मल होते हैं और उसके दर्शन मात्र से हृदय को आनन्द की अनुभूति होती है

साध सन्तोषी सर्वदा निरमल जा के बैन ।
ता के दरस परस से मिट उपजै सुख चैन ॥[1]

दुःख से पीड़ित मानव-समाज की सेवा करना प्रत्येक मानव का धर्म है। सेवा एवं विनम्रता में निकटतम सम्बन्ध है। विनम्र मानव में ही सेवा भाव जाग्रत हो सकते हैं। सामाजिक गुणों में सेवा का महत्व बहुत ही अधिक माना गया है। अन्य व्यक्ति की सेवा करके ही समाज में सुख शान्ति स्थापित की जा सकती है। इन संत-कवियों ने यह भी बताया कि जो नम्र एवं विनम्र नहीं हैं वे भी यदि धन के गर्व या बल के गर्व से अनुचित कार्यों में संलग्न हैं तो वे भी सेवा एवं उपचार के पात्र हैं। इन संतों ने उपदेश दिया कि मानव को गर्व नहीं करना चाहिये यह संसार क्षणभंगुर है फिर गर्व किस वस्तु का करे। कबीरदास जी कहते हैं

कबिरा गर्व न कीजिये काल गहे कर केस ।
ना जानौं कित मारिहै क्या घर क्या परदेस ॥[2]

संत मलूकदास गर्व करने वाले प्राणियों से कहते हैं

मन तू काहे पर गर्वाना ।
यह देही जैसे कांच की सीसी कबहूं मरम न जाना ॥
जो दिन तोको आयु गयो है सो दिन कबहिं न ऐहै ॥
टेम भये पुनि काढ़ि जायगो फिर पाछे पछितैहै ॥
ये जो भाई बन्धु तुम्हारे सपने का सा मेला ।
उदय अस्त की आन चलत है कोई अमर न देखा ॥
छत्रपती राजा दुर्योधन एकोतर से भाई ।
तेऊ धरि के काल गिरायेउ जैसे मुसहि मैत गिलाई ॥
रावन बैर कियो रघुपति सो लंका देखि भुलाना ।
सोना गढ़ ले बार समुद है रावन जान न जाना ॥
जनम मरन एक बड़ा तमाशा सब कोई माया लावै ।
प्राण गये जब काया बिनसे तब कोई निकट न आवै ॥
(शब्द संग्रह)

मनुष्य की शक्ति तो पानी के बबूले के समान है

१ स बा स भाग १ पृष्ठ २१७।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ ६।

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जाता ।
एक दिना छिप जायगी ज्यों तारा परभात ॥[1]

फिर भी मानव मृत्युमय इस क्रूर संसार में आसक्ति रखता है। तुलसी साहिब कहते हैं कि संसार मद में मस्त है उसे कोई डर नहीं है

जगत मद माल में माता जुगी का खौफ नहिं लाता ।
कजा सिर पर खड़ी हारे फिरस्ते तीर तकि मारे ॥[2]

सभी संत-कवियों ने संसार की निस्सारता की ओर ध्यान दिलाया और बारम्बार इस दिशा में चेतावनी दी।

कबीर

कुसल कुसल ही पूछते जग में रहा न कोय ।
जरा मुई ना भय मुआ कुसल कहाँ से होय ॥[3]

दादू

दुख दरिया संसार है सुख का सागर राम ।
सुख सागर चलि जाइये दादू तजि बेकाम ॥[4]

मलूकदास

इस जीने का गर्व क्या, कहाँ देह की प्रीति ।
बात कहत ढह जात है, बारू की सी भीति ॥[5]

सुन्दरदास

काल ग्रसत है बावरे चेतत क्यों न अजान ।
सुन्दर काया कोट में सोइ रह्यो सुलतान ॥[6]

गरीबदास

पानी की एक बूंद सों साज बनाया जीव ।
अंदर बहुत अबिस था बाहर बिसरा पीव ॥[7]

---

१ सं बा सं भाग १ पृष्ठ ९ ।
२ सं बा सं भाग २ पृष्ठ २४ ।
३ सं बा सं भाग १ पृष्ठ ९ ।
४ सं बा सं भाग १ पृष्ठ ७९ ।
५. सं बा सं भाग १ पृष्ठ १ १ ।
६ सं बा सं भाग १ पृष्ठ ११ ।
७ सं बा सं भाग १ पृष्ठ १८८ ।

निर्गुण सन्त-कवियों के जीवन की ज्योति ने जनता के पथ को आलोकित कर दिया कारण कि वे सेवा भाव में ही रत रहते थे। अतः उस युग की निराश जनता को आशा की ज्योति दिखाई दी। संत कबीर का कथन है

सेवक सेवा में रहै अनत कहूँ नहि जाय।
दुख सुख सिर ऊपर सहै कहै कबीर समुझाय ॥[1]
दासा तनी भावे नहीं सेवा करै दिन रात।
कहु कबीर ता सेवकहिं काल करै नहि घात ॥[2]

सेवा भाव वाले व्यक्ति को किसी ब्रह्म की साधना नहीं करनी पड़ती है वह तो स्वयं ही ब्रह्ममय हो जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' घट-घट व्यापी ब्रह्म का सेवक तो स्वतः ही ब्रह्ममय है। इसी भाव की अभिव्यक्ति संत दादू ने निम्नलिखित शब्दों में की है :

दास दुखी तो हरि दुखी आदि अंत तिहु काल।
पलक एक में प्रगट है छिन में करै निहाल ॥[3]

इसी प्रकार मीरा, मलूकदास, सुन्दरदास, चरनदास, पलटू साहिब आदि सन्तों ने भी सामाजिक-जीवन में सेवा को आवश्यक माना है। जीवन को उन्नत बनाने के हेतु ये गुण अत्यन्त आवश्यक हैं। व्यक्ति की उन्नति के साथ समाज का विकास होता है इसलिये इन कवियों ने व्यक्ति को उन्नत बनाने के लिये अथक परिश्रम किया। इस प्रकार समाज के विकास में उन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से महत्वपूर्ण योगदान दिया।

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ११।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १६।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ १६।

धार्मिक परिस्थितियाँ एवं दर्शन

मध्ययुगीन धार्मिक परिस्थितियों पर हम सविस्तार प्रथम परिच्छेद में उल्लेख कर चुके हैं। अतः यहाँ पर पिष्टपेषण अपेक्षित नहीं है। यहाँ पर केवल सूक्ष्म आभास देकर हम भारतीय-दर्शन पर अपने मत को प्रकट करेंगे।

मध्य-युग में जीवन पर धर्म की गहरी छाप थी। समाज के सभी क्रिया कलाप धर्ममूलक थे। मुसलमान शासक धर्म के नाम पर न्याय करते थे जिसके कारण सहस्रों बार भारत भूमि पर रक्तपात भी हुआ। यह हिन्दू-मुसलमानों का संघर्ष काफी काल तक चलता रहा। केवल कुछ शासकों के राज्य-काल को छोड़कर[1] अन्य शासक हिन्दू-समाज एवं हिन्दू-संस्कृति पर बराबर आक्रमण करते रहे। कारण कि भारत पर मुसलमानों का प्रबल एवं स्थायी शासन स्थापित हो चुका था और मुसलमान शासक इस्लाम के प्रसार पर ध्यान दे रहे थे। भारतीयों के धार्मिक जीवन में बहुत अन्तर आ गया था। केवल हिन्दू होने के कारण ही उनको जजिया कर देना पड़ता था।

इधर हिन्दू-धर्म भी बाह्याडम्बरों से घिरा हुआ था। गृहस्थ एवं साधु सभी माला तिलक लगाकर सत्य की खोज में भटक रहे थे माला तिलक बनाया पूर्ण और माला इन्हीं बाह्याडम्बरों को दिखाकर अपनी तृष्णा के साधन संगृहीत कर रहे थे। राजा प्रजा एवं योगी सभी माया में व्यस्त थे राजा परजा जोगी तपसी भीज रहे संसारी" माया के बन्धनों में जकड़े हुये स्वयं पथभ्रष्ट प्राणी दूसरों को उपदेश देते घूम रहे थे। जो स्वयं ही सत्य के आलोक से अपरिचित थे वे भला दूसरों को क्या उपदेश दे सकते थे। वे तो केवल भ्रमवश बाह्याडम्बरों (माला तिलक धूनी रमाने) को ही धर्म समझ बैठे थे। अपने ही घट में विराजमान ब्रह्म को देखने की चेष्टा ही नहीं करते थे। दूसरी ओर मुसलमान शासक तलवार के बल पर हिन्दुओं के मस्तिष्क से राम की भावना हटाने का प्रयत्न कर रहे थे। इस प्रकार भीतर से तो पाखंड नैतिक-पतन और पारस्परिक दुर्भावना हिन्दू-धर्म को जर्जर बना ही रही थी और बाहर से

---

१ अकबर जहाँगीर, शाहजहाँ।

इस्लाम के आधीन हो रहे थे। इस कारण हिन्दू जनता के हृदय में श्रद्धा के स्थान पर भय प्रतिष्ठित हो चुका था। अहिंसा त्याग और सत्य का स्थान बलिदान ऐश्वर्य और विलासिता ने ले लिया था। साथ ही विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय मतवैषम्य के कारण एक दूसरे की आलोचना में तत्पर थे। मध्यकाल में विभिन्न धर्मों का रूप निरंकुश रहा है। अब हम यह देखेंगे कि विभिन्न दर्शनों का निर्गुण काव्यधारा पर क्या प्रभाव पड़ा है।

निर्गुण-काव्य धारा की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में भारतीय-दर्शन की चिन्तन धारा स्थल-स्थल पर दृष्टिगत होती है। भारत की चिन्तनधारा ने आदि काल से जिस शाश्वत सत्य एवं परमानन्द की अनुभूति की प्राप्ति में दर्शन ग्रन्थों की रचना आत्मानुरागियों से कराई उन सभी कृतियों में विचार प्रदर्शनों में चाहे जितनी विभिन्नता रही हो पर सबका उद्देश्य अंत में सभी विभिन्नताओं को एक ही सूत्र में ले आया जो भारतीय चिन्तनधारा का अजस्र-स्रोत बनकर केवल एक ही समस्या के समाधान में रत रही। हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? किसने हमें भेजा है ? कौन लौटाता है ? दुःख क्या है ? दुःख-सुख में क्या भेद है ? आत्मा-परमात्मा का क्या सम्बन्ध है ? दृश्यमान जगत का वास्तविक रूप क्या है ? सृष्टि निर्माणकर्त्ता चेतन है अथवा अचेतन ? ईश्वर है अथवा नहीं है ? ये सभी समस्यायें समय-समय पर विभिन्न रूपों में विभिन्न आत्मानुरागियों की चिन्तन क्रिया में मंथन स्वरूप विभिन्न धारों रूपों एवं कलेवरों में आती रहीं परन्तु उन सबों में भावों की एकरूपता लौकिक एवं पारलौकिक चिन्तन और तत्कालीन दुःख पीड़ा एवं अवसाद पर विजय पाकर जीवन जगत में सब सुन्दर है सब श्रेष्ठ है और अन्त में परमानन्द से साक्षात्कार की भावना का ही प्रतिपादन किये रही। आत्मा की महत्ता को सभी आत्मानुरागियों ने श्रेष्ठ माना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की दार्शनिक चिन्तन-धारायें चाहे वे आस्तिक धर्म की हों या नास्तिक तब में विरोध होते हुये भी जो आत्मा की बात रही है उसे सब ने एक ही मन से स्वीकार किया है। मार्ग में विविध रूप हो जायें पर सबका उद्देश्य एक ही रहा है और सम्भवतः यही कारण है कि मध्य-युग में सगुण-निर्गुण का विचार होते हुये भी दर्शन की शाखायें प्रशाखायें होते हुये भी भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता अक्षुण्ण बनी रही और आज भी भारत का पारलौकिक उद्देश्य नाना मत-मतान्तरों के होते हुये भी एकता की ही स्वर्णिम लड़ियों को पिरोये हुये परमार्थ के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है।

भारत सदा से बौद्धिक चिन्तना के क्षेत्र में विश्व का अग्रणी रहा है। नैतिक पृष्ठभूमि पर आज भी भारत जितना बल देता है उतना बल विश्व के किसी देश ने देने का साहस नहीं किया है। इसका एक मात्र कारण है कि आज से हजारों वर्ष पहले देशों ने जिस युग का सूत्रपात किया था उसी समय में भारत की पुण्य भूमि में दार्शनिकों का आविर्भाव हो चुका था एवं नये रूप में संसार के कण-कण में

व्याप्त अनेकानेक रहस्यों से परिचित होने के लिये उकसाया था। भारत की शस्य श्यामला भूमि अन धान्य से परिपूर्ण थी जिसने करोड़ों निवासियों की क्षुधा का निवारण स्वयं कर दिया था। यही कारण था कि भारत में जन्म लेने वाले मानव ने अपनी शक्तियों को भूख-प्यास की ज्वाला के निवारणार्थ न लगाकर बौद्धिक-चिन्तन के क्षेत्र में अपनी शक्तियों को व्यय करने लगा जिसके फलस्वरूप भारत ने विश्व को एक नया जीवन-दर्शन दिया।

वैदिक-युग में वेदों की रचना की गई जो आगे चल कर श्रौत दर्शन के रूप म भारत के दार्शनिक विचारो के मनन का माध्यम बनी। वेद संहिता एवं उपनिषदों ने जीव जगत ब्रह्म पर न जाने कितने तत्व-द्रष्टा सन्तो न विचार किया और दिव्य दृष्टि लेकर भारत के दर्शन-क्षेत्र का एक अध्याय पूरा किया।

भारत के दर्शन-क्षेत्र का दूसरा सोपान महाभारत-काल में गीता-दर्शन के रूप में आया और उस छोटी सी पुस्तिका में ज्ञान-विज्ञान की चिन्तन रेखा अपने उच्चतम शिखर पर पहुची जिसने आध्यात्मवाद और व्यवहारवाद का जो अनोखा समन्वय उपस्थित किया वह आज भी विश्व के चिन्तकों के लिये मूल रूप में जीने और जी कर कुछ करने की प्रेरणा देता आ रहा है।

भारत के दर्शन-क्षेत्र के तीसरे सोपान पर एक नवीन चिन्तनधारा का प्रवेश हुआ जिसके प्रवर्तक चार्वाक ऋषि थे। उन्होंने नवीन दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता पर बल दिया और श्रौत-दर्शन एवं गीता म व्यक्त दार्शनिक व्याख्याओं का उपहास करते हुये अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाई और अनुमान को अप्रामाणिक बताया।

चतुर्थ सोपान पर जैन-धर्म ने जैन-धर्म के सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया और महावीर स्वामी एवं उनके अनुयायियों ने तत्व समीक्षा आचार-मीमांसा प्रमाण-विचार आदि पर विचार करके आत्मा और उसके विविध रूपों मे नये ढंग से चिन्तन किया जो श्रौत गीता चार्वाक के दार्शनिक विचारधाराओं से नितान्त भिन्न था।

पंचम सोपान पर महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म की चिन्तनधारा का द्वार खोल दिया। जो आगे चलकर हीनयान एवं महायान विचारों मे विभक्त होकर अपने मत-मतान्तरों को पीड़ित और प्रताड़ित मानव समाज के सम्मुख रखा जिसमे वैभाषिक मत योगाचार विज्ञानवाद शून्यवाद पर नये दृष्टिकोणों और आचारो को जन्म दिया गया।

भारत के दार्शनिक-क्षेत्र मे षष्ठ सोपान पर छः दर्शन सिद्धान्त आय। ये निम्नलिखित रूप में विकसित हुये

(१) गौतम का न्याय-दर्शन (२) कणाद का वैशेषिक-दर्शन (३) कपिल का सांख्य-दर्शन (४) पतञ्जलि का योग-दर्शन (५) जैमिनि का मीमांसा-दर्शन (६) शंकर का अद्वैत वेदान्त-दर्शन

इन छः दार्शनिक विचारधाराओं ने अपने मत की पुष्टि के लिये सैकड़ों विद्वानों

को जन्म दिया और हर एक दर्शन के मानने वालों की पीढ़ी नवीन विचारों को सम्मिलित करती गई जो आज भी भारत के कोने-कोने में अपने विचारों के प्रतिपादन में व्यवस्थित हैं।

भारतीय-दर्शन के सप्तम सोपान पर वैष्णव दर्शन ने जन्म लिया और रामानुजाचार्य ने एवं उनके अनेक सहयोगियों ने विशिष्टाद्वैत के रूप में नवीन दर्शन व्याख्या को भारत के सम्मुख प्रस्तुत किया। रामानुजाचार्य की पदार्थ-मीमांसा ने आगे चलकर माध्वाचार्य का माध्वमत निम्बार्काचार्य के निम्बार्क-मत को जन्म दिया।

वैष्णव-दर्शन भूमि पर भी वल्लभाचार्य जी ने वल्लभ-सम्प्रदाय की स्थापना कर वल्लभ मत का सूत्रपात किया। वैष्णव-दर्शन के साथ-साथ ही शैव-दर्शन ने भी काश्मीर में जन्म लिया और शैव-दर्शन की अद्वैत भूमि ने धीरे-धीरे अपने विचारों को बल देकर शैव-तन्त्र के सिद्धान्तों को प्रस्फुटित किया अष्टम सोपान।

भारत में दार्शनिक चिन्तन-स्रोत की उपर्युक्त आठ धारायें अपने साथ अगणित विचारों का लेखा जोखा साथ लेकर आईं। विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच वाद विवाद और संघर्षों के बीच भी भारत की धार्मिक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक एकता अपने में एक रूप लिये ही रही जिसका फल भारत के साहित्य में भी वेग से प्रस्फुटित हुआ।

भारतीय-दर्शन धर्म के साथ ही चलता है। अस्तु, हम भारत के दार्शनिक इतिहास को धर्म से अलग नहीं कर सकते हैं। दर्शन और धर्म भारतीय चिन्तकों के दृष्टिकोण से कभी भी अलग नहीं हुये हैं। उपर्युक्त दार्शनिकों के मत मतान्तर उनके अपने ही धार्मिक विचारों को दृढ़ करने के लिये मुखरित हुये हैं। हमारे यहाँ प्रत्येक धर्म का प्रत्येक मत का अपना अलग दर्शन है। पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र का जन्म धर्म से नहीं हुआ। यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक दर्शन का जन्म आश्चर्य एवं कौतुक से मानता है। परन्तु भारत में दर्शन धर्म एवं धार्मिक भावनाओं *भावनाओं को एक वैज्ञानिक सुनिश्चित रूप देने के लिये ही रचा गया है।* इसलिये भारत का प्रत्येक धर्म प्रत्येक मत अपने धर्म के साथ एक दर्शन को जोड़ता चला आया है। धर्म तर्क की वस्तु नहीं है ऐसा अन्य धर्मावलम्बी भी मानते आये हैं परन्तु भारतीय धर्म तर्क को भी मान्यता देता आया है।

इसी कारण शैव और वैष्णवों में संघर्ष हुआ। इसी कारण से भारतीय धर्म में करोड़ देवी-देवताओं की पूजा करने वालों ने अपने मन्दिर और मठ बनवाये सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये वाद-विवाद हुये अज्ञान के कारण रक्त की सरितायें बहीं *परन्तु धर्म का विचार व्यापक दृष्टिकोण से देखना बन्द न हुआ और प्रत्येक चिन्तक* अपनी स्वतन्त्र चिन्तना-शक्ति के बल पर जो कुछ भी कहना चाहता था कहने का प्रयत्न किया और प्रत्येक मनीषी को भारत की लाखों करोड़ों जनता ने सहिष्णुता के साथ सुना और प्रत्येक मत को भारत की जनता ने करोड़ों की संख्या में अपनाया। परमात्मा है या नहीं ? इस समस्या पर आस्तिक और नास्तिक धर्म बनते चले भी गये।

परन्तु भारत की मूल सांस्कृतिक एकता ने आस्तिक और नास्तिक के झगड़ों में अपने को नहीं नष्ट किया। ईश्वर का कोई रूप है ? वह सगुण है अथवा निर्गुण इस विषय पर लाखों बार लाखों करोड़ों रूप में वाद-विवाद हुये। परन्तु भारत की मूल सांस्कृतिक एकता सगुण-निर्गुण के झगड़ों में नहीं पड़ी और यही कारण है कि आज भी गहन गम्भीर अध्ययन करने वाला जिज्ञासु विद्यार्थी भारत में फैले लाखों मत मतान्तरों के बीच हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक तथा गुजरात से लेकर आसाम तक भारत में एक अनोखे प्रकार की सांस्कृतिक और धार्मिक एकता देखता आया है।

आज भारत के सभी दर्शन ग्रंथो पर मनन कर जिज्ञासु विद्यार्थी कह उठता है— सभी दार्शनिक व्याख्याओं की पृष्ठभूमि में समान रूप से मूल-भावना छिपी है सभी दार्शनिकों ने आत्मा की श्रेष्ठता पर बल दिया है और सभी ने श्रवण मनन मार्ग और क्रिया पर बल दिया है। ये सभी श्रेष्ठ मार्ग तक ले जाने वाले हैं। ये निराशा व्यर्थ के तर्क अकर्मण्यता से दूर शाश्वत सत्यता की ओर खोजने की शक्ति प्रदान करते हैं।

सभी दर्शनों ने कर्म को प्रधान माना है। सबने कार्य और कारण के सम्बन्ध के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई है कहीं पर भी तो मूल भावना मे विरोधाभास के दर्शन नहीं। सभी तो केवल परमानन्द शान्त शाश्वत सत्यता में लीन होकर दुख निवारण के कारण दुख के निवारण में रत हैं। हाँ यह अवश्य है कि सबके मार्ग भिन्न भिन्न है और रूप पृथक-पृथक है। परन्तु परम-तत्व की खोज तो सबका ही उद्देश्य सदा-सर्वदा कला-ज्ञान-विज्ञान सभी म दृष्टिगत होता चला आ रहा है। भारतीय भाषाओं के प्रमुख साहित्यकारो ने शिल्पियों की शिल्पकला में चित्रकारों के सुन्दर चित्रों में भारतीय-दर्शन के मूल उद्देश्य ही तो प्रतिफलित हुये हैं। अजंता और एलोरा की गुफाओं में अशोक के शिला-लेखों में भारत की आत्मा ही तो उभरी है। भारत की आत्मा ने आस्तिक या नास्तिक सगुण और निर्गुण से दूर रहकर सब में एक ही भाव भरे हैं, सब ने एक दूसरे से ही प्रेरणा ली है।

निर्गुण-काव्य-धारा की सामाजिक पृष्ठ-भूमि म निर्गुण-काव्य-धारा के महान् काव्याचार्यों ने भारत की सभी दार्शनिक मान्यताओं को समझ कर अपने काव्य मे एक ही स्वर-संगीत की रचना की है। सूर, तुलसी के सगुण रूप मे प्रतीक का रूप लिये राम का मर्यादा पुरुषोत्तम रूप और योगेश्वर श्रीकृष्ण की मुरली ने जो रूप रस-माधुरी की वर्षा कर भटके विभ्रान्ति एवं विगृ क्षमित मन की पीड़ा को हरा है ठीक उसी भांति कबीरदास मलूकदास दादू सुन्दरदास चरनदास नानक जगजीवन आदि की कविताओं पदा एवं साखियों ने ज्ञानमयी मार्ग का रूप खोलकर अपनी कविताओं की रस-माधुरी से भटके विभ्रान्ति एवं विगृ क्षमित मन की पीड़ा को हरा और साथ ही एक नवीन दिव्य-दृष्टि दी। कृष्ण भक्ति एवं राम भक्ति की सगुण शाखा ने जितना भारतीय-दर्शन से लिया है। ज्ञानमयी कवियों ने भी उतना ही

भारतीय-दर्शन की चिन्तना से क्रम प्राप्त किया है। इसकी व्यापक सत्यता को ज्ञात करने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वेदान्त से लेकर वैष्णव एवं शैव-दर्शन तक हम क्रम से यह जानने के लिये प्रयत्न करें कि इन दर्शन ग्रन्थों की अपने-अपने युग में कौन सी मान्यतायें रही हैं और उनके आचार्यों ने अपने अपने क्षेत्रों में किन किन सिद्धान्तों और आदर्शों पर बल दिया है। सर्वप्रथम हम वेद-दर्शन का अध्ययन करेंगे।

वेद-दर्शन

वेद भारत का प्राचीनतम धर्म एवं दर्शन ग्रन्थ है। इस असार संसार में चारों ओर दुःख ही दुःख है। उसकी निवृत्ति के उपाय एवं उपचार के साधन भी हमें वेदों से मिलते हैं।

वेदों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं

(१) मंत्र (२) ब्राह्मण

मंत्र विभिन्न देवताओं की स्तुति में प्रयोग किये जाते हैं। ब्राह्मण यज्ञ एवं अनुष्ठान का विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत करने वाले जो आगे चलकर ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाये।

वेदों में उच्चरित मंत्र-संहिता के रूप आये और चार संहिताओं का निर्माण हुआ। ये संहिताएं निम्नलिखित हैं

(१) ऋग (२) यजु (३) साम (४) अथर्व[1]

वेद को तीन भागों में विभाजित किया गया है। जो संहिता ब्राह्मण आरण्य के रूप में सामने आये। ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ आरण्यकों के अन्तिम भाग में उपनिषद् आये जो अध्यात्मवाद की समस्याओं का विवेचन करने वाले हुये और वेद के अन्त में आने के कारण वेदान्त भी कहलाये।

वेदों में देवताओं का बाहुल्य पग-पग पर दृष्टिगत होता है। पृथ्वी अन्तरिक्ष एवं द्युस्थान के देवताओं की कल्पना की गई और अग्नि इन्द्र सूर्य विष्णु को प्रमुख देवताओं में स्वीकार कर विभिन्न प्रतीकों से उन्हें सुसज्जित किया गया।

इस प्रकार की वेदों की संगठन शक्ति ने भारत को एक दृढ़ आधारयुक्त दर्शन दिया और एक व्यापक शक्ति के रूप में आकार निरूपण की भावना भी धीरे-धीरे

---

१ मन्त्र ब्राह्मणयो वेद.

२ ऋग्वेद में होम कार्य के लिये।
यजु में याग के विविध होमों एवं इतर भूमि अनुष्ठानों के लिये।
सामवेद में ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर गाने के लिये।
अथर्व वेद नमक याग एवं अनुष्ठान की पूर्ण सिद्धि के लिये।

भारतीयों में आती गई। देवताओं के साथ-साथ वेदों में देवियों की भी कल्पना की गई। उषा को आकाश की पुत्री एवं तमोमयी रजनी भगिनी के रूप में आयी। ऋग्वेद में ऋतु की बड़ी ही सुन्दर एवं प्रभावशाली कल्पना की गई और उसे सत्य अविनाशी सत्ता के रूप में माना।

वेदों की संगठन शक्ति ने मानव-समाज को एक दृष्टि दी। संसार में व्याप्त अनेकानेक रहस्यों को देखकर साधक कह उठा

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमा विध्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥[1]

न मुझे दायें का ज्ञान है न बायें का। मैं पूर्व और पश्चिम को भी नहीं जानता मेरी बुद्धि भी पूर्ण नहीं है, मैं हारा हुआ और व्याकुलता लिये भटक रहा हु यदि आप मेरा पथ प्रदर्शन करें तो मुझे उस अभय-ज्योति का ज्ञान हो सकता है।

उपर्युक्त श्लोक में साधक ने हार मान कर सृष्टि और नियंता के सामने घुटने टेक कर उसकी कृपा के फलस्वरूप जीवनयापन की कामना के दृढ़ संकल्प को अपना बैठा जो दुःख से छुटकारा पाने के लिये मंत्र के रूप में पनपा।

ब्रह्म-तत्व से देवताओं की उत्पत्ति का व्यापक रूप हमें ब्राह्मण ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। आरण्यक में आत्मा को विज्ञानमय तथा आनन्दमय का रूप भी दिया है। इसमें सभी स्थावर और जंगम जो कुछ जगत में है, सभी आत्मा ही है इसी आत्मा से सृष्टि होती है और अन्त में इसी में लीन हो जाती है।

उपनिषद् में भौत-दर्शन का विविधता का दृष्टिगत होता चलता है और साथ ही तर्क को भी व्यापक महत्व दिया गया है। युक्ति और प्रश्नोत्तरों में आत्मा से साक्षात्कार कराने की चेष्टा की गई है।

उपनिषद् का अर्थ है निश्चयपूर्वक विद्या ब्रह्म परब्रह्म आत्मा परमात्मा पर निरूपण कर न दुःख से चरम निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति उपनिषदों का विशेष विषय रहा है।

उपनिषदों में प्रत्येक शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न किया गया। सूक्ष्म उपासना-पद्धति तथा स्थूल उपासना-पद्धति सभी पर विचार करते हुये सत्,चित्, आनंद की प्राप्ति ही उपनिषदों का प्रतिपादित विषय रहा है। प्रत्येक उपनिषद् अपने में प्रश्नोत्तरों की लड़ियां संजोये हुये अपने में पूर्ण है।

(१) ईशावास्योपनिषद् में दर्शन के परम लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिये ज्ञानोपार्जन के साथ-साथ कर्म को भी प्रधानता दी गई है।
(२) केनोपनिषद् में ब्रह्म की महिमा का वर्णन है।
(३) कठोपनिषद् आत्मा-ज्ञान की महिमा एवं आत्मा के स्वरूप के निरूपण को महत्व दिया गया है।

---

[1] ऋग्वेद २।२७।११।

(४) प्रश्नोपनिषद् ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के सम्बन्ध में उल्लेख हुआ है।
(५) मुंडकोपनिषद् में 'सप्रपंच ब्रह्म' का निरूपण है।
(६) मांडूक्योपनिषद् में प्रणव की महत्ता का वर्णन है।
(७) गौड़पादकारिका में अद्वैत-वेदान्त के सारांश को सुन्दर रूप में लिखा गया है।
(८) तैत्तरीयउपनिषद् के तीन खंड हैं
    (क) शिक्षाध्याय (ख) ब्रह्मानन्दवल्ली (ग) भृगुवल्ली शिक्षाध्याय में वर्ण तथा स्वर के सम्बन्ध में उपदेश है। ब्रह्मानन्द में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण एवं भृगवल्ली में ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया गया है।
(९) ऐतरेय में सृष्टि जन्य आत्मा में ज्ञान एवं विचार को महत्व दिया गया है।
(१) छान्दोग्य में सूक्ष्म उपासना द्वारा ब्रह्म-ज्ञान की महिमा बताई गई है।
(११) बृहदारण्यक —ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का प्रतिपादन एवं उपदेशों का सुन्दर वर्णन हुआ है।

ईशावास्योपनिषद् मे पूर्ण मे से पूर्ण निकाल देने पर भी पूर्ण ही शेष रह जाता है[1] की मनोहर और प्रभावशाली उक्ति ने उपनिषदों के दर्शन एवं इतिहास को जो नई दिव्य दृष्टि दी है उसके फलस्वरूप आत्म-तत्व की विवेचना के द्वार खुल गये।

मृत्यु सबसे बड़ा रहस्य है वह कहाँ से आती है? आत्मा की सत्ता इस जीवन तक ही सीमित है या इस जीवन के समाप्त होने पर भी वह अमर रहती है। इस समस्या का समाधान कठोपनिषद् म किया गया है। नचिकेता और यमराज के प्रश्नोत्तर कठोपनिषद् में बड़े सुन्दर ढग से व्यक्त किये गये हैं जो आगे चलकर ठोस दर्शन की मीमासा के मूल कारण बने

आत्मा नित्य है। वह कभी नहीं मरती न दोनों को प्राप्त होती है। वह विषय ग्रहण वाली इन्द्रियों सकल्प-विकल्प वाले मन से विवेचनात्मक बुद्धि से कारण भूत प्राणा से पृथक है।

एक स्थान पर शरीर रथ मन लगाम इन्द्रियां घोड़ और आत्मा को रथ स्वामी कहकर आत्मा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है।[2]

---

१ ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
  पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते

२ आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेवतु।
  बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेवच।
  इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान तेषु गोचरान्।
  आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण ॥   कठोपनिषद् ॥ ४ ॥

वेद-वेदान्त दर्शन मे पुरुष-आत्मा की स्वतन्त्रता पर भी बराबर बल दिया गया है। माण्डूक्य उपनिषद् में जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति आत्मा की तीन विभिन्न अवस्थायें बताई गई हैं जो विश्व तैजस और प्राज्ञ के रूप में आती हैं। परन्तु आत्मा का यह सच्चा स्वरूप नही है। शान्त शिव अद्वैत का सच्चा रूप ही आत्मा है और यह आत्मा ही तुरीय है।

उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों ही रूपों पर विशेष विवेचन किया गया है।

जगत के सम्बन्ध मे ब्रह्म उसका उपादान और निमित्त कारण माना गया है। मकड़ी जिस प्रकार अपने शरीर से जाला डालती है फिर अपने में समेट लेती है ठीक उसी प्रकार प्रभु भी जगत के निर्माण एवं नाश का मूल कारण है।

ब्रह्म जगत जीव और आत्मा पर विचार करने के कारण वेदान्त का व्यवहार पक्ष बहुत ही सुदृढ़ हुआ जिसमें

(१) आत्म-संयम
(२) दान
(३) दया
(४) सत्य
(५) कर्म-स्वातन्त्र्य
(६) धर्म पालन
(७) सदाचार
(८) ब्रह्मचर्य-पालन
(९) शास्त्र के प्रति आदर तथा
(१) धार्मिक एवं सात्त्विक पुरुषों का सत्संग

पर बृहदारण्यक छान्दोग्योपनिषद् आदि मे उपर्युक्त गुणों की अभिवृद्धि के हेतु छोटी-छोटी अगणित कथायें दी गई हैं जो मानव-मात्र के विवेक को जगाने में सदा सर्वदा अग्रसर रही हैं।

इस प्रकार वेद से लेकर वेदान्त की दर्शनधारा ने भारतीय जीवन मे उत्तरोत्तर कल्याण के मार्ग खोल दिये जो सत्य प्रेम और कर्म स्वातंत्र्य के पथ पर चलते हुये आत्म-ज्ञान के अभिलाषी थे।

वेद से वेदान्त तक आत्मा की श्रेष्ठता और पुरुषार्थ पर आवश्यक बल दिया गया। मुक्तिकोपनिषद् मे मुक्ति का मूल-मन्त्र पुरुषार्थ माना गया है।

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्[1]।

---

[1] मुक्तिकोपनिषद्—२।३।६।

वासना रूपी नदी दो मार्गों से बहती है शुभ और अशुभ। मानव मात्र अशुभ मार्ग से बहती हुई नदी को प्रयत्न द्वारा शुभ मार्ग की ओर ले जाय मैं निश्चय ही वेद से वेदान्त तक की भूमि गीता-दर्शन की तैयार की उसने निश्चय ही भारत के सम्मुख एक नया जीवन-दर्शन रखा जिसके आधार पर भारत अपने नैतिक मूल्यों को पहचानता हुआ उन्नति के पथ पर अग्रसर होता गया।

२—गीता-दर्शन

महाभारत काल में भूमि के लिये घटित भाई-भाई के संघर्ष में चाहे कितना प्रलयकारी संग्राम उपस्थित कर दिया हो और उसी के फलस्वरूप महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ की रचना हो गई हो परन्तु उसके परिणामस्वरूप महाभारत के अन्तर्गत गीता के सात सौ श्लोकों ने भारतीयों की चिन्तन-शक्ति में बड़े वेग से एवं आश्चर्यकारी परिवर्तन का सूत्रपात अवश्य ही किया। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

महाभारत का ऐतिहासिक संग्राम होने को था पांडव और कौरवों की सेना रथ हाथी घोड़ों से सुसज्जित खड़ी थी। ऐसे समय में रथ पर बैठे हुये अर्जुन को अपने ही बन्धु-बान्धव सहोदरों एवं गुरुओं के प्रति शस्त्र उठाने में भय की भावना आई और मोह हुआ। युद्ध में अपने प्रियजनों की मृत्यु, पूज्य आचार्यों के मरण के दुःख का भार नहीं सहन कर सकेंगे इसलिये युद्ध नहीं होना चाहिये। एवं ऐसे समय में सारथी के रूप मे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया जो माया-मोह से दूर कर्तव्य पर ही आधारित था और इस प्रकार गीता के सात-सौ श्लोकों ने भारतीय-विचार और चिन्तना-शक्ति में एक अपूर्व क्रान्तिकारी परिवर्तन किया।

गीता के ये सात-सौ श्लोक अठारह[1] अध्यायों में विभाजित हुये हैं, जिसम प्रत्येक अध्याय अपने एक विषय के अन्तर्गत आने वाली पूर्ण शंकाओं का समाधान करता चलता है।

इन अठारह अध्यायों में जीव जगत ब्रह्म मोक्ष को बड़े ही सुन्दर एवं दार्शनिक ढंग से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। जीवन के कर्मक्षेत्र का कोई भी ऐसा

---

[1] प्रथम अध्याय अर्जुन का विषाद
द्वितीय अध्याय सांख्य-योग
तृतीय अध्याय योग-शास्त्र कर्म-योग
चतुर्थ अध्याय ज्ञान कर्म सन्यास-योग
पंचम अध्याय कर्म संन्यास-योग
षष्ठ अध्याय आत्मसंयम-योग
सप्तम अध्याय ज्ञान-विज्ञान-योग
अष्टम अध्याय अक्षर-ब्रह्मयोग
नवम अध्याय राजविद्या-योग
दशम अध्याय विभूति-योग
एकादश अध्याय विश्वरूप दर्शन-योग
द्वादश अध्याय भक्ति-योग
त्रयोदश अध्याय क्षेत्र क्षेत्रज्ञ-विभाग
चतुर्दश अध्याय गुणत्रय विभाग-योग
पंचदश अध्याय पुरुषोत्तम-योग
षोडश अध्याय देवासुर सम्पद्वि भाग-योग
सप्तदश अध्याय श्रद्धात्रय विभाग-योग
अष्टदश अध्याय मोक्ष संन्यास-योग

विषय नहीं है जो गीता में वर्णित बचा हो। उसने निश्चय ही मोक्ष के द्वार खोले हैं।

बन्धु-बान्धवों से युद्ध करूं या न करूं ? अर्जुन का यह प्रश्न ही गीता का जन्मदाता है। श्रीकृष्ण ने अपने सदुपदेशों से आचार-मीमांसा का जो प्रतिपादन किया उसके ही फलस्वरूप गीता योग-शास्त्र एवं कर्म-शास्त्र का आधार बनी।

गीता का दर्शन भी दो विचारों को लेकर चलता है

(१) अध्यात्म-पक्ष (२) व्यवहार-पक्ष

अध्यात्म-पक्ष में ब्रह्म-तत्व जीव-तत्व जगत-तत्व और पुरुषोत्तम-पक्ष का निरूपण है, जो रहस्यमय होने के कारण मनुष्य-मात्र के लिये पहेली की भांति बन हुआ है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।[1]

इस श्लोक में एक ओर ब्रह्म को सब प्रकार के दैहिक सम्बन्धों से रहित बताया है परन्तु वह सबको धारण करता है ? वह निर्गुण है तथापि सगुणों का भोक्ता है। सत् असत् है और उन दोनों से परे है।

ब्रह्म के दो रूपों परा और अपरा की भी व्यंजना स्पृहणीय है ।[2] ईश्वर जिस एक अंश से योगमाया से युक्त है वही अंश जगत में अभिव्यक्त होते हैं। जिसे वह एक अंश से जगत को व्याप्त कर लेता है वह अंश अपरा शक्ति है।

पृथ्वी जल तेज वायु आकाश मन बुद्धि अहंकार ये आठ अपरा प्रकृति क्षर पुरुष की प्रकृतियां हैं, जिससे पंच-महाभूत अहंकार, बुद्धि प्रकृति पंच-ज्ञानेन्द्रियां पंच-कर्मेन्द्रियां मन शब्द स्पर्श पंच-इन्द्रिय विषय भी क्षर पुरुष के क्षेत्र हैं।

जीव-तत्व पर भगवान कृष्ण का यह भाव (मृत्यु) कोई अनजानी एवं अपूर्व वस्तु नहीं है। कोई नहीं मरता। आत्मा अजर-अमर है। जिस प्रकार फटे पुराने वस्त्रों को उतार कर मनुष्य नये वस्त्र पहन लेता है उसी प्रकार जीवात्मा अपने वस्त्रों को छोड़कर अर्थात् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में आ जाती है। इसलिये जीवन-तत्व की प्रमुख आत्मा अजर-अमर है। वह कभी भी क्षतिग्रस्त नहीं होती। वह तो अजन्मा नित्य और शाश्वत है। उसको कोई नहीं मार सकता है। ठीक उसी प्रकार बीज से उत्पन्न जगत वृक्ष बनकर पुन बीज में लीन हो जाता है। इसी प्रकार यह जगत ब्रह्म से उत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। जो ईश्वर उस विश्व को व्याप्त कर, उसको बनाकर उससे भी परे है जगत के सब पदार्थों में होते हुये भी उससे अलग है, वही ईश्वर पुरुषोत्तम है।

---

१ गीता १३।१४।
२ परा प्रकृति में अक्षर पुरुष।
अपरा प्रकृति में क्षर पुरुष।

गीता ने इस प्रकार ब्रह्म जीव जगत् पुरुषोत्तम के रहस्यमय प्रश्नों का समाधान तो किया ही है, परन्तु साथ ही उसके व्यवहार-पक्ष में जिस कर्म सिद्धान्त का प्रस्फुटन हुआ वह वास्तव में जनजीवन के अधिक निकट है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥[1]

कर्म की यह व्यापक सत्यता 'कि कर्म करने का अधिकार तेरा है फल प्राप्त करने का नहीं' ने फल की आकांक्षा के प्रति त्याग कर्त्तव्य में अभिमान का त्याग और फल को ईश्वर में अर्पण करने की भाव के भाव भरे।

आसक्तिवश फल की इच्छा न रखने को गीता में निन्दनीय माना गया है। इसके विपरीत फल की इच्छा न रखते हुये अपने कर्त्तव्यों का पूर्णरूपेण पालन करना ही गीता के महान् कर्म-योग का सिद्धान्त है।

गीता ने कर्म के साथ साथ ज्ञान-योग का भी सहारा लिया और कहा सब भूतों में एक ही आत्मा है अस्तु सब भूतों में एक ही आत्मा के दर्शन करो लोभ ईर्षा घृणा आदि को छोड़ो।

निष्काम-कर्म में अनुरक्त होकर सब भूतों में एक आत्मा की भावना लेकर चंचल भटके मन को आसन प्राणायाम प्रत्याहारादि साधनों से मन के सारे कलुषों को भगवान के अर्पण कर दो और ध्यान-योग से भक्ति-मार्ग पर यज्ञ दान तप द्वारा निष्काम उपासना को प्राप्त करो सच्ची आत्मा और उसके पहचानने का उपदेश गीता धर्म देता आया है।

इस प्रकार व्यवहार-पक्ष में गीता ने

(१) निष्काम-कर्म
(२) निष्काम-कर्म के साथ-साथ सब भूतों में एक आत्मा के दर्शन
(३) ध्यान-योग द्वारा कलुष का नाश
(४) भक्ति-मार्ग के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के सूत्र दिये। जिससे
(क) कर्त्तव्यपालन
(ख) आत्मा अविनाशी है
(ग) शोक-मोह से निवृत्ति-की तीन धारायें भी चिन्तना के क्षेत्र में आईं।

इसी कर्त्तव्यपालन के हेतु अर्जुन युद्धक्षेत्र में अपने सगे सम्बन्धियों से लड़े भाई भाई का खून बहा परन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस युद्ध को 'व्यावहारिक पारमार्थिक सामाजिक नैतिक सभी दृष्टिकोणों से उचित बताया और इस प्रकार भाई-भाई के इस युद्ध ने भारतीयों के सम्मुख सत्य और सत्य के मूल्यों पर अपना एक नया इतिहास बनाया। महाभारत का युद्ध सत्य की विजय का युद्ध बना और महाभारत की गीता भारतीय-जीवन के कर्मकांड का प्रतीक बनी।

---

१ गीता-अध्याय २।४७।

गीता के सिद्धान्तों की उपर्युक्त व्याख्या ने एक नये पुरुष को जन्म दिया ऐसा पुरुष जो विश्व के किसी भी इतिहास में किसी भी काल में नहीं जन्मा और उसका नामकरण भगवान श्रीकृष्ण ने स्थित प्रज्ञ किया।

जब व्यथित अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से प्रश्न किया।

स्थित प्रज्ञ का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी कि प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥[1]

तब भगवान श्रीकृष्ण ने[2] स्थित प्रज्ञ के जो लक्षण बताये वह गीता-दर्शन के मूल भाव बन गये। "जो अपने सभी मनोगत कार्यों को त्याग के अपने में तुष्ट हो दुःख से जो पीड़ित न हो सुख में मद न करे वीतराग भय क्रोध से जो दूर हो जो शुभ अशुभ पाकर प्रसन्न और दुःखी न हो। सर्वत्र स्नेह का फैलाना रहे। वही स्थित प्रज्ञ है। कछुआ जिस प्रकार अपने अंगो को समेट लेता है उसी प्रकार मनुष्य अपनी भटकने वाली इन्द्रियों को समेट ले उसी की प्रज्ञा स्थिर है। निराहारी मनुष्य का भोजन तो छूट जाता है किन्तु जिह्वा का रस तो नहीं जाता है। ज्ञानी को चाहिए कि आत्मलाभ से इस रस को जीते। यत्न युक्तसाधक की यह तीखी इन्द्रियाँ अपने बल से साधना को हर लेती हैं। उन्हें संयम से रोके मुझमें आत्म सम्मिलन की चेष्टा करे उसी की बुद्धि स्थिर है। जैसे भोग चिन्तन के साथ रहने की इच्छा उत्पन्न होती है। साथ रहने से काम का जन्म होता है। काम से क्रोध और क्रोध से मोह का जन्म होता है जो स्मृति या बुद्धि को भ्रमावस्था में डाल देती है। इस भ्रमावस्था से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि-नाश से विनाश होता है। राग द्वेष से दूर आत्म प्रसाद का चिन्तन ही स्पृहणीय है। प्रसादयुत होने से समस्त दुःख छूट जाते हैं और प्रसन्न चित्त होने से बुद्धि स्थिर हो जाती है जहाँ पर बुद्धि नहीं है वहाँ पर भावना कैसे आयेगी और अभावना से शान्ति कहाँ मिल सकती है फिर इस अशान्त में सुख कहाँ? इन्द्रियों की तुष्टि के लिये जो मन इधर उधर भटकता है जो इन इन्द्रियों को समेट ले उसकी बुद्धि स्थिर हो जायेगी। जिस प्रकार नदी-नालों से भरा हुआ समुद्र स्थिर है अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता उसी प्रकार जहाँ पर सारे काम समा जाय वही शान्ति पाता है। काम और कामी शान्ति नहीं पा सकता है। अहंकार ममता से मुक्ति पाकर सर्वकाम का त्याग कर जो व्यक्ति निःस्पृह होकर विचरता है अर्जुन वही स्थित प्रज्ञ है।

स्थित प्रज्ञ के उपर्युक्त लक्षणों से भारत का प्राचीन ज्ञान-विज्ञान मान्यताओं का ... के ऊपर उठाती है जो आगे चलकर चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में सार्थक होता है। ... दृष्टियों से प्रवर्तित होती है।

। देखिये यही
... वायु तथा तेज
... उद्भव माना है।

१ गीता-अध्याय २।५४।

२ गीता-अध्याय २ में श्रीकृष्ण का उत्तर ५५-७२।

गीता में श्रीकृष्ण ने यही कहा है

'सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥'[1]

सब धर्मों को छोड़कर एक मात्र मुझमें आत्म-समर्पण करो मेरी शरण ग्रहण करो मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूंगा। कोई चिन्ता न करो।

वास्तव में भगवान की यह उक्ति 'स्थित प्रज्ञ के लक्षणों में बोली जिसने सदेहों अभिलाषाओं स्वार्थ मोह, छल दम्भ एवं कपट व अनैतिक मान्यताओं का संहार किया और स्वस्थ एवं चेतना जगत की रचना में समर्थ हुई।

३ चार्वाक-दर्शन

श्रौत-दर्शन एवं गीता-दर्शन के ठीक दूसरी ओर एक ऐसे मत का भी प्रारम्भ हुआ जो श्रौत एवं गीता-दर्शन की सुन्दर उक्तियों व बौद्धिक-विवेचनों से दूर रहते हुये भी यथार्थ को ही सत्य मान कर चला। भारतीय-दर्शन की अब तक की बनी हुई भूमि पर उसने सन्देह के बीजबोये जो आगे चल कर चार्वाक-दर्शन मे परिणत हुये। चार्वाक-दर्शन के आदि प्रवर्तक बृहस्पति कहे जाते हैं।

चार्वाक का अर्थ है पुण्य पाप एवं परोक्ष को न मानने वाला। चार्वाक का अर्थ-मधुर-वचन वाला भी है। लोकायत नाम से भी यह दर्शन अपने विचारों को प्रतिपादित करता आया है। जहा पर संशय और सन्देह उत्पन्न हो जाता है मन किसी भी आस्था को स्वीकार करने में हिचकता है। ऐसे समय मे जो सामने है वही सत्य है शेष सब थोथी कल्पना और सारहीन भावुकता के सिवा कुछ नही है ऐसे ही विचार मन को आक्रान्त कर लेते हैं।

गीता-दर्शन की पृष्ठभूमि तक छिपी
[illegible] धीरे धीरे चार्वाक-दर्शन की एक

(१) नियतिवाद
[illegible] अपनी पत्नी मैत्रेयी

गया था।
था और
न में
-धीरे

के [illegible]
इतिहास
की गीता मा॰

---

१ गीता-अध्याय १८

कल्पना है और उस नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह शरीर ही आत्मा है शरीर और आत्मा की कोई पृथक सत्ता नहीं है, मरण ही मुक्ति है। इसलिए व्यक्ति जब तक संसार में है उसे सुख की प्राप्ति में ही लगना चाहिए। धर्म एक ढोंग है और उसे पुरुषार्थ की संज्ञा देना निरी मूर्खता है काम ही पुरुषार्थ है।

चार्वाक-दर्शन का सबसे प्राचीन नाम लोकायत' है जो बुद्धि-जीवी है। इन लोकायतिकों ने वैदिक मार्गावलम्बियों का युक्त तर्कों से खण्डन किया और बुद्धि का सर्व रखकर शास्त्रों के प्रमाण को निरर्थक माना।

धीरे-धीरे लोकायतिकों की संख्या बढ़ी और जो आगे चलकर बृहस्पति के शिष्य चार्वाक के नाम पर चार्वाक-दर्शन के रूप में प्रख्यात हुआ। चार्वाक का एक अर्थ खाओ पिओ मौज उड़ाओ' के रूप में हुआ।

इस मत का कोई भी प्रामाणिक एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। फिर भी बृहस्पति द्वारा रचित सूत्रों से उसके सिद्धान्त प्रतिपादित होते हैं जिनमें निम्नलिखित सूत्र चार्वाक-दर्शन का पूरा रूप प्रकट करते हैं।

(१) "चैतन्यविशिष्ट: काय: पुरुष:" चैतन्ययुक्त स्थूल शरीर ही आत्मा है। बौद्ध-दर्शन एवं गीता-दर्शन मे शरीर और आत्मा को पृथक मंज्ञा दी गई है।

(२) 'जलबुद्बुदवज्जीवा" जल के ऊपर दिखने वाले बुलबुले जिस प्रकार स्वयं ही उभर कर नष्ट हो जाते हैं वैसे ही जीव हैं।

(३) "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभाव" परलोक में रहने वाला कोई नहीं है इसलिये परलोक ही नहीं है।

(४) 'मरणमेवापवर्गः' मरण ही मोक्ष है।

(५) 'धूर्तप्रलापस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात् स्वर्ग का सुख धूर्तों का प्रलाप है।

(६) अर्थकामौ पुरुषार्थ अर्थ और काम यह दोनों पुरुषार्थ हैं। वेद वेदान्त और गीता-दर्शन के धर्म और मोक्ष को भ्रामक माना।

(७) "दंडनीतिरेवविद्या" राजनीति ही एक मात्र विद्या है।

(८) "प्रत्यक्षमेवप्रमाणम्" प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है।

(९) 'लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्य " साधारण लोगों के ही मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

उपर्युक्त सूत्रों से हम दर्शन का घोर भौतिकवादी रूप दृष्टिगत होता है। आत्मा की खोज करने पर उन्हें आत्मा नहीं मिलती। आंख से जो हम देखेंगे वही सत्य है। यही तो सबसे विश्वसनीय इन्द्रिय है। इसीलिये पृथ्वी जल वायु तथा तेज को ही इन दर्शनशास्त्रियों ने प्रमेय माना और इसी से जगत का उद्भव माना है।

आगे चल कर एक दल ने आकाश प्राण और मनस् को भी जगत के पदार्थों में मान लिया पर शुद्ध चार्वाक आज भी केवल चार प्रमेय को ही मानते है।

ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ इन दर्शनशास्त्रियों ने कान नाक त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा भी प्रत्यक्ष प्रमाण मानना प्रारम्भ किया।

प्रत्यक्ष-प्रमाण पर ही सबसे अधिक विश्वास किया इस कारण

(१) प्रलय पर अविश्वास

(२) सृष्टि अपने आप से ही जन्मी

(३) ईश्वर उसकी इच्छा की निस्सारता पर ही उन्होंने अपने सिद्धान्तों को दृढ़ किया।

संसार मे बिखरी अनेक वस्तुओं के संस्थान विशेष के संगठन मात्र से ही वस्तु एवं जीवो का निर्माण हो जाता है।

चैतन्य-जगत के सम्बन्ध में इन दर्शनशास्त्रियों की यह दृढ़ धारणा रही है कि संगठन मात्र ही चैतन्य का जन्मदाता है। जीवन के लिये पूर्व-जीवन की आवश्यकता नही। जिस प्रकार वर्षा लाखों कीड़े-मकोड़ों को जन्म दे देती है उसी प्रकार मिट्टी के कण से जीव स्वत ही उत्पन्न हो जाता है और स्वत उत्पन्न होकर स्वयं ही नष्ट भी हो जाता है। इसीलिये ईश्वर परलोक मरने के बाद जीव कहां जाता है, के झगड़े के पचड़ों में अपनी चिन्तन शक्ति को खोना यह दार्शनिक-शास्त्री निरी मूर्खता मानते है।

इनके दृष्टिकोण से इस कारण सुख ही महान् है। स्वर्ग-नरक का अस्तित्व कुछ नही है। शारीरिक सुख की प्राप्ति इनके लिये स्वर्ग है और शारीरिक एवं मानसिक दु:ख इनके लिये नरक है

यावज्जीवेत्सुखंजीवेदृणंकृत्वाघृतंपिबेत्। भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत ॥

जब तक जियो सुख से जियो ऋण लेकर घी पियो अन्त में तो यह शरीर भस्म मे परिणत हो ही जायेगा और फिर इसे लौटकर आना कहां?

यही कारण था कि इस शास्त्र में आचार्यों ने पूजा पाठ वेद एवं धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करना दान करना तीर्थ स्नान करना सत्य बोलना लोभ का मूल कारण कहा है। इनके मतानुसार यह ढोंगी और स्वार्थी पुरुषों के ढोंग है। इनसे न तो प्रत्यक्ष ही सुख मिलेगा और न अप्रत्यक्ष ही।

कर्म-धर्म तभी बनेगा जब अपनी इच्छाओं की तृप्ति हो। इसलिये कृषि पशु-पालन व्यापार राजनीति ये सब कर्म प्रत्यक्ष सुख देने वाले है। इनका ही करना श्रेयस्कर है और यही धर्म है।

ससार म लौकिक सुख के लिये धन आवश्यक है। सबसे प्रिय धन-ऐहिक धन है। धन के नष्ट होने पर लोग शोकग्रस्त होते है, पीड़ित और दुखी रहते है, संसार

का सुख दुःख धन पर ही आश्रित है। जिसके पास संसार में धन है वही महान् है वही स्वतंत्र है और सभी कामों के करने की क्षमता रखता है। इसलिए आत्मा यदि है तो धन ही है।

आग लगने पर जलते हुये घर में पुत्र को छोड़कर पिता भाग खड़ा होता है। पुत्र से अधिक अपना शरीर प्रिय है। इसलिये चार्वाक ने माना है —

"चैतन्यविशिष्ट काय पुरुष शरीर ही चैतन्य है, शरीर में ही क्रिया होती है शरीर के मरने पर न उसमें चेतन ही रह पाता है और न क्रिया।

इसलिये स्वर्ग और परलोक की कल्पना चार्वाक-दर्शन को कभी न जमी और उन्होंने शुष्क तर्कों से खण्डन कर अपने सिद्धान्तों की जड़ जमाई। प्रत्यक्ष प्रमाण सुख प्रदान कर सकता है यही कारण था काल्पनिक स्वर्ग एवं परलोक के लिये यज्ञ के अनुष्ठान पर जीव की हत्या पर चार्वाक-दर्शन के अनुयायियों ने यज्ञ पूजा और होम पर व्यंग्य कसे। यदि यजमान के द्वारा होम के समय वध कराया गया पशु स्वर्ग जाता है (ऐसा शास्त्र में वर्णित है) तो यजमान अपने पिता का वध क्यों नहीं करता जिससे वह सीधे स्वर्ग की यात्रा कर सकते हैं।

श्राद्ध करने से कैसे फल की प्राप्ति हो सकती है? यदि श्राद्ध मरे हुये जीवों की क्षुधा का निवारण कर सकती है तो बुझे हुये दीपक में तेल डालने से दीपक क्यों नहीं जल उठता? यदि यहाँ पर दिया एवं किया हुआ दान स्वर्ग तक मृत व्यक्ति के पास पहुच सकता है तो मकान के पांचवें खंड में रहने वाले पुरुषों की क्षुधा के निवारण हेतु भोजन निचले खंड में क्यों नहीं रक्खा जाता है? ऐसा करने से उनकी क्षुधा निवारण क्यों नहीं होती? इसलिये व्यर्थ की काल्पनिक आकांक्षाओं स्वर्ग और पारलौकिक सुख की झूठी मृगतृष्णा मे पड़ना निरी मूर्खता है और व्यक्ति इन झूठे पचड़ों में पड़कर सत्य जगत की वर्तमान सत्ता में अपने लौकिक सुखों को तो खो ही देता है साथ ही साथ यज्ञ दान पूजा पाठ आदि धार्मिक आडम्बरों में अपने आने वाली सन्तानों के लिये दुःख का कारण बनेगा।

इस प्रकार वेद वेदान्त और गीता के दार्शनिक अनुष्ठानों के बीच चार्वाक-दर्शन अपनी भौतिकतावादी मान्यताओं को लेकर आया और धीरे धीरे-अपने अनुयायियों की संख्या करोड़ों में परिणत कर ली।

चार्वाक-दर्शन भौतिकतावादी और लौकिक होते हुये भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस दर्शन की हम उपेक्षा नही कर सकते क्योंकि इस दर्शन की कुछ मान्यताओं एवं सिद्धान्तों ने भारत के बाद आने वाले दर्शनों को प्रभावित किया है। चार्वाक-दर्शन की बहुत सी मान्यतायें जैन-दर्शन एवं बौद्ध-दर्शन में उतरी और तथाकथित धार्मिक आडम्बरों पर बराबर चोट करती गई।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चार्वाक-दर्शन भी भारत के दार्शनिक इतिहास मे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

४ जैन-दर्शन

चार्वाक-दर्शन के पश्चात् जैन-दर्शन भी नास्तिक विचारधारा का एक दूसरा रूप लेकर आया। जैन-दर्शन के धार्मिक ग्रन्थों में स्थल-स्थल पर चार्वाक के मत मतान्तरों की अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती दिखती है।

बौद्ध-धर्म से पहले जैन-धर्म और चिन्तनधारा जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थंकर स्वामी महावीर से विकसित होती है। इस धर्म का प्राचीन नाम 'निगण्ठ' था जो सर्वज्ञ राग-द्वेष पर विजय पाने के लिये बनाया गया था। इस धर्म में दीक्षित सामर्थ्यवान पुरुषों को 'अर्हत्' की संज्ञा दी गई। इसी कारण यह धर्म 'आर्हत्' कहलाया। महावीर स्वामी द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर, राग-द्वेष जैसे शत्रु को जीतकर वे जैन साधक जैन-धर्म में 'जिन' की उपाधि से विभूषित हुये।

चार्वाक-सिद्धान्त में आत्मा के रूप को भौतिक बताया गया पर जैन-दर्शन ने आत्मा की पृथक सत्ता मानी यद्यपि भौतिकवादी वृत्तियों से वह अछूता न बचा।

जैन-धर्म में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। जिनमें सबसे पहले ऋषभ देव थे। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने इस धर्म को सुसंगठित कर लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने इसे जैन-धर्म की संज्ञा देकर नितान्त नवीन रूप में परिवर्तित किया।

जैन-धर्म नास्तिक धर्म बना। उसने आत्मा की पृथक सत्ता को स्वीकार किया और महावीर ने इस धर्म के दर्शन को जो विधिवत् और दृढ़ रूप दिया उसमें चित्त शुद्धि का मूल मंत्र अपना कार्य करता रहा। आगे चलकर इसमें दो दल बन गये।

(१) दिगम्बर—इसमें मन से बुरे विचारों का परित्याग करने के लिए कठोर नियम पालन के हेतु वस्त्रों का परित्याग तक आवश्यक माना गया।

(२) श्वेताम्बर

इन दो दलों के बन जाने पर भी जैन-दर्शन की तात्विक चिन्तना शक्ति में किंचित मात्र भी परिवर्तन नहीं आया।

चित्त शुद्धि के साथ सम्यक चरित्र के सम्पादन करने का उपदेश महावीर स्वामी ने दिया और ज्ञान प्राप्ति के लिये इन्द्रकूल परिव्राजक-सम्प्रदाय का भी संगठन किया। इसकी पूर्ति के लिये महावीर स्वामी ने पंचव्रत रक्खे

(१) अहिंसा (२) असत्य-त्याग (३) अस्तेय-व्रत (४) ब्रह्मचर्य-व्रत (५) अपरिग्रह

ये पञ्चव्रत अभिमान एवं अहम् की भावना से दूर वाचिक एवं मानसिक चेष्टाओं पर विजय प्राप्त करने के लिये बने और मरण पर्यन्त तक इनके पालन और कठिन से कठिन कष्ट सहन के अनुरूप बनाने का प्रयास महावीर स्वामी ने किया।

---

१ आ बलदेव उपाध्याय भारतीय-दर्शन पृष्ठ १९६।

मोक्ष जैन धर्म का चरम उद्देश्य है। यह उद्देश्य गुण स्थानों के अनुभव से प्राप्त ज्ञान का साक्षात्कार करने पर ही सम्भव है। ये गुण स्थान निम्नलिखित हैं [१]

(१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरत सम्यक्त्व (५) देशविरति (६) प्रमत्त (७) अप्रमत्त (८) अपूर्व करण (९) अनिवृत्ति करण (१) सूक्ष्म साम्पराय (११) उपशान्त मोह (१२) क्षीण मोह (१३) सयोगि केवली (१४) अयोगि केवली।

उपर्युक्त गुण स्थान की प्राप्ति से जीव सम्यक् ज्ञान सम्यक् चरित्र और सम्यक् ज्ञान को प्राप्त कर श्रद्धा को अपनाकर मोक्ष के परम पद को प्राप्त कर सका है।

जैन-दर्शन ने सात वस्तुओं में जगत के समस्त वस्तुओं का परिणाम माना है। ये तत्व निम्नलिखित हैं[१]

(१) जीवतत्व (२) अजीवतत्व (३) बन्धतत्व (४) संवरतत्व (५) निर्जरातत्व (६) आस्त्रावतत्व (७) मोक्षतत्व।

आत्मा या चैतन्य वस्तु ही जीव है। जीव की सभी क्रियायें उसके अपने किये गये कर्मों के फलस्वरूप से ही होती हैं। वह अपने कर्म का फल स्वयं ही भोगता है। अविद्या अज्ञान के कारण ही जीव बन्धन से युक्त है। फिर भी प्रत्येक जीव में ज्ञान दर्शन और सामर्थ्य है। यदि वह इनका समुचित विकास कर ले तो मोह-माया के बन्धनों से दूर रह सकता है। जीव कभी भी नाश को प्राप्त नहीं हो सकता। शरीर नष्ट होता है जीव नहीं। जीव के इस रूप की कल्पना ही अनेकान्तवाद का प्रतीक बन बैठी है।

जैन दर्शन में व्रत के साथ साथ गुण स्थानों की प्राप्ति के लिये अनेक साधन का मार्ग बताया है। इनकी प्राप्ति म ही भावना का सच्चा विकास सम्मिलित है और मनुष्य सच्चे कर्मों में प्रयत्न कर अपने में जिस आस्था को जन्म देगा वही उसका धर्म बनेगा और वह धर्म आत्मा के स्वरूप का सच्चा धर्म होगा जिसमें

(१) मृदुता ( ) ब्रह्मचर्य (३) क्षमा (४) सरलता (५) शौच (६) सत्य (७) संयम (८) त्याग (९) तप (१) आकिंचन्य ही प्रकट होंगे जिससे आत्मा मुक्ति को प्राप्त कर लेगी।

तथा बिना अनुप्रेक्षाओं के बिना भावनाओं में युक्त हुये बिना संभव नहीं। इसी कारण जैन-दर्शन बारह अनुप्रेक्षाओं का सृजन करने में करता है।

(१) धर्मानुप्रेक्षा—धर्म कार्य में कभी न हटना।

१ डा उमेश मिश्र भारतीय-दर्शन पृष्ठ १ ।

२ विस्तृत विवरण के लिये देखिये

डा० उमेश मिश्र भारतीय-दर्शन पृष्ठ १ ८ १२ ।

(२) बोधिदुर्लभत्व—सम्यक ज्ञान सम्यक चरित्र को दुर्लभ समझने की क्रिया।

(३) लोक—जीव आत्मा शरीर जगत की वस्तुओं की क्रियायें।

(४) निर्जरा—जीव में प्रविष्ट गलत कर्मों को निकालने की भावना।

(५) संवर—कर्म के प्रवेश के निरोध की भावना।

(६) आस्रव—कर्म के प्रवेश की भावना।

(७) अनित्य—धर्म को छोड़कर सभी वस्तुओं को अनित्य मानना।

(८) अशरण—धर्म को छोड़कर दूसरे की शरण नहीं।

(९) संसार—जीवन मरण की भावना।

(१०) एकत्व—जीव अपने कर्मों का एक मात्र भागी है।

(११) अन्यत्व—आत्मा को शरीर से भिन्न मानना।

(१२) अशुचि—शरीर एवं शारीरिक वस्तुओं को अपवित्र मानना।

मुक्ति मार्ग से च्युत न होने के सम्बन्ध में जैन-दर्शन में कठोर नियम है। कर्मों के नाश के लिये सारे कष्ट सहन करने ही पड़ेंगे। राग-द्वेष जीव को बन्धन में फांसने वाले होते हैं। संवर तथा निर्जरा द्वारा 'आस्रव का नाश होता है। जीव की आत्मा सर्वज्ञ होकर प्रेम-दया सहानुभूति को अपना लेती है और सर्वदृष्टा होकर जीव मुक्ति का अनुभव करता है। यही अनुभव भाव मोक्ष कहलाता है जो जीवन मुक्ति के समकक्ष आ जाता है।

जैन-दर्शन प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण पर विश्वास करता है। पारमार्थिक एवं व्यावहारिक दो भेदों में प्रत्यक्ष ज्ञान आ जाता है। कुछ काल के पश्चात् जैन दार्शनिकों ने श्रुत और मति को भी प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत माना। मति ज्ञान चार प्रकारों में विभाजित किया गया।

(१) अवग्रह—इन्द्रिय और अर्थ द्वारा ज्ञान।

(२) ईहा—प्रत्यक्ष ज्ञान।

(३) अवाय—दृश्य वस्तु का निश्चय रूप से ज्ञान।

(४) धारणा—पूर्ण ज्ञान।

परोक्ष ज्ञान में हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान माना गया। स्वार्थ तथा परार्थ की दृष्टि से अनुमान दो प्रकार के हैं

(१) स्वार्थानुमान —मन को समझाने के लिये अनुमान जैसे जहां धुआं होगा वहां आग होगी।

(२) परार्थानुमान —इसमें पांच अवयव माने गये हैं।

(१) प्रतिज्ञा (२) हेतु, (३) दृष्टान्त (४) उपनय (५) निगमन।

जैसे (१) अमुक पर्वत शिखर पर आग है, (२) क्योंकि उस शिखर पर धुआं है (३) जहां धुआं है वहां आग है। जैसे रसोई में (४) धुआं बिना आग के नहीं रहता (५) इसलिए पर्वत शिखर पर आग है।

जैन-दर्शन में कर्मवाद का सिद्धान्त बड़ी गहराई में जड़ पकड़े है। कर्म के ही कारण जीव बार-बार जन्म लेता है। बिना कर्मों को भोगे उसे छुटकारा नहीं मिलता है। कर्म ही बन्धन की जड़ है। क्रोध मोह, लोभ गर्व सब कर्म के ही कारण होते हैं।

कर्मवाद की व्याख्या के साथ-साथ जैन-दर्शन में हमें अनेकान्तवाद भी मिलता है। प्रत्येक सत पदार्थ का अपनापन होता है जो कभी भी नष्ट नहीं होता। जैसे मिट्टी से घट बनता है और फूटकर फिर मिट्टी में मिल जाता है। इसी प्रकार स्वरूप परिवर्तन सम्भव है पर सद्भाव कभी भी नहीं नष्ट होता है।

परिणाम नित्यवाद में 'सत्' को ही सब कुछ माना है। प्रत्येक अस्तित्व में सत् का अस्तित्व रहता है। इसी कारण सत नित्य अनित्य चेतन अचेतन किसी एक रूप में नहीं आ सकता। एक वस्तु का स्वरूप जानने के लिए उस विशेष वस्तु के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने के लिए संसार की सभी वस्तुओं का स्वरूप जानना ही पड़ेगा।

इस प्रकार जैन-दर्शन की मूल प्रेरिका शक्ति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इस दर्शन की भूमि भी आचार-विचार मीमांसा के आधार पर ही रची गई। शरीर एवं अन्तःकरण शुद्धि के सूत्रों को लेकर आत्मा के अवयवी रूप की भी कल्पना की गई है। शरीर के टुकड़े करने से आत्मा के टुकड़े हो जाते हैं। आत्मा के टुकड़ों को शरीर से पृथक भी किया जा सकता है। इसी प्रकार का भी विचार जैन मीमांसाकारों ने किया है।

आचार और तपश्चर्या की बहुत ही कठोर साधना जैन धर्माचार्यों ने रखी। जिसके फलस्वरूप जैन धर्म में परिव्राजक की संख्या कम होती गई। इसी कारण जैन-धर्म अपने अनुयायियों की संख्या भी न बढ़ा सका। जो भी हो इस धर्म में जो आये वे गृहस्थ ही बन कर रह गये। जिसके कारण यह धर्म एवं दर्शन भारत में विशेष रूप से फैल न सका।

ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास न करने के कारण भारतीय रूप में यह दर्शन अपना ध्यान-बिन्दु स्थापित न कर सका। इसके फलस्वरूप भी इसकी दर्शन-मीमांसा अधिक पनप न सकी।

फिर भी आचार-विचार शुद्ध अंतःकरण और आत्मा की मुक्ति पर प्रकट किये हुए इनके विचार प्रशंसनीय रहे हैं।

> एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वेभावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
> सर्वेभावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

जिसने एक वस्तु का सर्वथा ज्ञान प्राप्त कर लिया। उसने समस्त वस्तुओं का

ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा समस्त वस्तुओं के सर्वथा अनुभव करने वाले ने एक वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसमें अनेकान्तवाद की पुष्टि की है।

विद्वानों ने जैन-दर्शन की चाहे कितनी ही कटु आलोचना क्यों न की हो परन्तु इतना तो सभी मानते हैं कि जैन-दर्शन ने मनुष्य की मानवता को यथार्थ रूप में जागृत कराने की चेष्टा की है। इसके साथ ही मानवता के आदर्शों से कभी भी विमुख न रहते हुये स्वावलम्बन प्रेम दया ममता और क्षमा की ही शिक्षा दी जिसका चरम लक्ष्य मोक्ष की कामना में ही निहित है।

जैन-धर्म एवं दर्शन के उदय होने के तुरन्त ही बाद बौद्ध-दर्शन की एक विचार-धारा अपने साथ अवांछित विचारों को लेकर सन्देहों के विरुद्ध युद्ध करने के लिये उठ खड़ी हुई जिसका इतिहास और दर्शन आगे चलकर विश्व इतिहास और सांस्कृतिक विचारों का अधिष्ठाता बन बैठा। आज से ५६३ ईसा के पूर्व वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को लुम्बनी ग्राम में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ जो आगे चलकर महापुरुष बने और आज भी विश्व के सब से बड़े शान्तिपूर्ण एवं शान्ति नायक के रूप में पूजित हैं।

एक राजकुल में जन्म लेकर परम सी सुन्दर प्रियतमा के रूप में यशोधरा और राजकुमार राहुल को पाकर भी बुद्ध रोग मृत्यु वृद्धावस्था के विभिन्न भयावने रूपों को देखकर, बुद्ध उनकी शाश्वत समस्या के समाधान में रत हो गये।

दुःख क्या है? मृत्यु क्यों होती है? पीड़ा और आत्मा की हार क्या? आदि प्रश्नों ने उन्हें कपिलवस्तु का राजा बनाने के स्थान पर शान्ति के राजा के रूप में प्रतिस्थापित किया।

दुःख में पीड़ा है, घर छोड़ो। यज्ञों में हिंसा है मत छोड़ो। कठोर तपस्या में सार नहीं इस कारण कठोर तपस्या छोड़ो और अन्तःकरण की शुद्धि के साथ वास्तविक बोध चिन्तन समस्याओं का हल दे सकता है, इस प्रकार की विचारधारा का उपदेश बुद्ध ने दिया।

तत्व-ज्ञान की प्राप्ति म जीवन के अन्तिम ध्येय की पहुंच तक के लिये शरीर छोड़ना उचित नहीं। वरन् संसार के कल्याण के लिये शरीर की रक्षा करते हुये प्रारब्ध कर्मों के भोग के आधार पर स्वयं ज्ञान की प्राप्ति करते रहना चाहिए और निरन्तर दुःखों पर विजय पाने का प्रयत्न भी करना चाहिये। यही संक्षेप में बुद्ध की कथा है।

महात्मा बुद्ध ने विश्वास किया कि

(१) सर्वं दुःखम—संसार में दुःख ही दुःख है।
( ) दुःखसमुदाय —दुःख से पीड़ित होकर दुःख नाश के उपाय सोचना।
(३) दुःखनिरोध—विश्वास है कि दुःख का नाश होना है।
(४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद—दुःख नाश के लिए उपाय भी है।

र चार सत्य हैं सत्य और यह सत्य न होकर 'आर्य सत्य' हैं।

बुद्ध आत्मा का साक्षात्कार कर चुके थे और तत्वज्ञानी बन चुके थे ; फिर भी सारनाथ और वध-वैशाल्तर में दिये गये उपदेशों में आत्मा के सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कहा और व्यावहारिकता में ही उचित कल्याण की भावना लेकर उन्होंने कहा कि अंतःकरण की शुद्धि करें आत्मा तो स्वयं परिचित हो जायेगी

सर्वत्र दुःख ही है। इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न के उत्तर में गौतम के मन ने एक शब्द का उत्तर भेजा वह है अविद्या। इस अविद्या का विनाश ही उनके दर्शन शास्त्र के मनन का द्योतक बना।

(१) अविद्या संस्कार को जन्म देती है।
(२) संस्कार से विज्ञान जन्म लेता है।
(३) विज्ञान से नाम रूप।
(४) नामरूप से षडायतन (मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ)
(५) षडायतन से स्पर्श।
(६) स्पर्श से वेदना।
(७) वेदना से तृष्णा।
(८) तृष्णा से उपादान (राग)।
(९) उपादान से भाव।
(१) भाव से जाति।
(११) जाति से जरा।
(१२) और जरा से मरण।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल कारण अविद्या ही है। इसी कारण बुद्ध ने उपदेश दिये जब तक व्यक्ति इस संसार के भव चक्र से नहीं निकलता मुक्ति नहीं प्राप्त करता तब तक दुःख की सत्ता है। इस दुःख को जीतना है। दुःख नित्य नहीं है और सुख भी नित्य नहीं है इस दुःख का अष्टम-मार्ग से जीता जा सकता है।

अष्टम-मार्ग निम्नलिखित हैं।

(१) सम्यक दृष्टि—आर्य सत्यों का ज्ञान।
(२) सम्यक संकल्प—राग द्वेष हिंसा तथा संसारी विषयों का परित्याग के लिये दृढ़ निश्चय।
(३) सम्यक वाच—मिथ्या अनुचित तथा दुर्वचन का परित्याग एवं सत्य वचन की रक्षा।
(४) सम्यक कर्मान्त—बुरे कर्मों को त्याग कर अच्छे कर्म करना।
(५) सम्यक आजीव—न्यायपूर्ण जीविका कमाना।
(६) सम्यक व्यायाम—दुराचरणों का नाश करना और अच्छे कर्म करना।
(७) सम्यक स्मृति—मनादि को रोक कर चित्त शुद्धि करना।
( ) सम्यक समाधि—चित्त की एकाग्रता।

इस अष्ट मार्ग पर चलने से ही अविद्या का नाश होगा और साधक अपने लक्ष्य तक पहुंच सकेगा। भावक' प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्व को क्रमश प्राप्त करने के लिये शासानुरागियों का समुदाय बौद्ध-धर्म में दीक्षा लेने के लिये तत्पर हो उठा।

अविद्या का नाश और बुद्धत्व की प्राप्ति के हेतु निम्नलिखित सिद्धान्तों का समावेश हुआ

(१) अहिंसा।
(२) अपरिग्रह।
(३) ब्रह्मचर्य।
(४) सत्य।
(५) धर्म में श्रद्धा।
(६) मध्याह्नोत्तर भोजन का निषेध।
(७) विलास से विरक्ति।
(८) सुगन्धित वस्तुओं का बहिष्कार।
(९) सुखप्रद शैया का परित्याग।
(१) सुवर्ण एवं धन का परित्याग।

इनका पालन करने में अविद्या का नाश हो जायेगा। संसार क्षणिक है सब कुछ नष्ट हो जायेगा। इस कारण अपनी मुक्ति के लिये स्वयं ही उद्योग करना पड़ेगा।

'हन्द दानि भिक्खवे आमन्तयामि
वो वयधम्मा संखारा अप्पमादेन संपादेथा'

पाली भाषा में बौद्ध-दर्शन 'विनयपिटक' 'सुत्तपिटक' एवं अभिधम्म पिटक में सुरक्षित है।

आगे चल कर बौद्ध-दर्शन के दो दल हो गये—हीनयान और महायान। हीनयान की फिर दो शाखायें हुई— वैभाषिक' और 'सौत्रान्तिक'।

बौद्ध धर्म एवं दर्शन के लोकप्रिय होने का सबसे बड़ा कारण है कि उसके धार्मिक रूप में आचार-मार्ग का एवं दार्शनिक-रूपों में वैज्ञानिक सुद्धता का ही बाहुल्य रहा है। अष्टांगिक मार्ग पर बौद्ध-दर्शन की बड़ी आस्था थी। शील समाधि और प्रज्ञा को सिद्धान्तों के रूप में बौद्ध-शास्त्रियों ने त्रिरत्नों को जन्म दिया।

शील सात्विक कर्मों का समुच्चय था। अहिंसा अस्तेय सत्य भाषण ब्रह्मचर्य मादक द्रव्यों का त्याग ये पंचशील के नाम से प्रख्यात हुये।

प्रज्ञा को भी श्रुतमयी चिन्तामयी एवं भावनामयी रूप दिया गया जिससे अविद्या का नाश हो।

महायान एवं हीनयान के साथ-साथ दो वाद भी बौद्ध-दर्शन में आये। ये थे

(१) स्थविरवाद—जो बौद्ध-धर्म के प्राचीन सिद्धान्तों में किञ्चित भी परिवर्तन नहीं करना चाहते थे।

(२) महासांघिक—जो संशोधनवादी थे।

जिसने बाद चलकर बारह बौद्ध सम्प्रदायों को जन्म दिया। जिसमें मुख्य हैं

(१) महासांघिक—जो लोकोत्तर बुद्ध के सिद्धान्तों को मानते थे। वह बुद्ध को अवतार रूप में पूजते थे।

(२) सर्वास्तिवाद—जगत के भूतात्मक तथा चित्तात्मक प्रत्येक पदार्थ को नित्य सत्य मानते थे।

(३) सम्मितियों—विशिष्ट पुद्गल पदार्थ की सत्ता मानते थे।

(४) वैपुल्यवाद—में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया जिसमें भविष्य लोकों में साहचर्य हेतु दूसरे से सम्बन्ध रखना भी ठीक माना।

तर्क और अध्यवसाय से बौद्ध-दर्शन ने अपने ज्ञान का भण्डार भरा। विज्ञानवाद में तृष्णा पर विजय और ज्ञान की प्राप्ति से ही मोक्ष सम्भव माना। परमतत्व के अनिर्वचनीय होने के कारण शून्यवाद ने जन्म लिया जो परमार्थ सेवा को लेकर आगे बढ़ा।

बौद्ध-दर्शन की मूल भावनायें उपनिषदों में भी यदाकदा दृष्टिगत होती हैं। अविद्या तृष्णा राग द्वेष के बन्धनों से मुक्त होना कर्म सिद्धान्त की व्यापकता उपनिषदों में दृष्टिगत होती है। बौद्ध-दर्शन ने उन मान्यताओं को अपने ही रूपों में प्रतिभासित करने का यत्न किया।

बौद्ध-दर्शन ने व्यापक रूप में विश्व की सामाजिक-चेतना एवं धार्मिक-विचारों पर प्रभाव डाला। चीन बर्मा जापान सीलोन जावा सुमात्रा और तिब्बत राज्यों में भी यह धर्म फैला। भारतीय शासकों में विशेषत अशोक ने कलिंग युद्ध की भयावह विभीषिका देखकर बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये और भिक्षुओं ने तन मन धन से इस लोक कल्याणकारी दर्शन के ज्ञान प्रसार हेतु देश-देशान्तर ज्ञान ज्योति की प्रदीपिका लेकर गये और इस नई दार्शनिक आस्था से नये धर्म एवं नये युग का सूत्रपात हुआ।

बौद्ध-दर्शन दुःख पीड़ा अवसाद क्लेश अशान्ति पर विजय प्राप्त करने के लिए आया। सब प्राणि धार्मिक अनुष्ठानों को उसने व्यथता की दृष्टि से देखा। सरल एवं सीधे मार्ग द्वारा सांसारिक बन्धनों से मुक्त कराने का बीड़ा इसने उठाया। इसने दार्शनिक सिद्धान्तों में आडम्बर को किंचित मात्र भी स्थान न दिया।

धम्मपद त्रिपिटिका[1] बौद्ध-दर्शन की एक प्रभावशाली पुस्तक है। इसकी

---

1 Dr Cass us A Pereira says—

It is the best ingle book in all the wide world of Literature

रचना पाली भाषा में हुई है। इसके श्लोक दु:ख पर विजय प्राप्त कराने में समर्थ है।[1]

धम्मपद शाश्वत समस्याओं का युक्तिपूर्ण हल है। बौद्ध-दर्शन सांसारिकों के लिये शान्ति स्नेह प्रेम सद्भावना अहिंसा को लेकर चलता हुआ वरदान रूप है। जो आज लाखों-करोड़ों भूले भटके व्यक्तियों का सही मार्ग का प्रदर्शन करता हुआ विश्व के प्रमुख धर्म के रूप मे प्रतिस्थापित है।

बौद्ध-दर्शन ने भारत को बहुत कुछ दिया। आज भी भारत बौद्ध-सिद्धान्तों का जो पूर्ण रूप से भारतीय है, अनुयायी है। आज भी पंचशील से विश्व प्रभावित है। विश्व का प्रत्येक राष्ट्र प्रत्येक चिन्तनशील प्राणी बौद्धिक-सिद्धान्तों में आस्था रखता है या रखना चाहता है।

इसी कारण आज भी बौद्ध-दर्शन की चिन्तना शक्ति अपना विशिष्ट महत्व रखती है और विश्व का प्रत्येक बुद्धिशील प्राणी श्रद्धा से नत होकर उसकी पूजा करता है और उन सिद्धान्तों पर चलने का संकल्प कर लेता है जिनको हजारों वर्ष पहले बुद्ध ने भारत को दिया जो आगे चलकर विश्व का जीवन-दर्शन बन बैठा।

बौद्ध-दर्शन नास्तिक-दर्शन नहीं था। बौद्ध-दर्शन यशस्वी भारत भूमि मे आस्तिक सिद्धान्तों के विरुद्ध अपने मत का प्रतिपादन करते फिरते थे जैसे दर्शन गीता दर्शन आस्तिक धर्म के प्रतीक थे। चार्वाक जैन और बुद्ध दर्शनों ने भारत भूमि में आस्तिक सिद्धान्तो का बहिष्कार कर उसे जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। गीता-दर्शन के पश्चात् भारत के दार्शनिक इतिहास में चार्वाक जैन बौद्ध दर्शनों ने एक विप्लवकारी परिवर्तन किया पर वह अधिक दिनों तक चल न सका।

पुन आस्तिक-दर्शन की भूमि गौतम के न्याय-दर्शन म प्रकट हुई। गौतम ने तर्कपूर्ण ढंग से एक तर्क-शास्त्र की रचना की और आस्तिक विचारधारा का तर्कपूर्ण स्थापन किया इसमें

(१) वाद।
(२) जल्प।
(३) वितण्डा।
(४) हेत्वाभास।

---

1 Mind is the sore—runner of all evil conditions. Mind is hief and they are mind made If with an impure mind one ets then pain f llows ond over as the wheel the hoof of the ox.

One should give up anger

The Dhammapad–Mahabudhist Society–Page 7-8

(५) छल।
(६) जाति।
(७) निग्रह स्थान।

आदि पर विवेचनात्मक ढंग से विचार किया गया और न्याय-दर्शन ने भी अपना अन्तिम ध्येय मोक्ष प्राप्ति और दुःख के निवारण को ही रक्खा पर यह दर्शन बौद्ध सिद्धान्तों और नास्तिक विचारधाराओं का खण्डन करता रहा।

ईसा से पूर्व छठी शताब्दी मे मिथिला मे न्याय-शास्त्र के प्रणेता गौतम का जन्म हुआ। उन्होने आगे चलकर अपने न्याय-सूत्र में कहा जब तक

(१) संशय (२) प्रयोजन (३) दृष्टांत (४) सिद्धान्त (५) अवयव (६) तर्क (७) निर्णय (८) छल (९) वाद (१०) जल्प (११) वितण्डा (१२) हेत्वाभास (१३) जाति (१४) निग्रह स्थान (१५) प्रमाण (१६) प्रमेय

का विशेष रूप से ज्ञान नहीं हो जाता तब तक प्रमेय ज्ञान सम्भव नही है। इन ज्ञानों के प्राप्त करने से ही तत्व-ज्ञान प्राप्त होता है जो मोक्ष के द्वार को खोल देता है।

मन चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप का ज्ञान कराती हैं उसे ही प्रमाण कहते है। प्रमेयों का वास्तविक ज्ञान कराने के लिये न्याय-दर्शन ने

(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) उपमान और (४) शब्द

को प्रमाण माना है। और इन प्रमाणों से न्याय-शास्त्रियों के सम्मुख निम्नलिखित प्रमेय उपस्थित किये।

(१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) अर्थ (५) बुद्धि (६) मनस् (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) प्रेत्यभाव (१०) फल (११) दुःख (१२) अपवर्ग

ज्ञान के अधिकरण को न्यायशास्त्रियो ने आत्मा माना। द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञ नित्य सर्वव्यापक आत्मा ही महान् है। भले बुरे संस्कार आत्मा में रहते है। मृत्यु के पश्चात् ये संस्कार भी स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे में चले जाते हैं और उनके प्रभाव से जीवात्मा कर्मों का भोग करती है।

रूप रस गन्ध स्पर्श ये पाँच अर्थ हैं और तेज जल पृथ्वी वायु, आकाश के ये अर्थ विशेष गुण हैं। बुद्धि उपलब्धि और ज्ञान को बुद्धि के पर्यायवाची रूपों में लिया है।

रूप रस गन्ध स्पर्श का अनुभव करने वाली इन्द्रियाँ हैं। ज्ञानेन्द्रियों के दो नाम हैं (१) कर्मेन्द्रिय (२) अन्तरिन्द्रिय (मन)।

मनस् अन्तरिन्द्रिय है जो सुख-दुःख एवं इच्छा का अनुभव करता है। मन नित्य है।

कायिक वाचिक और मानसिक भावों से प्रवृत्तियों का जन्म होता है जो प्रवृत्ति का कारण है वही दोष है जैसे राग द्वेष मोह आदि।

मृत्यु के पश्चात् दूसरे शरीर में आत्मा की स्थिति प्रत्येभाव है और सुख-दुःख ही फल है। इसी फल से ही पीड़ा ताप क्लेश आदि का जन्म होता है। न्यायशास्त्री सुख के अन्तर्गत ही दुःख की कल्पना करते हैं।

शरीर, मन छः इन्द्रिय छः रूप-रस रूप ज्ञान रस ज्ञान आदि छः ज्ञान सुख दुःख आदि उत्पन्न इक्कीस दुःखों से उत्पन्न पीड़ित मानव जब अपनी साधना से विजय प्राप्त कर लेता है तो वह मोक्ष का भागी होता है।

उचित गुण और 'अष्टांग-योग का अभ्यास' ध्यान' 'समाधि' से ही मोक्ष सम्भव है। व्यक्ति ज्ञान स्मरण करके व अनुभव करके प्राप्त कर सकता है। ज्ञान प्राप्त करते समय मन तथा आत्मा का संयोग भी आवश्यक है।

न्याय-शास्त्रियों ने कार्य और कारण में भी भेद माना है। तत्व को समझने के लिए उसके कारण को भी समझना है। सृष्टि और उसका विनाश परमात्मा की इच्छा से ही होता है। यह बात अनुमान से प्रमाणित हो सकती है। जगत एक कार्य है इसके लिये कर्ता की भी आवश्यकता है वही कर्ता ईश्वर है जगत का आधार ईश्वर ही है नहीं तो यह स्थिर ही न रह सके।

वेदों की रचना ईश्वर ने की है ईश्वर में सबकी श्रद्धा है। इसीलिये न्याय शास्त्रियों के दृष्टिकोण से ईश्वर का अस्तित्व है।

मन को भी न्याय-शास्त्रियों ने जीव से अलग नहीं माना है। अविद्या के कारण एक मन एक जीव को लेकर अनन्त शरीरों में घूमता है। मुक्ति में भी मन आत्मा के साथ रहता है। जीवात्मा और परमात्मा की भी पृथक सत्ता है। जीवात्मा कर्मों के अनुसार विभिन्न शरीरों में घूमा करती है और ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष का मार्ग बनाती है।

वात्स्यायन ने इसी कारण अपने मत की पुष्टि के लिए न्याय को समस्त विद्याओं की ज्योति कहा है

> 'प्रदीप सर्वविद्यानामुपाय सर्व कर्मणाम्।
> आश्रय सर्वधर्माणां विद्योद्दे्शे प्रकीर्तिता ॥'[1]

इस प्रकार न्याय-दर्शन पुन आस्तिक-धर्म के प्रचार का प्रतीक बन बैठा और उसने बौद्ध-दर्शन की आत्मा के प्रति मौनता और चार्वाक एवं जैन-धर्मों की नास्तिकता को बदल कर पुन ईश्वरवादी धार्मिक वातावरण की भूमि भारत पर उतार लाया।

न्याय-दर्शन के समरूप ही कणाद का वैशेषिक-दर्शन भी माना है। न्याय एव वैशेषिक-दर्शनों म कई स्थलों पर समानता है। कुछ ही सिद्धांतों में उनमें आपस म

---

१ न्या भा १।१।१

विभिन्नता है। न्याय दर्शन के आधार पर ही वैशेषिक-दर्शन की नींव शिला रक्खी गई और जीव जगत एवं ब्रह्म के सम्बन्ध में वैशेषिकों ने सूक्ष्म एवं तीव्र दृष्टि से विचार किया।

परमतत्व को जानने की इच्छा शक्ति ने ही प्रत्येक दर्शन शास्त्री के मन में अनेक संकल्पों एवं विकल्पों को लाकर एकत्र किया। दर्शन-शास्त्र के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की अभिलाषा ने ज्ञान के सम्मुख कुछ प्रमाण रक्खे। क्योंकि प्रमाण के बिना ज्ञान का कोई भी मूल्य नहीं है। प्रमाण प्रमेयों के साधन रूप में आये बाद वैशेषिक दर्शन ने प्रमेय के विचारों को प्रधानता दी।

बौद्ध एवं जैन-दर्शन में इसके पदार्थों एवं दर्शन भूमि के विरुद्ध दृष्टिगत होते हैं। इस दर्शन की पृष्ठभूमि खड़ी नहीं पूर्व की है और इसकी विस्तार रेखा सत्रहवीं शताब्दी तक न्याय-वैशेषिक दर्शन के रूप में चलती आई।

वैशेषिक-दर्शन का नामकरण 'विशेष' पदार्थ को स्वीकार करने के कारण ही पड़ा जो विशेष पदार्थ अन्य दर्शनों की व्याख्याओं में नहीं आ सका। वैशेषिक-दर्शन के लिये एक स्थान पर कहा गया है

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥

न्यायदर्शन प्रमाण पर 'प्रधान' रूप से विचार करता है वैशेषिक ने प्रमेय की मूलभूत सत्ता को स्वीकार किया और जगत की सभी वस्तुओं को सात भागों में बाँटा।

(१) द्रव्य—के अन्तर्गत पृथ्वी जल तेजस् वायु, आकाश काल दिक् आत्मा तथा मन आते हैं। पृथ्वी जल तेजस और वायु को वैशेषिकों ने नित्य और अनित्य में विभाजित किया। नित्य रूप को परमाणु और अनित्य रूप को कार्य माना। पृथ्वी जल तेजस् वायु आकाश ये पाँच भूत भी कहलाते। आकाश काल दिक् तथा आत्मा यह चार विभु द्रव्य हैं। मनस् नित्य है। काल नित्य और व्यापक है। दिक् को नित्य और व्यापक माना।

(२) गुण—रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग वियोग परत्व अपरत्व गुरुत्व द्रवत्व स्नेह शब्द ज्ञान सुख-दुख इच्छा द्वेष अधर्म संस्कार को वैशेषिकों ने गुण रूप में मान्यता प्रदान की है।

(३) कर्म—क्रिया को कर्म की संज्ञा दी जो द्रव्य के अन्तर्गत रही।

(४) सामान्य—अनेक वस्तुओं में जो एक सी बुद्धि होती है, वह सामान्य का माध्यम बनी। उसके कारण को ही सामान्य कहते है।

(५) विशेष—नित्य द्रव्य के अन्तिम विभाग में रहने वाले द्रव्यों को विशेष कहते हैं।

(६) समवाय—एक प्रकार का सम्बन्ध है जो गुण और गुणी अवयव और अवयवी व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य के बीच रहता है। यह एक और नित्य है।

(७) अभाव—किसी वस्तु का न होना ही अभाव कहा जाता है।

ये सभी पदार्थ प्रमेयों के अन्तर्गत हैं और प्रमेयों को प्रधानता देने के कारण उनका वास्तविक ज्ञान ही मुक्ति का मार्ग बनता है।

पृथ्वी जल तेजस् वायु, द्रव्य कार्य रूप में अपना अस्तित्व रखते हैं। जब सभी कार्य द्रव्यों का नाश हो जाता है तभी प्रलय की स्थिति आ जाती है। इस अवस्था में प्रत्येक आत्मा अपने मनस के साथ पूर्व जन्मों के संस्कारों को अपने में संजोये रहती है। शरीर के न होने से आत्मा कार्य करने में असमर्थ रहती है। इसलिये परमात्मा के मन में सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा जाग्रत होती है।

अपने पूर्व-जन्मों के कर्म के आधार पर जीव संसार में प्रवेश करता है। एक विशेष प्रकार के कर्मों का भोग करने के लिये एक विशेष जीव उत्पन्न होता है। इस प्रकार के कर्मों के भोग में उसका शरीर योनि काल वश सभी होते हैं। जब वह जीव विशेष अपने निर्धारित कर्मों का भोग कर लेता है तभी उसकी मृत्यु हो जाती है।

वैशेषिकों का मत है कि कार्य के नाश के लिये कारण का नाश भी अवश्यम्भावी है। दो परमाणुओं के संयोग का नाश होता है और सृष्टिकर्ता क्रम से सृष्टि को समाप्त कर प्रलय को उपस्थित करता है। वैशेषिकों ने भी ज्ञान का विचार

(१) बुद्धि।
(२) उपलब्धि।
(३) ज्ञान और
(४) प्रत्यय।

के अन्तर्गत किया है। बुद्धि को दो भागों में विभाजित किया है विद्या और अविद्या। अविद्या के अन्तर्गत

(१) संशय।
(२) विपर्यय।
(३) अनध्यवसाय और
(४) स्वप्न।

को मानते हुये इस बात पर विशेष बल दिया है कि अविद्या के नाश के बिना कुछ भी सम्भव नहीं। अनिश्चयात्मक ज्ञान दुःख का ही जन्मदाता है, इसलिये प्रत्यक्ष अनुमान स्मृति आर्ष ज्ञान के माध्यम से ही सत्य खोजने का मार्ग वैशेषिकों को श्रेयस्कर लगा।

कर्म और शुद्ध चिन्तन ही वैशेषिकों का मूल मन्त्र रहा है। उचित कर्म ही उचित फल को दिला सकने में समर्थ हो सकते हैं।

आत्मा नित्य है वह अपने अन्तर्गत बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म आदि गुणों को धारण किये हुये शरीर और इन्द्रिय से पृथक सत्ता के रूप में विद्यमान है। मन भी आत्मा से पृथक है आत्मा इन्द्रिय के सहारे ही अनुभव करती है। अन्तरिन्द्रिय के रूप में मन आत्मा को विभिन्न प्रकार के अनुभव कराता है।

वैशेषिकों ने ज्ञान-मीमांसा के स्रोत को खोल कर निष्काम कर्म सम्पादन को ही कर्तव्य मीमांसा में कथित किया है। युक्तितत्त्व ज्ञान-मोक्ष के फल तो उसी समय दिखाता है जब आत्मा यथार्थ रूप से निःश्रेयस को प्राप्त करने की क्षमता अपने में कर लेती है।

इस प्रकार महर्षि कणाद का वैशेषिक-दर्शन भारत भूमि पर विशेष पदार्थ के तत्त्व निरूपण पर विचार करता हुआ आया जिसमें न्याय-दर्शन के अनेक स्पर्शों पर समानता रखते हुये भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में सफल हो सका।

दूसरी ओर पुरुष एवं प्रकृति के पारस्परिक भेदों-विभेदों को न जानने के कारण ही दुःखमय जगत का रूप आता है ऐसा सांख्य-दर्शन के आचार्यों ने माना है। जब मनुष्य परमात्मा के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान कर लेता है उसी समय दुःख की मूल सत्ता तिरोहित हो जाती है। विवेक-ज्ञान कारण है जो मोक्ष को दिलाती है और दुःख से छुटकारा कार्य है।

सांख्य-दर्शन

सांख्य-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त श्वेताश्वर उपनिषद् में मिलते हैं। जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर उत्पन्न होने वाले तन्तुओं से जाल बनाता है उसी प्रकार ईश्वर अपने प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा अपने को प्रकट करता। प्रकृति ईश्वर की माया शक्ति है। उसका मूल अधिपति ईश्वर मायावी है। इसके मूल सिद्धान्त उपनिषद् में दृष्टिगत होते हैं।

सांख्य-दर्शन के रचयिता कपिल मुनि' ने उपनिषदों के सांकेतिक सिद्धान्तों का अध्ययन कर तत्त्व समास' तथा सांख्य सूत्र' की रचना कर सांख्य-दर्शन की अलग सत्ता स्थापित की।

सांख्य-दर्शन का विश्वास है कि यदि पुरुष चाहे भी वह किसी कोटि का हो २५ तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह निश्चय ही मोक्ष का अधिकारी है।

इन पच्चीस तत्त्वों को सांख्य शास्त्रियों ने चार भागों में विभाजित किया है

१ प्रकृति—यह सबका कारण है और कार्य किसी का भी नहीं।

२ विकृति—जो किसी आधार से उत्पन्न होती है पर दूसरे को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती है।

३ प्रकृति विकृति—कार्य और कारण दोनो होते हैं, और स्वयं तत्वों से प्रकट होकर अन्य तत्वों को प्रकट करती है ।

४ न प्रकृति न विकृति—न कार्य का करना और न कारण ही बनना । प्रकृति केवल एक है और वह अव्यक्त है । विकृति सोलह हैं

(१) ज्ञानेन्द्रिय चक्षु घ्राण रसना त्वक श्रोत्र ।

(२) कर्मेन्द्रियाँ वाक पाणि पाद पायु, उपस्थ ।

(३) मन और महाभूत पृथ्वी जल तेज वायु आकाश ।

प्रकृति और विकृति सात मानी गई हैं

(१) महतत्व

(२) अहंकार

(३) तन्मात्रा शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ।

न प्रकृति न विकृति केवल एक ही है वह पुरुष है ।

उत्पत्ति के पूर्व कार्य-कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है एवं कार्य कारण मे आपस मे एक प्रकार की अभिन्नता है । यह सांख्य-शास्त्रियो का मत है कि कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है इसलिये कार्य कारण का भेद व्यावहारिक है और अभेद तात्विक है । इस सिद्धान्त का विशद विवेचन सांख्याचार्यों ने परिणामवाद में किया है ।

यदि कारण मे कार्य की सत्ता न होती तो कर्ता कुछ भी उत्पन्न करने मे असमर्थ होता[1] जैसे कि तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जाता है ।

सब कारण सभी कार्यो की उत्पत्ति का निश्चित आधार नहीं बन पाते कार्य कारण के पूर्व स्थिति के सम्बन्ध के कारण ही ऐसा होता है ।[3] शक्तिसम्पन्न कारण से ही शक्तिसम्पन्न वस्तु प्रकट होती है[4] और व्यक्त दशा कार्य है तथा अव्यक्त दशा कारण है ।[5]

उपर्युक्त पांच सिद्धान्तों को लेकर ही सांख्य-शास्त्रियों ने निम्नलिखित श्लोक की रचना की ।

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ।

सांख्य-शास्त्रियो ने द्वैत-मत का प्रतिपादन किया है । प्रकृति और पुरुष दो मूल

---

१ असद् करणात ।

२ उपादान ग्रहणात ।

३ सर्व सम्भवाभावात् ।

४ शक्तस्य शक्यकरणात् ।

५ कारण भावात् ।

तत्त्व हैं जिनके परस्पर सम्बन्ध से जगत का निर्माण होता है। जिनमें एक जड़ है और दूसरा चेतन।

जगत में सुख और दुःख है। सत् रज और तम गुण हैं और इन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। प्रकृति प्रतिक्षण अपने में परिवर्तन करती रहती है। गुण विषमता सृष्टि को जन्म देने वाली है।

प्रकृति के साथ पुरुष है जो त्रिगुणातीत है। जिसमें विवेक विषय विशेष चेतनता विद्यमान है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का जन्म होता है। पुरुष के पास एक ओर धर्म ज्ञान वैराग्य तथा ऐश्वर्य होता है दूसरी ओर अधर्म अज्ञान अवैराग्य। एक ओर वह अहंकार पर विजय प्राप्त कर सकता है दूसरी ओर वह बहुत बड़ा अहंकारी हो सकता है। इसी प्रकार सृष्टि चलती रहती है।

सांख्य-दर्शन बुद्धि के आधार पर जगत का अनुभव प्राप्त करने का पक्षपाती है। सांख्य प्रत्यक्ष अनुमान तथा शब्द को प्रमाण मानता है।

प्रत्यक्ष में निर्विकल्पक एवं सविकल्पक आते हैं। अनुमान में वीत और अवीत तथा शब्द में आप्तश्रुति का ज्ञान आता है।

कर्त्तव्य-मीमांसा में सांख्य-वैदिक कर्मकांडों पर बल देता है। यज्ञानुष्ठान में पशु की बलि की महत्ता को भी स्वीकार करते हुए कहता है कि यज्ञ में बलि दिया हुआ पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यत्व की प्राप्ति के बिना ही देवत्व को प्राप्त कर लेता है।

सांख्य-दर्शन शास्त्रियों ने प्रकृति को एक सुकुमार नर्तकी के रूप में माना है। जो रंगमंच में उपस्थित दर्शकों के सम्मुख अपने विविध प्रदर्शनों को दिखा कर नर्तन व्यापार से स्वतः अलग हो जाती है। वह इतनी लज्जावती है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूति हो जाने पर फिर कभी उसके सम्मुख नहीं आती।

विवेकी पुरुष में मिथ्या प्रकृति का कोई व्यापार नहीं। तत्त्वज्ञान से वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है और वह जीवनमुक्त जीवन के कर्म व्यापार में लगा हुआ कर्म बन्धन से दूर और विदेह-मुक्त के परमानन्द के शान्त और शाश्वत सागर में रस लेता रहता है।

ईश्वर तर्क का विषय नहीं है इसलिये ईश्वर आरम्भ-शून्य प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की सत्ता की असिद्धि पर जोर देता है।

कार्य-जगत का कर्त्ता तो एक है पर ईश्वर में उसकी कर्तृता नहीं सिद्ध होती है। ईश्वर स्वयं में निर्विकार है इसलिए वह परिवर्तनशील जगत का कारण नहीं हो सकता। ईश्वर पूर्ण काम है इसलिये उसके मन में ऐसी कोई भी इच्छा नहीं होगी जिससे वह इस कर्म में प्रवृत्त होगा। पर आगे चल कर विज्ञान भिक्षु इसे स्वीकार नहीं करते और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए सांख्य को ईश्वरवादी कोटि में रखते हैं

'तत् सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्'

इसमे वह यह मानते है कि ईश्वर जगत का साक्षी है। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को खीच लेता है उसी प्रकार ईश्वर जगत के कार्य व्यापार मे निहित हो जाता है।

साख्य वेदान्त मनि से बढ कर प्रकृति को सगुण मानकर भी स्वतन्त्र और नित्य मानता है। सांख्य-दर्शन शास्त्रियो ने पदार्थ-मीमासा पर ही विशेष बल दिया है।

विवेक बुद्धि ही मनुष्य के सामने उसका सच्चा स्वरूप प्रकट करती है। उसी से कैवल्य की प्राप्ति होती है जो आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दुखों पर विजय प्राप्त कर मानव मात्र के सम्मुख ज्ञान का उचित द्वार खोल देती है।

योग दर्शन

महर्षि पतजलि ने योग दर्शन के रूप मे दर्शन कृतियों मे एक सुन्दर एवं नवीन प्रणाली का सूत्रपात किया। भारतीय जीवन मे धर्म अर्थ काम मोक्ष को चार पुरुषार्थ के रूप मे माना गया। इनकी प्राप्ति के लिए शरीर और इन्द्रियों के नियन्त्रण के साथ चित्त शुद्धि की आवश्यकता मानी गयी।

चित्त को स्थिर रखने के लिए योग-दर्शन म योग-शास्त्र का निरूपण हुआ। जिसमे चित्तवृत्ति का निरोध योग माना गया। परम पद की प्राप्ति के लिए ज्ञान को प्राप्त करते हुए चित्त-वृत्ति को इधर-उधर न भटकने देने मे ही मनुष्य की सार्थकता है।

जगत मे हमें जड और चेतन पदार्थ दृष्टिगत होते है। चेतन जगत का तत्व ही चित्त है और मोक्ता प्रक्रिया ही चित्त को दृढ करती है। गीता मे भी कहा गया है

'सांख्ययोगी पृथक बाला प्रवदन्ति न पण्डित'[1]

वेदान्त साख्य या किसी भी दर्शन में बिना योग-साधना के कुछ प्राप्त नही हो सकता। योग के बिना साख्य का ज्ञान अधूरा है और इसी कारण योग ही मोक्ष का सर्वोत्तम उपाय है। प्राण साधना की क्रिया भारत के जन्म के साथ हो उदित होती है। ऋग्वेद म शकर छान्दोग्य बृहदारण्यक कठोपनिषद् श्वेताश्वर उपनिषदों मे योग-साधना के रूप दृष्टिगत होते है। कठोपनिषद् में कहा गया है—जब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा मे स्थिर हो जाती है और जब बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नही करती तो साधक योग द्वारा परम पद को प्राप्त कर लेता है। श्वेताश्वर उपनिषद् मे क्रियात्मक योग का बहुत सुन्दर एवं प्रभावशाली विवेचन किया गया है।

महर्षि पतजलि ने योग सूत्र मे चार पादों का उल्लेख किया है

(१) समाधि पाद।

---

१ गीता—पाँचवाँ अध्याय।

(२) साधन पाद।
(३) विभूति पाद।
(४) कैवल्य पाद।

यह पाद समाधि का समकक्ष है। चित्त की पाँच अवस्थायें बतायी हैं —

(१) क्षिप्त—क्षिप्त चित्त वह है जो रजोगुणी प्रभावों को लेकर संसार में भटकता है।

(२) मूढ़—मादक द्रव्य खाकर, तमोगुणी प्रभाव लेकर वह संसार में भटकता है।

(३) विक्षिप्त—यह अवस्था यद्यपि सतोगुण के रहते हुए भी रजोगुण के प्रभाव के कारण सफलता और असफलता के बीच चित्त वृत्ति भटकती है। जिज्ञासुओं की प्रथम अवस्था विक्षिप्तावस्था होती है।

(४) एकाग्र—एक विषय पर लगा हुआ चित्त।

(५) निरुद्ध—चित्त के सभी वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर भी वृत्तियों के संस्कारों से युक्त चित्त की अवस्था निरुद्धावस्था है।

अन्तिम दो अवस्थाओं 'एकाग्रता और निरुद्ध' पर ही योग-साधना सम्भव है। निरुद्धावस्था ही योग है

'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः' ऐसा पतंजलि ने कहा है।

चित्त में भी तीन गुण हैं और उन्हीं तीन गुणों के कारण उसके तीन रूप भी हैं

(१) प्रख्याशील—सत्व प्रधान चित्त रज, तम से संयुक्त रहता है और ऐश्वर्य का प्रेमी होता है।

(२) प्रवृत्ति—तमोगुण से युक्त होने पर यही चित्त अधर्मी अज्ञान अवैराग्य का प्रेमी हो जाता है। मोह को छोड़कर यह धर्म ज्ञान वैराग्य को प्राप्त कर लेता है।

(३) स्थिति—यही स्थिति उत्तम है जब चित्त सत्व प्रधान होकर धर्म मेघ समाधि में स्थित हो जाता है।

योग-दर्शनाचार्यों ने चित्त को जड़ और पुरुष को चेतन कहा है। पुरुष का प्रतिबिंब चित्त पर पड़ता है और वह स्वयं समझता हुआ चेतन की भाँति कार्य करने लगता है और वे ही चित्त की वृत्तियाँ बन जाती हैं।

चित्त की वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट होती हैं। वृत्तियों से संस्कार बनते हैं संस्कार से वृत्तियाँ बनती हैं। निरोध की अवस्था में केवल संस्कार शेष रहता है।

वृत्तियाँ प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति से कार्य करती रहती हैं। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ही प्रमाण हैं।

चित्तवृत्ति का निरोध अभ्यास और वैराग्य से सम्भव है। चित्त चंचल है वह दो बार पुण्य वाला ओर बह सकता है। निरोध दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है।

(१) सम्प्रज्ञात—जिसमें एक आलम्बन को लेकर एकाग्र हो जाना। यह समाधि चार प्रकार की होती है —

(अ) वितर्कानुगत—स्थूल विषय का ध्यान फिर स्थूल से सूक्ष्म की स्थिति में सवितर्क समाधि जिसमें वस्तु अर्थ और उसका ज्ञान हो और शब्द छोड़कर अर्थ की भावना को निर्वितर्क समाधि का रूप दिया गया।

(ब) विचारानुगत—विचार समाधि।

(स) आनन्दानुगत—सत्व मे सुख आनन्द की समाधि।

(द) अस्मितानुगत—चित्त और चित् मे एकात्मिका संवित् रहती है जो इन्द्रियों से भी सूक्ष्म समाधि स्थिति का ग्रहण करती है।

(२) असंप्रज्ञात—यह निरोध प्राप्त का दूसरा साधन है। योग-दर्शनाचार्यों ने असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद किये है —

(१) भव प्रत्यय—अनात्मा में आत्मा की ख्याति का निरोध ही अविद्या को भव प्रत्यय समाधि द्वारा दूर करता है। चित्त की विदेहावस्था के लिए साधी गयी स्थिति समाधि है।

(२) उपायप्रत्यय—श्रद्धा वीर्य (धारण) स्मृति समाधि प्रज्ञा से समाधि ही मोक्षगामिनी है।

सम्प्रज्ञात-समाधि से असम्प्रज्ञात-समाधि ही मोक्ष का साधन बनती है। रोग संशय दुःख पीड़ा अकर्मण्यता आलस्य आसक्ति भ्रान्ति दर्शन ही चित्त को कुमार्ग पर ले जाने वाले होते है।

योग शास्त्रियों ने इन सब पर विजय प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित अष्टांग योगों का निरूपण किया जो निम्नलिखित है —

(१) यम—कायिक वाचिक तथा मानसिक संयम को 'यम' कहते है। जैसे—

(अ) अहिंसा।

(ब) सत्य।

(स) अस्तेय।

(द) ब्रह्मचर्य।

(इ) अपरिग्रह।

इनका पालन 'यम' कहा जाता है।

(२) नियम—नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक है। नियम निम्नलिखित हैं —

(अ) शौच।

(ब) संतोष।

(स) तपस्या।

(द) स्वाध्याय।

(ड) ईश्वर प्रणिधान।

३) आसन—चित्त को स्थिर रखने के जो आसन है। जैसे —

(अ) पद्मासन।

(ब) वीरासन।

(स) भद्रासन आदि।

(४) प्राणायाम—स्थिर आसन होने से श्वास तथा प्रश्वास की गति विच्छेद को प्राणायाम कहते हैं।

(५) प्रत्याहार—विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अन्तर्मुखी करना।

(६) धारणा—चित्त को किसी एक स्थान पर स्थिर कर देना।

(७) ध्यान—एकाग्रता के साथ किसी एक वस्तु पर ही ध्यान देना ध्यान है। ध्यान में ध्यान ध्येय तथा ध्याता का पृथक अस्तित्व प्रकट होता रहता है।

(८) समाधि—ध्यान और ध्याता का भान नहीं रह जाता है। उसी के आकार को चित्त धारण कर लेता है। उस अवस्था में ध्यान ध्याता तथा ध्येय तीनों की एक सी प्रतीति होती है। समाधि संयम से ही सम्भव है।

योग-दर्शन ने केवल मोक्ष ही अपना साध्य मान कर कर्म की उपेक्षा कभी भी नहीं की। कर्म को योगाचार्यों ने चार रूपों में विभाजित किया है।

१ कृष्ण कर्म—दुर्जनों के कर्म कृष्ण कर्म होते हैं।

२ शुक्ल कृष्ण कर्म—जीवनयापन करने के लिये किये गये साधारण कर्म।

३ शुक्ल कर्म—जिनसे दूसरों को पीड़ा न पहुंचाई जा सके।

४ अशुक्ल अकृष्ण—कर्मों के फल की इच्छा न करने वाले कर्म।

इस प्रकार कर्म का विचार ही वासना एवं अन्य कुविचारों को मन के पास नहीं भटकने देता और वासनायें हेतु फल आश्रय आलम्बन के सही मार्गों का अनुसरण कर अच्छे संस्कारों को जन्म देती जो व्यक्ति को मुक्ति के पथ तक पहुंचा सकेगा।

चित्तवृत्ति निरोध में योग-शास्त्रियों ने ईश्वर का आधार माना है :

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वर

क्लेश पुण्य पाप कर्मों से जाति आयु भोग रूप फलों से वासनाओं से दूर, एक प्रकार के पुरुष को ईश्वर की संज्ञा दी है जो इन भोगों से सदा दूर रहता है।

शुद्ध सात्विक चिन्तन और ईश्वर का समाधि समाहित चित्त से चिन्तन मोक्ष देने वाला है।

मीमांसा-दर्शन

मीमांसा-दर्शन के क्षेत्र में कुमारिल भट्ट ने एक नवीन युग की उद्भावना की।

इसके पूर्व काल और पश्चात् काल को कुमारिल पूर्व काल और कुमारिल पश्चात काल के रूप में मीमांसा के दार्शनिक इतिहास का विवेचन किया जाता है। जैमिनि ऋषि मीमांसा दर्शन के सूत्रकार थे। जैमिनि ऋषि ने अपने सूत्र ग्रन्थों में प्रमाणों पर ही अधिक विचार किया। पहले मीमांसा-दर्शन में इन प्रमाणों द्वारा किसी दार्शनिक प्रमेय के जानने के लिये नहीं था। उस समय मुख्य विषय धर्म का विवेचन था। बाद में चल कर आत्मा मुक्ति शरीर इन्द्रिय आदि तत्वों का विवेचन दार्शनिक पृष्ठ-भूमि में हुआ। मिथिला में मीमांसा की दर्शन भूमि पनपी पली और बढ़ी।

धर्म के विचार क्षेत्र में कायिक वाचिक मानसिक सभी कर्मों पर विचार किया गया और अंतःकरण की शुद्धि तथा आध्यात्मिक चिन्तन का अध्ययन प्रारम्भ आत्मा का भावपिक रूप से विचार और स्वर्ग प्राप्ति ही मीमांसा का दृष्टिकोण है। लौकिक दृष्टिकोण में स्वर्ग 'परमपद' है। आत्मा को कुछ मीमांसक स्वप्रकाश का रूप देते हैं।

मीमांसा-शास्त्रियों ने निम्नलिखित बारह विषयों पर विशेष चर्चा की है।

(१) धर्म जिज्ञासा
(२) कर्म भेद
(३) शेषत्व
(४) प्रयोज्य प्रयोजक भाव
(५) कर्मों म क्रम
(६) अधिकार
(७) सामान्य तथा विशेष
(८) अतिदेश
(९) ऊह
(१) बाध
(११) तंत्र
(१२) प्रसंग

इन्द्रियों द्वारा ही जगत की सत्ता का ज्ञान होता है। सभी वस्तुओं की अपनी शक्ति रहती है जिसके रहने से ही वह अपना कार्य कर सकती है। सादृश्य और संख्या भी इसी प्रकार भिन्न पदार्थ है। दो 'अयुक्त सिद्धों' में समवाय होता है। जिन द्रव्यों का प्रत्यक्ष हो उन्हीं में जाति रहता है।

क्षिति जल वायु अग्नि आकाश काल आत्मा मनस् तथा दिक द्रव्य है। *आत्मा का मानस प्रत्यक्ष नहीं है। यह ज्ञानाश्रय है। इक्कीस गुण हैं ऐसा प्रभाकर* मत वालों ने माना है।

कुमारिल ने पदार्थ को भाव और अभाव दो प्रकारों में देखा। मुरारि मिश्र ने तत्व की पराकाष्ठा को ही स्वर्ग का रूप दिया।

जगत के कर्ता को परमात्मा या ईश्वर की जो महत्ता दी जाय यह मीमांसक

निश्चित नहीं कर पाये। यह था है या इसका विचार इस शास्त्र में नहीं किया गया।

शरीर इन्द्रिय से भिन्न आत्मा की सत्ता मीमांसकों ने स्वीकार की है। यह एक द्रव्य है। यह नित्य है इसका नाश नहीं होता। यही कर्त्ता और भोक्ता है। यह ज्ञाता है जो मृत्यु के पश्चात् एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश कर जाती है। एक आत्मा दूसरी आत्मा से भिन्न है। जीवात्मायें अनेक हैं।

शरीर इन्द्रिय शब्द स्पर्श रूप आदि भोग्य विषय ही मनुष्य को बन्धन में डालने वाले होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ मनुष्य इस प्रकार बहुत बार जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त करता है।

पूर्व जन्म के कर्मों से उत्पन्न मनुष्य धर्म अधर्म के फलों को भोगता है। मोक्ष अवस्था में न सुख है न आनन्द और न ज्ञान :

'तस्मात् नि:सम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्ष' [1]

आत्म-ज्ञान ही मुक्ति का द्योतक है कर्मों का अनुष्ठान भी इसके लिये आवश्यक है। मुक्तावस्था में जीव की सत्ता मात्र रहती है। और वह पुन संसार में नहीं आता।

मीमांसकों ने धर्म का प्रमाण वेद मे माना है अन्य प्रमाण में प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द अभाव आदि हैं। प्रभाकर ने अभाव को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया है। प्रभाकर मत ने साक्षात् उत्पन्न ज्ञान ही को प्रत्यक्ष माना है। साथ ही भ्रान्ति और 'ज्ञान' इन दोनों शब्दों को परस्पर विरुद्ध माना है। ज्ञान स्वप्रकाश' युक्त होने के कारण सदैव ही यथार्थ है। रस्सी को देखकर साँप सोचना भ्रान्ति ज्ञान है।

मीमांसा-दर्शन मे प्रभाकर मत कुमारिल मत भट्ट मत हुए जिन्होंने विभिन्न प्रकारो से अपनी चिन्तन धारा का रूप प्रस्तुत किया।

भट्ट मत का सम्बन्ध व्यावहारिक जगत से है। इस मत के अनुसार आत्मा जड़ है पर सदैव वह ज्ञान शक्ति से निहित है। इस कारण वह बोध-स्वरूप भी है। भट्ट मत ने स्वप्नावस्था में आत्मा को ज्ञान से शून्य माना है।

प्रभाकर मताचार्य ने आत्मा को जड़ मानते हुये ज्ञान के स्वप्रकाश की सत्ता को स्वीकार किया है।

मुक्ति अवस्था में भी जीवात्मा स्वतन्त्र है और मुक्तावस्था मे भी न्याय वैशेषिक की भांति 'पुरुष बहुत्व' को मीमांसा ने स्वीकार किया है।

मीमांसा-दर्शन यज्ञ वैदिक अनुष्ठानों की तात्विक विवेचना करता हुआ भी मोक्ष शास्त्र है थो थोड़े शब्दों मे ही 'प्रपञ्चसम्बन्धविलयोमोक्ष मोक्ष के सोपान

---

१ शास्त्र-दीपिका पृष्ठ १२५-६ ।

पर भी विठाता है। जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम ही मोक्ष है की संज्ञा प्रदान करता है।

अद्वैत-दर्शन

अद्वैत-दर्शन भी इसी भाँति शंकराचार्य के भाष्य एवं सूत्रों में विशेष रूप से प्रकट होकर भारत की दर्शन भूमि पर आया। जीव समुदाय दुःख से छुटा करता है। इससे छुटकारा पाने का उपाय ढूंढना है। अविद्या के नाश के सतत् प्रयत्नों में रत रहकर ही जिज्ञासु क्लेशों से छुटकारा पाकर आत्मा को परमात्मा के सम्मिलन में एकाकार होने का प्रयत्न करता रहता है। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः कहकर वह आत्मा को ही दुःख की निवृत्ति कराना चाहता है। आत्मा जीव का ही प्रतिबिम्ब है। आज तक आत्मा की उपेक्षा करते आप अपने को नहीं पहचान पाते। कस्तूरी मृग के नाभि में ही है और वह विक्षिप्त होकर उसे इधर-उधर देखता फिरता है। इसी प्रकार जब तक अविद्या से मानव ग्रसित रहता है तभी तक वह दुःखी रहता है। 'दृष्टा' और 'दृश्य' दो वस्तुयें हैं जो भिन्न हैं जब एक दृष्टा ही रहे और दृश्य विलीन हो जाय तभी आत्मा की चरम सत्ता है।

अद्वैत-वेदान्त दर्शन भी उपर्युक्त विचारों को लेकर आया। उपनिषद् इसके मूल प्रेरणा स्रोत रहे और शंकराचार्य ने 'ब्रह्म-सूत्र' में अपने विचारों को व्यक्त किया। शास्त्र से वैराग्य पद में आकर संन्यासी का जीवन व्यतीत करते हुये शंकराचार्य ने विष्णु-स्तोत्र' गीता भाष्य ब्रह्म-सूत्र' 'विवेक चूड़ामणि' आदि पुस्तकें लिखीं।

शंकर वेदान्त 'अद्वैत मत' को श्रेष्ठ मानता है। अद्वैत-दर्शन के अनुसार इस भूमि में पारमार्थिक दृष्टिकोण से एक ही तत्त्व है उसे ब्रह्म या आत्मा कहकर पुकारा जा सकता है। आत्मा या ब्रह्म का स्वरूप आनन्दमय है 'सच्चिदानन्दब्रह्म'। इसके अतिरिक्त जो भी प्रतिभाषित होता दिखाई पड़ता है वह अज्ञान है माया है।

ब्रह्मानन्द की अनुभूति के लिये अज्ञान और माया का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि वह अतत्त्व है, अतत्त्व के ज्ञान से ही तत्त्व के दर्शन सम्भव हैं।

शंकर-दर्शन ने सत्ता के तीन रूप माने हैं

(१) पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म है।

(२) प्रतिभासिकी सत्ता रस्सी को देख कर सर्प का ज्ञान भ्रान्ति ज्ञान है। प्रकाश पड़ने पर रस्सी सर्प न होकर रस्सी ही रह जायगी। वह ज्ञान मिथ्या है क्षणिक है। यह सर्प ज्ञान ही प्रतिभासिकी ज्ञान है।

(२) व्यावहारिकी ज्ञान संसार रूप मे व्यवहार के लिये सत्य मानने की दशा ही व्यावहारिकी सत्ता है।

अद्वैत-दर्शन केवल ब्रह्म ही को सत्य मानता है। अन्य सभी पदार्थ उसके लिये असत्य हैं।

ब्रह्म सत्यम् जगत मिथ्यम्'

माया अपने विभिन्न रूपों से उद्भासित होती है यह जो अनेक रूपों में दिखाती है भ्रान्तिपूर्ण है जो तत्व ज्ञान से दूर की जा सकती है।

ब्रह्म को अधिष्ठान मानकर जितने भी कार्य जगत में होते हैं वे ब्रह्म के विवर्त ही हैं। तत्वों में अतत्वों का भान ही विवर्त है।

विवर्त में सभी वस्तुयें जल मे उठने वाले बुलबुलों के समान मिथ्या हैं। यही मिथ्या-ज्ञान आरोप और अध्यास है।[1]

आत्मा सर्वव्यापी और चेतन है। इसकी सिद्धि के लिये किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नही है। यह स्वयं सिद्ध और प्रमाण से युक्त है। भ्रान्तियों के कारण ही यह स्थिति से अपरिचित रहती है और अज्ञानी पुरुष उनके पीछे भागता रहता है।

अज्ञान अविद्या और माया का प्रतिरूप है। इसमें सत् रज तम गुण हैं। तत्व ज्ञान ही इस पर मुक्ति दिला सकता है।

आवरण के कारण ही आत्मा माया से आच्छादित रहती है और मिथ्या ज्ञान के फन्दों मे फंसी रहती है।

आत्मा क्रिया-शून्य है। अज्ञान के कारण ही सुख-दुख ईर्ष्या-द्वेष आत्मा मे आरोपित हो जाते हैं जिससे आत्मा क्रियाशील दृष्टिगत होने लगती है। माया से वशित आत्मा ही जगत की सृष्टि का कारण है।

चैतन्य स्वरूप दो है। एक चैतन्य रूप स्वयं और दूसरा माया रूप। चैतन्य रूप में विशुद्ध सत्व की प्रधानता है। उसमे तत्व ही प्रधान है और रजो गुण एवं तमो गुण अप्रधान हैं। इसके अन्तर्गत चैतन्य आत्मा या ब्रह्म सविक्षेप हो जाता है और इसी कारण समस्त अज्ञानों से अविच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वर है जो सर्वज्ञ सर्वेश्वर सर्वनियन्ता अन्तर्यामी और जगत का कारण है यह जगत का निर्माण केवल लीला हेतु ही करता है।

इसी आधार पर अद्वैत-दर्शन शास्त्रियों ने पाच कोषों पर विचार किया जो शरीर और अवस्था को प्रकट करता हुआ आत्मा को परे मानता रहा।

---

१ अध्यासो नाम अतस्मिन तद्बुद्धि

"तत्पदार्थ में अतद् पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना अध्यास है।

भारतीय दर्शन प बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ४४१।

(१) अन्नमय } स्थूल

(२) मनोमय
(३) प्राणमय } सूक्ष्म
(४) विज्ञानमय

(५) आनन्दमय } कारण[1]

जगत का कारण शरीर ईश्वर है। माया और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी स्थूल या सूक्ष्म कारण नहीं है। इसलिये यह आनन्दमय कोष की संज्ञा प्राप्त करता है। इस अवस्था में सभी लय रहता है। इस कारण सुषुप्ति की संज्ञा उचित ही है, जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर को लय करता है।

आनन्दमय कोष से आगे भूत ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरणों की उत्पत्ति होती है। विज्ञानमय कोष में पांच ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि के सम्मिलन से कार्य वस्तु शरीर मे उत्पन्न होती है वह चैतन्य जीव की संज्ञा प्राप्त करता है।

मनोमय कोष मन को उत्पन्न कर संकल्पात्मक विकल्पात्मक भावों की उत्पत्ति करता है। इसी प्रकार सृष्टि क्रम चलता रहता है व्यक्ति आता है और चला जाता है। ब्रह्मलीला करता रहता है। ब्रह्म के साथ साक्षात्कार करने के हेतु अज्ञान का सामना करना पड़ता है। ब्रह्म-चिन्तन से चित्त वृत्ति अज्ञान का नाश कर देती है और आगे चल कर चित्त ब्रह्म स्वरूप हो जाता है अन्त में एक मात्र ब्रह्म में लीन हो जाता है और साधक ब्रह्म साक्षात्कार में लीन होकर परमानन्द पद को प्राप्त कर मुक्ति-पद तक पहुंच जाता है। प्रारब्ध कर्म के क्षेप बिना मुक्ति नही। संचित और क्रियमाण कर्मों के नाश होते-होते यदि जीव-तत्व ज्ञान को प्राप्त कर ले तब वह प्रारब्ध कर्म के क्षय होने तक शरीर को धारण रक्खेगा। इस अवस्था मे साधक जीवन मुक्ति के पद पर प्रतिष्ठित हो जायेगा।

अद्वैत-वेदान्त 'शब्द' को प्रमुख प्रमाण मानता है। वैसे प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम अर्थापत्ति अनुपलब्धि ये छ: प्रमाण भी माने गये है और अद्वैत वेदान्तियों ने मन को इन्द्रिय रूप में स्वीकार नही किया है, केवल ब्रह्म और उसकी माया से ही अपने इतने बड़े दर्शन-शास्त्र की भूमि रची। शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीय नेह नानास्ति ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

साधक को माया के बन्धनों से दूर छुटा कर परम-पद तक पहुचाने के लिये भारत के चार स्थानों पर चार पीठ स्थापित किये जिनकी गुरु परम्परा आज भी लाखों करोड़ों भूले भटके एवं विभ्रान्तिजनों के मन को अपने उपदेशों एवं प्रवचनों से लाभ पहुचाती आ रही है।

---

१ विशेष-विवरण के लिये देखिये

डा बल्देव प्रसाद—भारतीय-दर्शन पृष्ठ ४१ ।

शैव दर्शन

षट्-दर्शनों के इस दार्शनिक इतिहास के साथ-साथ शिव या रुद्र को आधार लेकर भारत में शैव-दर्शन ने भी अपनी सत्ता स्थापित की। शिव की उपासना वैदिक काल से ही भारत भूमि में प्रचलित थी। यजुर्वेद तैत्तरीय आरण्यक श्वेताश्वर महाभारत में शिव की उपासना दृष्टिगत होती है। वामन पुराण में

(१) शैव
(२) पाशुपत
(३) काल दमन
(४) कापालिक

सम्प्रदायों का विवरण मिलता है। काश्मीरी शैव-दर्शन को प्रत्यभिज्ञादर्शन भी कहा जाता है।

इस दर्शन की भूमि में भी अज्ञान और माया का रूप है जो स्वतंत्र नहीं माना गया। यह परमतत्त्व के आधीन है। परमतत्त्व की सीमा और आज्ञा में ही अज्ञान का उदय और अस्त होता है। अज्ञान के पैदा होने पर भी परम तत्त्व में कोई परिवर्तन नहीं होता है। माया का खेल सृष्टि सब परम शिव की ही कृपा का फल है। परम शिव का अपना कोई प्रयोजन नहीं जगत तो उसके लिये क्रीड़ास्थल है।

परम शिव को शैव-दर्शन स्वतन्त्र चिन्मय ज्ञान स्वरूप कर्तृ स्वरूप मानता है। ज्ञान और क्रिया दोनों ही समान हैं। परम शिव की क्रिया ही ज्ञान है। परम शिव ही एक तत्त्व है और उसी से अन्य तत्त्व उत्पन्न होते हैं।

शैव-दर्शन प्रकृति और पुरुष को अनित्य और परतंत्र मानता है। प्रकृति-तत्त्व माया है जिसके साथ कला विद्या राग काल नियति है। इन पांच तत्त्वों को जान लेने से ज्ञान का प्रस्फुटन होता है और माया के बन्धन टूट जाते हैं। सद् विद्या को प्राप्त कर ईश्वर-तत्त्व सदाशिवतत्त्व शक्ति-तत्त्व परम शिव-तत्त्व में परिणत हो जाता है। यही पूर्णावस्था शैव दर्शनाचार्यों ने मानी है। प्रत्येक जीव में रहने वाला आत्मतत्त्व ही शिवतत्त्व है। यह चैतन्य रूप है सभी में व्यष्टि एवं समष्टि रूप में विद्यमान है। विमर्श ही उसका स्वभाव है इस परम तत्त्व में अनुपम शक्तियां हैं जो निम्नलिखित हैं।

(१) चित्त शक्ति—प्रकाश रूप
(२) आनन्द शक्ति—शिव का आनन्दमय रूप
(३) इच्छा शक्ति—जगत की सृष्टि एवं संहार की इच्छा
(४) ज्ञान शक्ति—शिव का ज्ञान स्वरूप
(५) क्रिया शक्ति—शिव की क्रिया शक्ति

यह पूर्ण जगत शिव की ही शक्ति का प्रतीक है शक्ति भी शिव के बिना नहीं रह सकती दोनों में एकरूपता है। शक्ति का ही उन्मेष रूप सृष्टि है।

सद्विद्या के प्राप्त होते ही अहम् और इदम् एक रूप हो जाते हैं। माया शक्ति के बन्धनों को तोड़कर संसारी पांच मायावी कंचुकों की प्रबंचना समझ लेता है और बुद्धि तत्व के आधार पर अहंकार तत्व से दूर ज्ञानेन्द्रियों पर विजय पाकर मोक्ष पद का अधिकारी होता है।

शैव-दर्शन के निम्नलिखित तत्व हैं।

(१) सद्‌शिव तत्व
(२) ईश्वर तत्व
(३) शुद्ध विद्या तत्व
(४) माया तत्व
(५) पुरुष तत्व
(६) प्रकृति तत्व
(७) अन्तःकरण बुद्धि तत्व
(८) अहंकार तत्व
(९) मनस्तत्व
(१) पांच ज्ञानेन्द्रियां
(११) पांच कर्मेन्द्रियां
(१२) पाच तन्मात्राएं
(१३) पंच भूत

वट बीज में वट-वृक्ष का शक्ति रूप है। परम शिव के यह तत्व शक्ति रूप में बीज के सदृश हैं। इन तत्वों पर ज्ञानपूर्वक विचार करने के पश्चात् साधक में 'मैं' और 'यह' का भेद मिट जाता है। एक समय होता है जब 'मैं' और 'यह' दोनों का ही महत्व होता परन्तु विचार पूर्वक साधक इस भेद को दूर करने की चेष्टा करता है और एक भूमि ऐसी आती है, जहां दोनों का भेद-भाव धीरे-धीरे लुप्त होने लगता है और यह 'मैं' म ही लीन हो जाता है, उसी अवस्था पर साधक कह उठता है मैं हूं। यह अवस्था सदाशिव तत्व की है। इस 'हूं' के अहम् भाव को भी आगे चल कर दूर किया जाता है और उस स्थान पर परम शिव का रूप प्रकट होता है। यह अवस्था परम शिव मे लीन होकर चिन्मय रूप में परिणत हो जाती है और अद्वैत-दर्शन अपने विभिन्न रूपों में आ खड़ा होता है।

जीवित अवस्था म स्थूल शरीर से इस प्रकार का ज्ञान 'जीवनमुक्ति' है। शरीर के नाश होने के पश्चात् ही यह तत्व परम शिव मे लीन हो जाता है।

भारतीय-दर्शन का यह पूर्ण रूप है। परम शिव में एकाकार हो जाना ही शैव दर्शन की चरम आस्था है।

माया मिथ्या है, मेघ से जिस प्रकार सूर्य ढक जाता है वैसे ही माया आत्मा को ढक लेती है। माया भी परम शिव की एक क्रिया है। शक्ति सत्य है जीव जगत सत्य है मिथ्या नहीं। शैव-दर्शन के साथ ही शैव-तंत्र मे पाशुपत-मत में कार्य कारण योग विधि दु खांत पदार्थों का विवरण दिया। रसेश्वर दर्शन व्याकरण दर्शन त्रिपुरा सिद्धान्त आदि आये।

शिव शक्ति बिन्दु इन तीन रत्नों को शैव दर्शन में श्रेष्ठ माना गया है। दु:खों की निवृत्ति ही मोक्ष पद है इसकी भावना का विवेचन शैव-दर्शन का प्रमुख आधार रहा।

दूसरी ओर नारायण ही भक्ति ज्ञान का चरम लक्ष्य है यह भाव धारा वैष्णव दर्शन का मूल स्रोत बन कर आयी जो अपने जन्म-काल में पांच मार्गों मे विभाजित हुई :

(१) श्री सम्प्रदाय—संस्थापक	रामानुजाचार्य
(२) हंस सम्प्रदाय—संस्थापक	निम्बार्क स्वामी
(३) ब्रह्म सम्प्रदाय—संस्थापक	मध्वाचार्य
(४) रुद्र सम्प्रदाय—संस्थापक	विष्णु स्वामी
(५) चैतन्य मत—संस्थापक	चैतन्य देव

'श्री सम्प्रदाय' के संस्थापक के रूप मे श्री रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत-दर्शन की पृष्ठ भूमि स्थापित की जिसे रामानुज वेदान्त भी कहा जाता है। रामानुजाचार्य मत मे पदार्थों को तीन रूपों मे विभक्त किया गया है

(१) चित्—भोक्ता जीव

(२) अचित्—भोग्य जगत

(३) ईश्वर—सर्वान्तर्यामी

चित् तत्व ही जीवात्मा है जो देह इन्द्रिय मन प्राण बुद्धि से भिन्न है। यही ज्ञान का आश्रय है। ईश्वर इसका धारक है। जीवात्मा के तीन रूप हैं

(१) बद्ध जीव—जो सांसारिक जीव होते हैं।

(२) मुक्त जीव—जो संसार मे रहते हुये भी भक्ति आराधना और कर्मयों का पालन करने वाले होते हैं।

(३) नित्य जीव—जो कभी संसार म न आया हो।

आत्मा अचित् के संसर्ग से अविद्या कर्म वासना व रुचि को जन्म देती है। ज्ञान अपने मे संकोच और विकास कर मुक्तावस्था को प्राप्त करवाता है। अचित् तत्व जड़ है इसके भी रामानुज दर्शनानुसार तीन भद हैं

(१) शुद्ध तत्व—रजोगुण तमोगुण से दूर।

(२) मिश्र तत्व—सत् रज एव तम गुणों से युक्त।

(३) तत्व शून्य—काल।

ईश्वर तत्व मे चित् अचित् इनकी देह है। यह ज्ञान रूप आश्रयदाता क्षमाशील और सुदृढ़ स्वरूप है।

ईश्वर का स्वरूप पांच प्रकार का है

(१) पर—वासुदेव रूप।

(२) व्यूह—विश्व की लीला के निमित्त का स्वरूप।

(३) विभव—मुमुक्षुओं के उपास्य रूप का स्वरूप।

(४) अन्तर्यामी जीवों के अन्तःकरण में उतरने वाला स्वरूप।

(५) अर्चावतार—मूर्ति मे रहने वाला उपास्य रूप।

उपर्युक्त रूपों मे उपासना का स्वरूप प्रस्फुटित कर योग ज्ञान भक्ति से ईश्वर को पाया जा सकता है।

ज्ञान नित्य और व्यापक है। यह द्रव्य है यह मन का सहकारी है। भक्ति और प्रपत्ति से उपजा ज्ञान मोक्ष का मार्ग खोल देता है। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द रामानुजाचार्य के दृष्टिकोण से प्रमाण हैं।

भ्रम भी यथार्थ ज्ञान है। ज्ञान के सभी विषय सत्य है। अविद्या का ज्ञान सत्व रूप मे प्राप्त कर उसे ही जीता जा सकता है और जब

अन्तःकरण अविच्छिन्न
अन्त करणवृत्त अविच्छिन्न
विषया अविच्छिन्न

तीनों चैतन्य एकत्र हो जायेंगे तभी ईश्वर से साक्षात्कार सम्भव है।

वेद अपौरुषेय' और नित्य है कह कर उनकी महत्ता रामानुज वेदान्त स्वीकार करता है।

महत् से अहंकार का जन्म होता है जो वैकारिक तैजस और भूतादि से मिश्रित होता है। उससे ग्यारह इन्द्रियां जन्म लेती हैं। जीव योग के बल मे शरीर मे प्रवेश पाकर भ्रमण करता है। मुक्ति मे यह सब इन्द्रियों का साथ छोड़ देता है और व्यक्ति आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। इस कारण परमपद का चरम लक्ष्य नहीं है।

ब्रह्म' सम्प्रदाय-के प्रवर्तक श्री मध्वाचार्य ने द्वैत-दर्शन के रूप में माध्व-वैदान्त का प्रचार किया। मध्वाचार्य ने दस पदार्थ माने हैं

(१) द्रव्य
(२) गुण
(३) कर्म

(४) सामान्य
(५) विशेष
(६) विशिष्ट
(७) अंशी
(८) शक्ति
(९) सादृश्य
(१) अभाव।

द्रव्य को उन्होंने बीस रूपों में स्वीकार किया है :

(१) परमात्मा	(२) लक्ष्मी
(३) जीव	(४) अव्याकृत आकाश
(५) प्रकृति	(६) गुण त्रय
(७) महत् तत्व	(८) अहंकार तत्व
(९) बुद्धि	(१) मन
(११) इन्द्रिय	(१२) मात्रा
(१३) भूत	(१४) ब्रह्माण्ड
(१५) अविद्या	(१६) वर्ण
(१७) अंधकार	(१८) वासना
(१९) काल	(२) प्रतिबिम्ब

पदार्थ और द्रव्यों का निरूपण ही कर्म का वर्णन होता है। माध्वाचार्य के मत मे कर्म तीन प्रकार के हैं

(१) विहित कर्म
(२) निषिद्ध कर्म
(३) उदासीन कर्म

पदार्थ निरूपण म शक्ति के अन्तर्गत चार रूपों का माना गया

(१) अचिन्त्य शक्ति—जो विष्णु मे निवास करती है।
(२) आधेय शक्ति—विधिवत् प्रतिष्ठान से मूर्ति में शक्ति।
(३) सहज शक्ति—कार्य मात्र के अनुकूल स्वभाव रूप शक्ति जो नित्य और अनित्य है।
(४) पद शक्ति—वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध शक्ति।

पदार्थ कर्म द्रव्यों की विचार धारा को सुसंगठित रूप देकर माध्वाचार्य मत वालों ने परमात्मा को साक्षात् विष्णु के रूप म माना। उत्पत्ति स्थिति संहार नियमन आवरण बन्धन मोक्ष सब परमात्मा के ही अधीन हैं जो सर्वज्ञ हैं। जीव जड़ प्रकृति से परे नित्य तथा सर्वथा स्वतंत्र है। एक होकर वह नाना रूपों म प्रकट होता है।

लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है जो आकार रूप में उनके अधीन रहते हुये उनसे भिन्न है। लक्ष्मी जी भी नित्य मुक्ता नाना रूप धारिणी है।

जीव अज्ञान मोह दुःख भय शोक दोनों से युक्त संसारी प्राणी है जो

(१) मुक्ति योग्य
(२) नित्य संसारी
(३) तमो योग्य कर्मों में रहता है।

देव ऋषि पितृ चक्रवर्ती उत्तम मनुष्य जो तमोगुण और सुख-दुःख रूप जीव के भेद भाव से परे उठ जाते हैं वे ही मुक्ति योग्य जीव कहलाते हैं।

श्रवण मनन ध्यान के साथ पंच भेद का ज्ञान प्राप्त कर साधन-मार्ग द्वारा इस कष्ट से परे हुआ जा सकता है।

(१) ईश्वर का जीव से भेद।
(२) ईश्वर का जड़ से भेद।
(३) जीव का जड़ से भेद।
(४) जीव का दूसरे जीव से भेद।
(५) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद।

का ज्ञान ही मुक्ति का साधक है। ध्यान रूप या शास्त्र द्वारा वर्णित अभ्यास रूप से परमात्मा के अनुग्रह से ज्ञान भक्ति और मोक्ष के द्वार खुलते हैं जो क्रमशः मोक्ष सालोक्य सामीप्य सारूप्य तथा सायुज्य को प्राप्त कराते हैं।

हंस-सम्प्रदाय

हंस-सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री निम्बकाचार्य ने द्वैताद्वैत-दर्शन भेदाभेद, भास्कर वेदान्त-दर्शन हंस-सम्प्रदाय की नींव रक्खी।

'ब्रह्म सूत्र' पर भाष्य रच कर निम्बकाचार्य ने ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम अचिन्त्य शक्ति विशेष शक्ति को स्वीकार किया। जिस प्रकार स्वभाव वश गाय के थन से दूध निकलता है उसी प्रकार स्वभाव से सृष्टि का परिणाम होता है।

निम्बकाचार्य ने भी पदार्थ-मीमांसा के अन्तर्गत

(१) चित्
(२) अचित्
(३) ईश्वर के रूपों को माना।

चित् ज्ञान स्वरूप है। वही चित् जीव रूप में कर्त्ता और भोक्ता है। इस लोक में वह अपने ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिये स्वतंत्र न होकर ईश्वर पर ही आश्रित है। वह हरि का ही अंश है।

अचित् चेतना ही पदार्थ है वह तीन प्रकार का है

(१) प्राकृत—उत्पन्न जगत

(२) अप्राकृत—परम् व्योमन विष्णुपद परमपद।

(३) काल—जगत का नियामक।

ईश्वर सगुण रूप है। वह अविद्या से दूर कल्याण गुणों से युक्त है। सभी उसके आश्रित है। पर ब्रह्म नारायण भगवान कृष्ण पुरुषोत्तम आदि उसी की संज्ञायें हैं।

प्रपत्ति द्वारा ईश्वर जीवों पर अनुग्रह करता है। बिना उसी अनुग्रह के मुक्ति सम्भव नहीं। भक्ति की प्रबलता ही भक्त को साक्षात्कार के लिये प्रेरित करती है। शरीर सम्बन्ध रहने पर भगवत् मिलन सम्भव नहीं। इस कारण जीवन-मुक्त की कल्पना निम्बकाचार्य को मान्य नहीं। मोक्ष की चेष्टा मोक्ष नहीं दिला सकती। कर्म ही से मोक्ष सम्भव है। संसार के राग से जीव संसारी बन्धन में फंसता है। इसलिये कर्म दुःख बीज का नाश एवं अविद्या के नाश के लिय ही होना चाहिये और उसी प्रकार का योगाभ्यास मुक्ति के द्वारा मोक्ष सफल में समर्थ हो सकता है।

विष्णु-स्वामी द्वारा प्रचारित रुद्-सम्प्रदाय के अन्तर्गत बल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत दर्शन के रूप में बालम्म-वेदान्त की रचना की। माया को भगवान की शक्ति मान कर ब्रह्म को ही इन दर्शन शास्त्रियों ने एक मात्र प्रमेय माना।

ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ठ है। वह अनेक रूपों में होते हुये भी एक है। स्वतन्त्र होते हुये भी भक्ति के आधीन है। यह संसार ब्रह्म की लीलाओं का क्रीड़ा-स्थल है। ब्रह्म के तीन रूप हैं।

(१) आधि दैविक—परब्रह्म

(२) आध्यात्मिक—अक्षर ब्रह्म

(३) आधिभौतिक—जगत

भगवान को जब रमण की इच्छा होती है तो वे जीव रूप ग्रहण करते है। जीव भी

(१) शुद्ध

(२) मुक्त

(३) संसारी

रूपों में अपने कार्य-कलापो से युक्त रहता है। अविद्या का नाश जीव का शुद्ध रूप है। उसके साथ का सम्बन्ध संसारी है जो देव और आसुर है। मुक्त जीव जीवन्मुक्त होता है। जीव ब्रह्म से भिन्न है अविद्या के नाश और परमानन्द से सम्मिलन ही मोक्ष का स्वरूप है।

जगत की उत्पत्ति और विनाश सम्भव नहीं। उसका रूप तो आविर्भाव और तिरोभाव का है। अनुभव योग्य आविर्भाव है अनुभव योग्य आविर्भाव न होना तिरोभाव है। यह जगत ब्रह्म का क्रीड़ास्थल है।

भगवान की प्राप्ति भक्ति से सम्भव है। ज्ञान केवल ब्रह्म की प्राप्ति करा सकता है भक्ति परब्रह्म का रूप दे सकती है।

वल्लभाचार्य का आधार-मार्ग पुष्टि-मार्ग है। भगवान का अनुग्रह ही पुष्टि का द्योतक है।

भक्ति दो प्रकार से सम्भव है:

(१) मर्यादा-भक्ति—भगवान के चरणारविन्द की भक्ति।

(२) पुष्टि-भक्ति—भगवान के मुखारविन्द की भक्ति।

मर्यादा-भक्ति में फल की अपेक्षा भक्ति की इच्छा होती है पर पुष्टि भक्ति में किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती। मर्यादा भक्ति सायुज्य दिला सकती है। पुष्टि भक्ति पूर्ण मोक्ष दिला सकती है।

पूर्ण मोक्ष ही वल्लभ-सम्प्रदाय का परम लक्ष्य है।

वल्लभाचार्य के ही सामयिक चैतन्य देव ने बंगाल में कीर्तन की रूप रस-माधुरी में जीव और परमात्मा के भावों में एकरूपता लाने का सतत प्रयत्न किया।

भगवान अनन्त गुणों से युक्त सत्य काम सत्य संकल्प सर्वज्ञ अन्तर्यामी है। उनकी तीन शक्तियां है

(१) स्वरूप शक्ति

(२) तटस्थ शक्ति

(३) माया शक्ति

सत् चित् आनन्द से युक्त भगवान का स्वरूप शक्ति सन्धिनी। स्वयं सत्ता धारण कर दूसरों को सत्ता प्रदान करना। संवित् —स्वयं एवं दूसरों को दिया हुआ ज्ञान। ह्लादिनी —स्वयं एवं दूसरों को दिया गया आनन्द रूपों मे प्रस्फुटित होती है। जीवों के आविर्भाव का कारण रूप तटस्थ शक्ति है। माया शक्ति प्रकृति एवं जगत का निर्माण करती है।

चैतन्य-मत मे जगत सत्य है क्योंकि यह ईश्वर शक्ति का केन्द्र है। प्रलय काल मे भगवान के साथ जगत सूक्ष्म रूप में रहता है।

भगवान की प्राप्ति भक्ति से ही सम्भव है। मन की शुद्धि कर्म की शुद्धि से कैवल्य ज्ञान तथा विज्ञान का वरण होता है। ज्ञान सायुज्य-मुक्ति का ही दाता है परन्तु विज्ञान भक्ति रूप में बदलकर भगवान को अपने वश में कर लेता है। उनके ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों रूपों का आनन्द प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी होता है।

इस प्रकार वैष्णव-दर्शन की उपर्युक्त पांच धाराओं ने अपने अन्दर अनेक स्थलों पर अनोखी समता रखते हुये विभिन्नता भी रखी। परन्तु सबका लक्ष्य एक ही रहा।

इस प्रकार उपर्युक्त पृष्ठों में भारतीय-दर्शन की विभिन्न धाराओं का रूप संक्षेप

में दृष्टिगत होता है। भारत की विभिन्न बसन भूमियों के साथ विभिन्न धर्मों एवं धार्मिक अनुष्ठानों का सूत्रपात भी हुआ।

वेद से लेकर वेदान्त तक के श्रौत-दर्शन में सगुण-उपासना यज्ञ अनुष्ठान पशु-बलि आदि की क्रियायें दृष्टिगत होती रहीं। जड़ और चेतन दोनों की पूजा प्रचलित रही।

वेद से वेदान्त तक और आगे चल कर गीता-दर्शन में भारत के धार्मिक अनुष्ठान पूजा पाठ आदि की क्रियाओं में आस्तिक विचार धाराओं में किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं आया। परन्तु इन सब का विरोध चार्वाक जैन और बुद्ध दर्शनों में होता रहा। धार्मिक पाखंडों पशु-बलि का विरोध करते हुये इन नास्तिक-दर्शनों ने एक सीमा तक भारतीय धार्मिक प्रणाली एवं कर्मकांडों को बदल डाला।

जैन एवं बौद्ध के रूप में नवीन धर्मों का जन्म हुआ जिनकी अपनी अलग मान्यतायें विश्वास और कर्म के सिद्धान्त रहे।

षट्-दर्शन शैव-दर्शन एवं वैष्णव-दर्शन पुन भारत की प्राचीन आस्थाओं विश्वासों एवं परम्पराओं को अपने साथ लाये और अपने धार्मिक अनुष्ठानों को परिवर्तित रूप देकर सगुणोपासना के कई रूपों को स्वीकार किया। वैष्णव-दर्शन ने विशेषकर इस क्षेत्र में सक्रिय पग उठाया और वल्लभ-सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों ने तथा चैतन्य देव ने कृष्ण रूप रस माधुरी के सगुण-पक्ष के रूपों की सुमधुर रचनायें प्रस्तुत कीं।

भारत की दार्शनिक विचार धाराओं में देखन में चाहे कितनी बड़ी विभिन्नता दिखाई पड़े परन्तु सभी ने

(१) कर्म सिद्धान्त
(२) दुःख से निवृत्ति
(३) अन्ध विश्वास का हनन
(४) तत्वों का अनुभव

कर के एक ही शाश्वत समस्या का समाधान किया है। पहेली रूप में प्रचलित विश्व के गूढ़तम रहस्यों का आवरण हटा कर उनकी ओर दृष्टि डाली है जिसने दर्शन और धर्म को एक रूप में स्वीकार किया है। दर्शन के साथ धर्म है और धर्म के साथ दर्शन।

भारतीय-दर्शन की अविच्छिन्नता की कम प्रभावोत्पादक नहीं है। तत्व-ज्ञान से विवेचनात्मकता की प्रणाली ने निश्चय ही भारतीय-दर्शन का दिव्य-दृष्टि देकर उसके व्यापक सिद्धान्तों पर अनुभव सहित व्याख्यायें कर जीव-जगत के रहस्यों पर मनन चिन्तन द्वारा निराशा और अकर्मण्यता को दूर भगाया।

व्यावहारिक उद्गम भारतीय-दर्शन की मूल आत्मा है। वर्तमान के प्रति कहीं भी कटु विरोध किसी आस्था का विश्वास नहीं बना। सब ने एक नैतिक अवस्था में

विश्वास किया । कुछ स्थलों पर चार्वाक-दर्शन इसका अपवाद है । कर्म-सिद्धांत के आधार पर मुक्ति-लाभ और मोक्ष भी सभी का उद्देश्य रहा ।

सम्भवतः यही कारण हुआ कि भारत की प्रमुख दार्शनिक मान्यतायें हजारों वर्षों से भारत के साहित्य एवं अन्य सभी ललित कलाओं में प्रस्फुटित होती रहीं ।

प्रत्येक चिन्तक साधक एवं मनस्वी ने भारत की इन दर्शन निधियों से लाभ उठाया और इनके रूप रस माधुरी में डूब कर अपनी कृतियों में उनकी सर्वश्रेष्ठ भावनाओं को उतारा ।

सगुण कवियों ने राम-कृष्ण के पद गान करके इन दर्शन व्याख्याओं को प्रकट किया तो दूसरी ओर निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियों ने शैव वैष्णव में होते हुये झगड़ों को देखकर लाखों-करोड़ों देवी देवताओं की मूर्तियों पर होते हुये वाद-विवाद को देखकर अत्यन्त दुखित हुये और जब अपने नेत्र बन्द कर उन्होंने ध्यान लगाया तो सगुण रूप की अपेक्षा परमपिता परमात्मा के निर्गुण रूप पर ही अपनी भावनाओं का उभार व्यक्त किया जो सगुण-रूप का खण्डन करता हुआ भी कल्याणकारी था । उन सब की कविताओं साखियों एवं पदों में भारतीय दर्शन की मूलभूत भावनायें बोली और उन सब को भी उस दर्शन भूमि से एक दृढ़ प्रेरणाशक्ति का स्रोत मिला जिसने अन्तर के सारे तारों को झंकृत कर दिया और सगुण-रूप से दूर निर्गुण भावों की ओर खींच लाया ।

कबीर दास रैदास दादू सुन्दरदास मलूकदास चरनदास गरीबदास सहजोबाई दयाबाई आदि ज्ञानाश्रयी कवियों एवं कवियित्रियों की वाणी भी भारतीय दर्शन का प्रसाद पाकर उतनी ही कल्याणकारिणी बनी जितनी तुलसी सूर व मीरा की ।

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त-कवियों ने साखियों के रूप में जीव जगत् आत्मा ब्रह्म स्वरूप पर दार्शनिक रूपों में विचार-विनिमय किया है । साथ ही साथ दुःख शोक पीड़ा अवसाद मोह ग्लानि को दूर कर लोकाचार एवं झूठे कर्मकांडों से परे सत्य की आराधना करने में भी अपनी रचनाओं का विकास किया । सर्व साधारण के लिये निर्गुण कवि भारतीय-दर्शन की सहस्रों वर्ष पुरानी चली आने वाली परम्परा के ऋणी हैं ।

निर्गुण धारा के कवियों में श्रेष्ठ कबीर दास जी साक्षर नहीं थे किन्तु उनकी आत्मा से जो भी स्वर साखियों के रूप में निकले उन्होंने विश्व के महान् साहित्यकारों को आश्चर्य में डाल दिया । मूर्तिपूजा लाखों देवी-देवताओं की उपासना जाति भेद मस्जिद-मन्दिर पर कठोराघात करते हुये भी भारत की प्राचीन दार्शनिक परम्परा को ही अक्षरशः पालन किया । इनके लिए हिन्दू-मुसलमानों में कोई भेद नहीं था । जब वे एक ही तो आत्मा है फिर भेद भाव का झगड़ा कैसा ?

ज्ञानाश्रयी कवियों ने गुरु की महिमा का गुणगान खूब किया क्योंकि उनका

विश्वास है कि सम्यसिद्ध बिना गुरु के सम्भव नहीं है। गुरु ही तो साधक को साध्य के पास पहुँचा सकता है। कबीर दास जी के इस कथन में

> गुरु को कीजे दंडवत् कोटि कोटि परनाम।
> कीट न जाने भृङ्ग को वह करि ले आप समान ॥

तथा

> गुरु गोविन्द दोऊ खड़ काके लागूं पाय।
> बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय ॥[१]

और

> गुरु बड़े गोविन्द ते मन में देखु विचार।
> हरि सुमरे सो है गुरु सुमिरे सो पार ॥[२]

यह गुरु-भक्ति एकनिष्ठ की साधना और निष्ठा का प्रतीक है।

भारतीय-दर्शन की सभी चिन्तनधाराओं ने स्वीकार किया है कि भक्त जब परमात्मा को पा लेता है तो उसे बराबर परमानन्द की अनुभूति में अनहद नाद ऐसी ध्वनि सुनाई पड़ती है जिसके आधार से वह परमपिता परमात्मा से साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। कबीर के शब्दों में इस देखिये :

> सुन मंडल में घर किया बाजे शब्द रसाल।
> रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ।[३]

परम पिता से साक्षात्कार करने के लिये अहंकार का दर्प चूर्ण करना चाहिए

> कबिरा गर्व न कीजिए काल गहे कर केश।
> क्या जाने कित मारि है क्या घर क्या परदेश ॥[४]

शरीर क्षण-भंगुर है इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है आत्मा ही महान् है। यह भाव कबीर दास ने इस प्रकार प्रकट किया है

> यह तन काँचा कुम्भ है लिये फिरे था साथ।
> टपका लागा फूटिया कुछ नहीं आया हाथ ॥[५]

परमपिता ही शक्तिमान है अहंकार और गर्व किसका चिरस्थामी रहा है।

---

१ कबीर न स्वतः कहा था कि मसि कागद छूओ नहीं कलम गह्यो नहि हाथ। इसी प्रकार अन्य संत-कवियों में भी स्थिति थी। सन्तो में सुन्दरदास सब से विद्वान् थे।

स बा स भाग १ पृष्ठ २।

३ स बा स भाग १ पृष्ठ ८४।

४ स बा स भाग १ पृष्ठ ८१।

५ स बा स भाग १ पृष्ठ १०२ ।

बड़े-बड़े महान् चिन्तक साधक इस संसार में आये और चले गये। इसलिये अपने अस्तित्व को पहचानो

माटी कहै कुम्हार से तू क्या रौंदै मोहि।
इक दिन ऐसा होइगा मैं रौंदूँगी तोहि॥[1]

अस्तु भक्ति द्वारा इस असार संसार से मुक्ति पाना ही संत-कवियों का चरम लक्ष्य बना

भक्ति नसैनी मुक्ति की संत चढ़े सब आय।
जिन जिन मन आलस किया जनम जनम पछिताय॥[2]

माया सबसे बड़ी बाधक है माया के प्रपंच मे मनुष्य अपनी आत्मा की महानता को खो देता है। माया अविद्या और अज्ञान का ही रूप है। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन मे माया का विशद विवेचन है। सभी प्रमुख दर्शनों में अविद्या माया का ही रूप है। निर्गुण कवियों ने भी भारतीय-दर्शन की इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रक्खा। कबीर के शब्दों में

(क) माया छाया एक सी बिरला जाने कोय।
भगता के पीछे फिरै, सनमुख भागै सोय॥[3]

(ख) माया तो ठगनी भई ठगत फिरै सब देस।
जा ठग या ठगनी ठगी ता ठग को आदेस॥[4]

तथा (ग) माया के झक जग जरै कनक कामिनी लागि।
कहै कबीर कस बाचिहै रुई लपेटी आगि॥[5]

कितना स्पष्ट है कि यदि माया रूपी आग रुई अर्थात् मनुष्य में लग गई है तो वह किस प्रकार बच सकता है।

इसी कारण संत कवियों ने कनक कामिनी निद्रा मिथ्या मद्य मांस से दूर रह कर शाश्वत सत्यता की प्राप्ति ही अपना लक्ष्य बनाया। संसार मे सुख-दुःख दोनों ही हैं परन्तु दुःख की निवृत्ति ही चरम लक्ष्य को प्राप्त कराने में सफल हो सकती है यदि यह समझ लिया जाय

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ १ १ ।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १४-८ ।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ ५७ १ ।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ ५७-२ ।
५ स बा स भाग १ पृष्ठ ५७-६ ।

वेद धरे का भेद है सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान से मूरख भुगतै रोय॥

तो सभी समस्यायें स्वयं ही सुलझ जाती हैं। प्राणी-मात्र सुख दुःख की पीड़ा से दूर, शाश्वत-सत्य और परमानन्द की अनुभूति को अपने में समाविष्ट कर परम-पद का अधिकारी बन बैठेगा।

उपर्युक्त उदाहरण में कबीर की आस्था भारतीय दर्शन-शास्त्र के इतिहास की भूमि बन बैठी है। भारतीय चिन्तन-क्षेत्र में जितना भी कुछ सोचा गया है वह कबीर की वाणी में पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

केवल कबीर ही नहीं वरन् सभी निर्गुण संत-कवियों ने भी वही बातें कही हैं जो हमारे दर्शन-शास्त्र की परम्परायें कहती चली आ रही थीं। भारत की समस्त विचारधाराओं का मूल-स्रोत श्रुति ग्रन्थ ही हैं। संत-कवि श्रोत-दर्शन से पूर्णतया प्रभावित थे या नहीं इसके सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ उन्हें वेद विरोधी मानते हैं और कुछ वेद अनुगामी मानते हैं। इस मतवैषम्य का कारण संतों में पाई जाने वाली उक्तियाँ ही हैं। कहीं पर वेद-शास्त्र की निंदा की और कहीं पर दुहाई देकर उसके प्रति श्रद्धा प्रकट की है। निन्दात्मक उक्तियों को पकड़ कर चलने वाले उन्हें वेद-विरोधी मानते हैं।[१] परन्तु हमें इस ओर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि सन्त-कवियों ने वेद निन्दा की ही क्यों? इसका मुख्य कारण था कि सन्त अन्धानुकरण नहीं करते थे। विचार करने के पश्चात् ही वे किसी बात को सत्य मानते थे। सन्त कबीर के शब्दों में

वेद कतेब कही मत झूठा झूठा जो न विचारी।

संसार का भ्रमजाल इतना दुरूह है कि यहां ज्ञानी भी अज्ञानी हो जाते हैं। प्राणी परमार्थ का त्याग कर स्वार्थपूर्ति में ही लग जाते हैं। इस पर भी झूठ ही वेद-वेदान्त का अर्थ विचारने का ढोंग रचते हैं माया-मोह को नहीं त्यागते हैं।[३] वेदों की उपेक्षा का एक कारण और भी था वेदों का विस्तार संतों न कहा है कि

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ९३।१२।
२ बिहारवासे दरिया साहब की यह उक्ति
  दुबोधक बौचारि चतुर दस वेद मत असमाना।
३ जग के करम बहुत कठिनाई।
  ताते भरमि भरमि बहकाई।
  ज्ञानवन्त अज्ञान होत है बड़े करत सरकाई।
  परमारथ तजि स्वारथ सेवहिं यह की कौनि बड़ाई।
  वेद वेदान्त का अर्थ बिचारहिं बहु बिधि रचि उरझाई।
  माया मोह ममित निस वासर कौन बड़ी सुधराई।
  भीखा साहब की बानी—पृष्ठ २।

बेद बहुत बिस्तार है नाना बिधि के शब्द ।
पढ़ते पार न पाइये जो बीते बहु अब्द ॥[1]

इन्हीं कारणों से सन्तों ने श्रुतियों के प्रति उदासीनता के भाव प्रकट किये हैं परन्तु इसके यह अर्थ नहीं है कि वे उसके प्रति श्रद्धा ही नहीं रखते थे ।

यथार्थ में सन्त-कवि उनकी विचारधारा से प्रभावित थे जैसा कि कबीर की 'बेद कतेब कहहु मत झूठा' वाली उक्ति से स्पष्ट हो जाता है । संत वेदों के प्रति भी श्रद्धा रखते थे । सन्त सुन्दरदास के शब्दों में तो वेद की मान्यता पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है

बेद सार तत्त्व सार लिखित पुरान सार
ग्रन्थन को सार सोई हृदय महि आन्यो है ।[2]

सन्त भीखा ने वेद को प्रमाण मानते हुये लिखा है

प्रगट है वेद वेदान्त सन्त पुनि गुरु ज्ञान मह हेरा ।
भीखा भाव बिना नहिं देखत निकट हि दीप अन्धेरा ॥[3]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-कवि वेद एवं वेदान्त पर श्रद्धा रखते थे और उस विचारधारा से प्रभावित थे ।

वैष्णव विचारधारा के प्रति सन्तों की पूर्ण श्रद्धा थी । वे उससे अत्यधिक प्रभावित हुये थे । अनेक स्थलों पर इन कवियों ने वैष्णवों की प्रशंसा की है । सुन्दरदास ने तो यहाँ तक लिखा है 'सुन्दर विष्णु को भज विष्णु में समाइये'

निर्गुण सन्त-कवि भारतीय दर्शन-धारा की समस्त चिन्तन धाराओं से प्रभावित थे । उन्होंने अपने समय की लोक प्रचलित विचारधाराओं के सारभूत सिद्धान्तों को ग्रहण किया था । अन्य व्यर्थ की बातों को छोड़ दिया था । उनकी आलोचनात्मक उक्तियाँ शेष सिद्धान्तों को ध्यान में रख कर कही गई हैं ।

साखियों एवं 'शब्द' में निर्गुण कवियों ने अपने विचार प्रकट किये और मानव मात्र को चेतावनी देकर सच्चा पथ-प्रदर्शन किया । इनमें भारतीय-दर्शन के मूल-सिद्धान्तों को काव्य-रूप में उतारा गया है ।

(१) गुरु महत्त्व (२) नाम एवं जप महिमा
(३) अनहद-नाद (४) चेतावनी
(५) भक्ति (६) मन
(७) प्रेम (८) विरहाग
(९) दुविधा (१) सामर्थ्य

---

१ सन्त-सुधा-सार—पृष्ठ २१२ ।
२ सुन्दर विलास—पृष्ठ १ ।
३ भीखा साहब की बानी पृष्ठ १७ ।

(११) विनय — (१२) मन-चिन्तन
(१३) साच-असाच का भेद — (१४) भेष
(१५) समदृष्टि — (१६) सहज
(१७) सार एवं असार गहनी — (१८) सूक्ष्म-मार्ग
(१९) सजीवन — (२) मौन
(२१) पारख — (२२) परिचय
(२३) अनुभव-ज्ञान — (२४) वाचक ज्ञान
(२५) उपदेश — (२६) करनी और कथनी
(२७) सत्य — (२८) उदारता
(२९) सहनशीलता — (३) शील
(३१) क्षमा — (३२) दया
(३३) सन्तोष — (३४) धीरज
(३५) दीनता — (३६) विचार
(३७) विवेक — (३८) काम
(३९) क्रोध — (४) लोभ
(४१) मोह — (४२) कपट
(४३) आशा — (४४) तृष्णा
(४५) मन — (४६) आत्मा
(४७) माया — (४८) कनक-कामिनी
(४९) निद्रा — (५) निन्दा
(५१) मांस आहार, — (५२) नशा
(५३) सादा जीवन — (५४) अहंकार
(५५) ब्रह्म — (५६) अद्वैत।

आदि विषयों पर मानव का ध्यान आकर्षित कर मानव-मात्र के लिये सहज ज्ञान से प्रशस्त मोक्ष का मार्ग खोल दिया। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक शाखाओं प्रशाखाओं ने भी उपर्युक्त विषयों पर गहनता के साथ विचार किया है और उचित अनुचित का निर्णय करते हुये मानव-मात्र को दुःख से निवृत्ति का उपदेश देकर मुक्ति मार्ग तक पहुँचाया। ठीक उसी प्रकार निर्गुण-कवियों ने भी भारतीय दर्शन-शास्त्र की शाखाओं एवं प्रशाखाओं में निहित सूक्ष्म सूक्तियों को अपने दृष्टिकोण से ग्रहण कर काव्य में कविता माला का आवाहन करते हुये मानव के लिये मोक्ष का मार्ग खोला। अस्तु, निर्गुण काव्य-धारा की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि में भारतीय-दर्शन की चिन्तन-धारा की अमूल्य थाती निहित है।

निर्गुण-सम्प्रदाय का विकास और प्रसार अनेक पंथों में हुआ। इन पंथों और सम्प्रदायों द्वारा समय-समय पर निर्गुण-ब्रह्म के व्यापक एवं अलौकिक रूप का उपदेश जनता में प्रसारित हुआ। इन पंथों ने पुरोहितवाद जातिवर्ग की संकीर्णता शोषण

और असमानता को दूर करने के लिये भांति भांति से उपदेश दिये और जनता के हेतु एक ऐसे पंथ का मार्ग प्रशस्त किया जहां सब समान एवं महान और एक ही परमपिता की सन्तान थे। इन सम्प्रदायों ने संकीर्णता जातीयता क्षुद्र हीन भावनाओं बाह्याचारों और परम्परा से चली आती हुई परिपाटियों के विरुद्ध डटकर विद्रोह किया। इन पंथों और सम्प्रदायों ने अपने-अपने समय में जनता के अभ्युत्थान और पुनर्निर्माण में आशातीत योग-दान प्रदान किया। इन पंथों और सम्प्रदायों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं

(१) कबीर-पंथ	(२) नानक-पंथ
(३) लाल-पंथ	(४) दादू-पंथ
(५) निरंजनी-सम्प्रदाय	(६) बावरी-पंथ
(७) मलूक-पंथ	(८) बाबालाली-सम्प्रदाय
(९) धामी-सम्प्रदाय	(१) सत्तनामी-सम्प्रदाय
(११) दरियादासी-सम्प्रदाय	(१२) दरियापंथ-सम्प्रदाय
(१३) शिवनारायणी-सम्प्रदाय	(१४) चरनदासी-सम्प्रदाय
(१५) गरीब-पंथ	(१६) रामसनेही-सम्प्रदाय।

अब हम यहां पर इन पंथों एवं सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय और विवरण प्रस्तुत करेंगे

कबीर पंथ

कबीर-पंथ का परिचय देते हुये पं० परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "इसमें सन्देह नहीं कि कबीर साहब के जीवन-काल में ही उनके अनेक अनुयायी बन चुके थे किन्तु फिर भी इतना निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उनकी सहायता से इन्होंने किसी पंथ विशेष के निर्माण का आयोजन भी किया था। सच तो यह है कि कबीर साहब ने सदा एक अत्यन्त सार्वभौमिक धर्म का ही उपदेश दिया था जिसे किसी प्रकार का साम्प्रदायिक रूप देने की आवश्यकता न थी और न उनका कोई पंथ चलाना अथवा उसे संगठित कर उसके प्रचारार्थ अपने शिष्यों को नियुक्त करना कोई अर्थ ही रखता है। उनके शिष्यों में से भी कम से कम एक अर्थात् कमाल उन्हीं की भांति पंथ रचना के विरुद्ध थे जैसा कि हम उनके प्रसंग में दिखा आये हैं।"[१] इतना होने पर भी कबीर-पंथ की स्थापना हुई। कबीर के स्वर्गारोहण के कुछ ही पश्चात् कबीर-पंथ के नाम पर अनेक प्रकार के संगठन हुये। इन संगठनों के तत्वावधान में अनेक तीर्थों में पृथक-पृथक मठों एवं गद्दियों की स्थापना हुई। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उत्तर प्रदेश से लेकर मध्य प्रदेश उड़ीसा गुजरात काठियावाड़ बड़ौदा बिहार तक कबीर-पंथ की अनेक शाखाएं उपशाखाएं

---

१ उत्तरी भारत की संत-परम्परा पृष्ठ २११–२१२।

फैल चुकी थीं। कबीर-पंथियों की ठीक-ठीक संख्या का अनुमान लगाना कठिन है, परन्तु फिर भी कबीर-पंथियों का प्रसार आज भी देश के कोने-कोने में है। यहां तक कि हमारे युग प्रवर्तक महात्मा मोहनदास कर्मचन्द गांधी भी कबीर-पंथी आदर्शों से बहुत अंशों में प्रभावित थे। कबीर पंथ के प्रमुख प्रवर्तकों में सुरत गोपाल विशेष उल्लेखनीय हैं। वे कबीर के शिष्य थे और इन्होंने ही कबीर चौराबासी शाखा को प्रचलित किया था। कबीर चौराबासी शाखा के अतिरिक्त कबीर-पंथ की अन्य शाखा है छत्तीसगढ़ी शाखा जिसके प्रवर्तक धर्मदास थे। इन दो प्रमुख शाखाओं के अतिरिक्त कबीर-पंथ की अन्य शाखाएं भी उल्लेखनीय हैं। ये हैं कटक में प्रचलित 'साहेबदासी-पंथ' काठियावाड़ में वर्तमान 'मूलनिरंजन-पंथ' बड़ौदा का टकसारी-पंथ' मऊँच मे पाया जाने वाला और तत्वाजीवा द्वारा प्रवर्तित 'जीवा-पंथ'।

कबीर-पंथ का प्रारम्भिक क्षेत्र पूर्वी उत्तर-प्रदेश बिहार, उत्कल एवं मध्य प्रदेश की सीमा थी। अपने समय में कबीर-पंथ का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

सिक्ख धर्म या नानक-पंथ

कबीर-पंथ के अनन्तर निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने वाले पंथों में नानक-पंथ या सिक्ख-धर्म विशेष उल्लेखनीय है। इसके संस्थापक गुरु नानक देव थे। इनका जन्म विक्रमीय संवत् १५२६ के वैशाख मास शुक्ल पक्ष की तृतीया को रायभोइ की तलवंडी गांव में हुआ था। गुरु नानकदेव के अनन्तर गुरु अंगद गुरु अमरदास गुरु रामदास गुरु अर्जुनदेव गुरु हरगोविन्द गुरु हरराय गुरु हरकृष्णराय गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द सिंह, वीर बन्दा बहादुर, आदि ने सिक्ख-धर्म के आदर्शों का प्रचार जनता में किया।

सिक्ख-धर्म का विकास अनेक सम्प्रदायों में हुआ। उदाहरणार्थ 'उदासी सम्प्रदाय' सहजधारी 'मयत-पंथी गुलाबदासी सम्प्रदाय निर्मला' 'नामधारी सम्प्रदाय 'सथुराशाही-सम्प्रदाय निरंकारी-सम्प्रदाय' मीना-पंथी' 'रामैया-पंथी' तथा हंदली-सम्प्रदाय।

कबीर-पंथ के अनन्तर नानक-पंथ सबसे व्यापक और बड़ा सम्प्रदाय है। नानक-पंथ संत-मत के सभी सम्प्रदायों में सबसे अधिक सुसंगठित सजीव और व्यापक है।

लाल-पंथ

लाल-पंथ संस्थापक संत लालदास का जन्म संवत् १५९७ में अलवर राज्यान्तर्गत स्थित धोली दूप गांव म हुआ था। वे मेवो परिवार म उत्पन्न हुये थ। लाल-पंथ के अनुयायी अलवर राज्य और उसके निकट प्रदेशों म पाये जाते हैं। इस पंथ के अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लोग हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों का रहन-सहन रीति-रिवाज आचार-विचार हिन्दुओं जैसा है। इस सम्प्रदाय में

'राम' नाम जप और कीर्तन को बड़ा महत्व दिया जाता है। इस सम्प्रदाय में पूजित ब्रह्म को राम ही कहा जाता है। लाल दासी सम्प्रदाय में आचार-शुद्धि विचारों की पवित्रता और रहन सहन के संयम पर बहुत जोर दिया जाता है। लाल पंथी व्यक्ति बड़े सरल स्वभाव और अनुरागी होते हैं।

दादू-पंथ

दादू-पंथ के प्रवर्तक संत-कवि दादू थे। इनका जन्म समय फाल्गुन सुदी बृहस्पतिवार सं० १६०१ माना जाता है। दादू का मृत्यु-स्थान नाराना ग्राम है और नाराना ही दादू-पंथियों का मुख्य तीर्थ-स्थान माना जाता है। दादू-पंथ के स्थापना काल के विषय में पं० परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि 'दादू दयाल अपने देश भ्रमण से लौट कर लगभग सं० १६१ से साँभर में रहने लगे और वहीं पर उन्होंने अपने पंथ के सम्बन्ध में सर्वप्रथम कार्य करना प्रारम्भ किया तथा उसके लिये अपने अपने अनुयायियों की बैठक भी नियम पूर्वक कराने लगे। ये लोग पहले इनके साथ ब्रह्म की उपासना के लिये एकत्र हुआ करते थे और सत्संग से लाभ उठाया करते थे। उनका 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' ही आगे चल कर 'परब्रह्म सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ और उसीको आज तक दादू-पंथ नाम भी दिया जाता है।[1] दादू-पंथ राजस्थान का प्रमुख पंथ है। राघोदास ने अपनी 'भक्तमाल' में दादू के ५२ शिष्यों की सूची का उल्लेख किया है। इनमें से रज्जब छोटे सुन्दरदास गरीबदास हरिदास निरंजनी प्रागदास जगजीवनदास वाजिद जी बनवारी दास मोहन दास संतदास जगन्नाथ दास खेमदास चंपाराम बड़े सुन्दरदास बखना जी माधोदास बालोदास शंकरदास जाइसा टीकम जग्गा जी मिस्कीन दास तथा चतुरभुजी प्रमुख हैं। दादू की विचारधारा पर कबीर दास का प्रचुर प्रभाव है।

दादू-पंथ के महन्त जैतराम के समय से पंथ के भीतर अनेक उप-सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। ये उपसम्प्रदाय थे खालसा नागा उत्तरराढ़ी विरक्त और खाकी।

निरंजनी-सम्प्रदाय

निरंजनी-सम्प्रदाय का मूल-स्थान नाथ-पंथ है। इस सम्प्रदाय का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं उपलब्ध है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि इसका बहुत कुछ प्रभाव उड़ीसा प्रान्त में किसी न किसी रूप में अभी तक वर्तमान है और तालचेर रियासत (उड़ीसा) के मध्य भाग में स्थापित 'निमट्ट' के कतिपय पंथ भी इसके द्वारा अनुप्राणित जान पड़ते हैं।[2] आचार्य क्षितिमोहन सेन का मत है कि निरंजनी-सम्प्रदाय के मत का प्रचार सर्व प्रथम उड़ीसा से प्रारम्भ होकर पूर्व की

---

१ उत्तरी भारत की संत-परम्परा पृष्ठ ४१२-४१६।
२ उत्तरी भारत की संत-परम्परा पृष्ठ ४६०-४६१।

ओर पहुंचा होगा'[1] प्रचलित है कि इसके प्रवर्तक स्वामी निरंजन भगवान निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे।[2] स्वामी निरंजन भगवान का कोई परिचय नहीं उपलब्ध होता है। डाक्टर बड़थ्वाल का मत है कि निरंजन-सम्प्रदाय को नाथ-पंथियों एवं निर्गुण-कवियों के बीच की एक कड़ी मानना चाहिये। निरंजन-सम्प्रदाय के प्रमुख बारह प्रचारक थे। इनके नाम इस प्रकार हैं

लपट्यी जगन्नाथदास स्यामदास कान्हड़दास ध्यानदास पेमदास नाथ जगजीवन तुरसीदास मोनदास पूरन दास मोहनदास और हरिदास।

बावरी-पंथ

निर्गुण-धारा से सम्बन्धित सम्प्रदायों मे बावरी-पंथ का विशेष महत्व है। इस पंथ का विस्तार क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इसका विस्तार क्षेत्र दिल्ली एवं उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले हैं। इस पंथ में अनेक उच्च कोटि के साधक हुये जिन्होने अपने स्वतंत्र सम्प्रदायों को भी जन्म दिया। इस पंथ का भी श्रीगणेश उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले में हुआ था किन्तु इसकी अन्तिम रूपरेखा दिल्ली में निर्मित हुई। इस पंथ के पाँच प्रचारकों ने इसको किसी भी प्रकार से संगठित करने का प्रयत्न नहीं किया। इस पंथ की चतुर्थ प्रवर्तिका बावरी साहिबा थी जिनके नाम पर पंथ का नामकरण हुआ। अनुमानतः ये दादू और हरिदास निरंजनी की समकालीन थी। बीरू साहब यारी साहब केशवदास सूफी शाह हस्नास साहब गोविन्द साहब पलटू साहब इस पंथ के प्रमुख साधक थे। इस पंथ के कवियों ने प्रचुर साहित्य की रचना की। साहित्य के क्षेत्र में दादू-पंथ और बावरी-पंथ के कवियों ने समान रूप से योग दिया है।

मलूक पंथ

इस पंथ के संस्थापक कड़ा (प्रयाग निवासी) मलूक दास थे। जिनका जन्म-संवत् १६३१ वि माना जाता है। इनके भानजे मथुरादास ने 'मलूक-परिचयी' नाम से इनकी जीवनी लिखी थी। इनके गुरु थे विट्ठल दास द्रविड़। इनके प्रमुख शिष्य थे दयालदास कायस्थ सुन्दरदास गोमतीदास मोहनदास पूरनदास और रामदास। मलूक दास के भतीजे रामसनेही उनके अनन्तर गद्दी पर बैठे। रामसनेही के अनन्तर कृष्ण सनेही ठाकुरदास गोपालदास कुंज बिहारीदास रामसेवक शिवप्रसाद गंगाप्रसाद और अयोध्याप्रसाद महन्त हुये।

बाबालाली-सम्प्रदाय

पंजाब-प्रान्त में चार प्रसिद्ध महात्माओं का आविर्भाव हुआ जिनके नाम बाबालाल

---

१ रिलीजियस लिटरेचर आफ इन्डिया पृष्ठ ७।
२ कबीर—डा हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ५२।

थे। बाबालाली-सम्प्रदाय के संस्थापक बाबालाल थे जिनका दारा शिकोह से सम्पर्क स्थापित हुआ था। कहा जाता है कि ये बाबालाल-मालवा प्रान्त में किसी क्षत्री दम्पति से उत्पन्न हुये थे। बाबालाली-सम्प्रदाय के अनुयायियों के मत से इनका जन्म सं० १४१२ की माघ शुक्ल द्वितिया है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सीमा प्रान्त की ओर बहुत संख्या में पाये जाते हैं। बड़ौदा के निकट इनका एक मठ है जिसे बाबालाल का शैल' कहा जाता है। इनका प्रधान केन्द्र पंजाब प्रान्तान्तर्गत गुरदासपुर जिले का धी ध्यान पुर गांव है जो सरहिन्द के निकट है।

धामी-सम्प्रदाय

धामी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक संत प्राणनाथ थे। प्राणनाथ ने हिन्दू-मुसलमानों के धर्म-ग्रंथों का अध्ययन करके उनके सामान्य तत्वों को संगृहीत करके एक नवीन विचार-धारा को लेकर एक नवीन सम्प्रदाय को स्थापित किया जो धामी-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। इस प्रकार के सम्प्रदाय की स्थापना की प्रेरणा इन्हें देवचन्द साधु से मिली थी। प्राणनाथ द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या १४ बतलाई जाती है। इनकी रचनाएं इस प्रकार हैं

राम धन प्रकाश ग्रन्थ' 'षटऋतु' 'कलस सम्बन्ध' 'किरतन' 'खुलासा' 'खेलबात प्रकरण' इसाही' 'गुलहल' सागर सिंगार' बड़े सिंगार' सिंधि भाषा' 'मारफत सागर' तथा कयामत नामा।

सत्तनामी-सम्प्रदाय

डा० बड़थ्वाल के मतानुसार इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक दादू-पंथी जगजीवन दास थे। कुछ विद्वानों का मत है कि इसके प्रवर्तक साध-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक बीरभान थे। अन्य विद्वानों के अनुसार इस सम्प्रदाय का प्रचार जोगीदास द्वारा हुआ। इसकी तीन शाखाएं प्रचलित हैं। प्रथम है नारनौल की शाखा और दूसरी कोटवा की शाखा तीसरी छत्तीसगढ़ी शाखा। सत्तनामी-सम्प्रदाय में अनेक विचारकों और कवियों का आविर्भाव हुआ जिसमें जगजीवन दास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने हिन्दू-मुसलमानों में कोई भेद-भाव नहीं रखा और दोनों को समान रूप से शिक्षा प्रदान की। इनके प्रमुख हिन्दू शिष्य थे दूलन दास देवीदास गुसाईं दास खेमदास तथा उपाध्याय।

दरियादासी-सम्प्रदाय

दरिया नाम से एक ही समय में दो सन्त-कवियों का आविर्भाव हुआ। प्रथम थे मारवाड़ वाले दरिया साहब तथा द्वितीय थे बिहारवाले दरिया साहब। यहाँ पर मेरा तात्पर्य बिहारवाले दरिया साहब से है। इनके पिता उज्जैन-वासी क्षत्रिय मालवा से आकर बिहार प्रान्त में बस गये थे। इनका समय कार्तिक सुदी

चरनदासी-सम्प्रदाय

सन्त चरनदास अलवर राज्य के अन्तर्गत स्थित डेहरा ग्राम के निवासी थे। इनके गुरु का नाम सुखदेव तथा पिता का नाम मुरलीधर था। बाल्यावस्था से ही ये बड़े भक्त श्रद्धालु और सरस हृदय थे। इनके प्रिय शिष्य रामरूप ने इनकी जीवनी बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त की है। 'ब्रज चरित' 'अमरलोक अखंडधाम वर्णन' 'धर्म जहाज' 'अष्टांगयोग वर्णन' 'योगसन्देह सागर' 'ज्ञान स्वरोदय' 'पंचोप निषद्सार' 'भक्तिपदार्थ वर्णन' 'मनविकृतकरण गुटका सार' 'ब्रह्म ज्ञान-सागर' 'शब्द' तथा 'भक्ति सागर' इनकी प्रमुख रचनायें हैं। योग भक्ति और ब्रह्म-ज्ञान से सम्बन्धित इनकी रचनाएं बड़ी हृदयग्राही हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी विरक्त और गृहस्थ दोनों होते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी पीला वस्त्र पहनते हैं गोपी चन्दन का एक लम्बा तिलक ललाट पर धारण करते हैं और तुलसी की माला एवं सुमिरिनी भी अपने पास रखते हैं। इनकी टोपी छोटी एवं नुकीली होती है जिस पर पीला साफा भी बाँध लेते हैं। चरनदास की श्रद्धा गुरु पर अपार थी। वे कहते हैं

राम तजूं मैं गुरु न बिसारूं
गुरु के सम हरि को न निहारूं।

इनके सम्प्रदाय का विशेष प्रचार दिल्ली राजस्थान उत्तर प्रदेश और बिहार प्रान्त है।

गरीब पंथ

इस पंथ के प्रवर्तक सन्त गरीबदास रोहतक जिले की तहसील झज्जर के छुड़ानी नामक गाँव में सं १७७४ की बैसाख सुदी १५ को उत्पन्न हुये थे। प्रसिद्ध है कि बारह वर्ष की अवस्था में जब ये गाय चरा रहे थे उस समय इन्हें कबीर साहब ने दर्शन दिये। गरीबदास ने आजन्म गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया। इन्होंने साधुओं का वेष कभी नहीं धारण किया। इनके देहान्त के बाद इनके प्रमुख शिष्य सलोतजी गद्दी पर बैठे। गरीबदास चरनदासी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक संत चरनदास के शिष्य थे। गरीबदास ने कबीर के प्रति बड़ी श्रद्धा प्रकट की है। इन्होंने परमात्मा को सतपुरुष नाम दिया है। उनकी दृष्टि से वह ब्रह्म निराकार निर्लेप निर्विशेष निर्गुण अकल अनूप अनादि अन्त है। इनके पंथ का विकास और प्रसार पंजाब और दिल्ली प्रान्त म विशेषकर हुआ।

रामसनेही-सम्प्रदाय

सन्त रामचरन का जन्म जयपुर राज्य ढूंढण प्रदेश के सूरसेन गांव में सं १७७६ की माघ सुदी १४ को हुआ था। इनके गुरु का नाम महात्मा कृपाराम था। कृपाराम जी सन्तदास के शिष्य थे जो स्वामी रामानन्द जी के शिष्य अनन्तानन्द

इस्लाम एवं सूफी-दर्शन और उसका योगदान

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे अरब देश के इतिहास मे एक नवीन युग का सूत्र पात हो रहा था। इस नवीन युग के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद थे। मुहम्मद से पूर्व अरब देश अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभाजित था। ये राज्य परस्पर संघर्ष किया करते थे। उनके मध्य राजनैतिक एवं राष्ट्रीय एकता का अभाव था। उस समय अरब देश धार्मिक दृष्टि से भी पिछड़ी हुई एवं अविकसित दशा में था। हजरत मुहम्मद ने अरब की इस ह्रासमान दशा में सुधार किया। उन्होंने सामान्य जनता को बताया कि अल्लाह (ईश्वर) एक है, जो निराकार है। उसका कोई आकार नहीं है, और न जिसकी पूजा के लिये मन्दिर अथवा मस्जिद की ही आवश्यकता है। सब मनुष्यों का वही एक निर्माता है। इसलिए मानव-समाज में भेद-भाव अनावश्यक और अपमानजनक है। इसी कारण इस्लाम के अनुयायियों मे भेद-भाव की भावना के लिए कोई अवकाश नहीं है। इस्लाम मे सब 'बिरादरे-इस्लाम' माने जाते हैं।

मुहम्मद के विचारों का प्रारम्भ में बहुत विरोध हुआ। परन्तु कुछ ही समय मे समस्त अरब मुहम्मद का अनुयायी हो गया। मुहम्मद ने जिस नवीन धर्म का प्रारंभ किया उसे इस्लाम धर्म कहते है। इस्लाम अरबी' भाषा का शब्द है इसका अर्थ 'शांति मे प्रवेश करना' होता है। अत' मुसलमान वह व्यक्ति हुआ जो परमात्मा और मनुष्य के साथ पूर्ण शांति का सम्बन्ध रखता हो। इस प्रकार 'इस्लाम' शब्द का वास्तविक अर्थ होगा वह धर्म जिसके द्वारा मनुष्य भगवान की शरण लेता है तथा अन्य मनुष्यो के प्रति अहिंसा एव प्रेम का व्यवहार करता है।[1] मुहम्मद उसका रसूल है। प्रत्येक मुसलमान जिस प्रकार अल्लाह मे विश्वास करता है वैसे ही रसूल

---

१ मोहम्मद अली—रेलिजन आफ इस्लाम।

कल्याण की भावना का अन्त हो गया था और गुह्य सिद्धियों की प्राप्ति की उत्कंठा हिंदुओं में प्रबल हो गई थी। मानव का मानव के प्रति क्या कर्तव्य है? धर्म का क्या लक्ष्य और स्वरूप है? जीवन का क्या प्रेय और क्या श्रेय है? मनुष्य-जीवन की सार्थकता किस बात और कर्म में है? धर्म मानवता के विकास में कहाँ तक और कैसे सहायता कर सकता है? इन विषयों की पूर्णतया उपेक्षा होने लगी थी। मानव जीवन और साधन में सरलता का स्थान कृत्रिमता ने ले लिया था। धर्म की ध्वजा को फहराने वाला और अपनी स्थिति से लाभ उठाने वाला उच्च वर्ग अपने को निम्न-वर्ग से इस प्रकार से पृथकता का अनुभव करने लगा। मुसलमानों का उत्कर्ष काल ही हिंदुओं की संस्कृति और हिंदू-धर्म के ह्रास या पतन का युग था।

यद्यपि मुसलमान शासक इस्लाम के नाम पर भारतवर्ष पर राज्य कर रहे थे परन्तु सत्य यह है कि उनकी सामाजिक धार्मिक और धार्मिक-नीति का संचालन करने वाले संकीर्णमति उल्मा लोग थे। शक्तिशाली एवं अल्पसंख्यक मुसलमान बहुसंख्यक हिंदुओं पर प्रतिशोध की दृष्टि और प्रतिकार की भावना से राज्य कर रहे थे। वे प्रत्येक समय यही सोचते थे कि उनकी प्रजा काफिर है और उनको उत्पीड़ित करना परम धर्म है। उन्हें तलवार की धार के पार उतार देना पाक काम और गाजी बनने का पहला कदम है। मुसलमान शासक सदैव प्रत्येक कर्म के द्वारा इस्लाम को उन्नत बनाना चाहते थे। यही उनका ध्येय यही उनका कर्तव्य था।

कुरान' इस्लाम-धर्म की दार्शनिक विचारधारा का प्रमुख ग्रंथ है। इसके अनुसार ईश्वर एक है वह बहुत कुछ साकार सा है। वह इस संसार से दूर बहुत दूर छः आसमानों को पार कर सातवें आसमान पर निवास करता है। वह सर्वशक्तिमान और सर्वसामर्थ्य से सम्पन्न है। उसने दुनिया को सिर्फ 'कुन' कह कर अभाव से निर्मित किया है। उसकी कुदरत के प्राणियों में आग से बने फरिश्ते और मिट्टी से निर्मित मनुष्य सर्वश्रेष्ठ हैं। फरिश्तों में से कुछ गुमराह होकर हमेशा के लिये अल्लाहताला के दुश्मन बन गये हैं। ये गुमराह फरिश्ते आदमियों को गुमराह करने की सतत चेष्टा किया करते हैं। इन्हें दूसरे शब्दों में 'शैतान' भी कहा जाता है। इन गुमराह फरिश्तों के सरदार का नाम है 'इब्लीस' जिसका फरिश्ता होते समय नाम अजाजील था। मानव संसार में केवल एक बार जन्म ग्रहण करता है। मनुष्य कुरान के द्वारा विहित और निषिद्ध कर्म करके उसके फलस्वरूप अनन्त काल तक के लिये बिहिश्त या दोजख हासिल करता है। बिहिश्त में खूबसूरत महल अंगूरों के बाग नहर एवं शराब की नहरें हूरें तथा गिल्मान होते हैं। क्षमा सत्य-सम्भाषण चोरी न करना आदि कामों के अलावा नमाज रोजा जकात और हज्ज ये चार मुख्य फर्ज हैं। निषिद्ध कर्मों में बुतपरस्ती शराबखोरी हराम मांस खाना आदि हैं। संक्षेप में यही इस्लामी दर्शन का तत्व है।

इस्लाम दर्शन में अनेक विचारकों और चिंतकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी मौलिक विचारधारा के द्वारा जनता और धर्मानुयायियों का पथ प्रदर्शन किया। इस्लाम के प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं

(१) मोतज़ली-सम्प्रदाय ।

(२) करामी-सम्प्रदाय ।

(३) अशअरी-सम्प्रदाय ।

'मोतज़ली सम्प्रदाय' के प्रमुख आचार्य थे नस्साफ़ नज्ज़ाम (८४५ ई०) जहीज़ (८६९ ई०) मुअम्मर (८ ई०) अबूहाशिम बसरी (९३३ ई०)। इसी प्रकार पूर्वी इस्लामी दार्शनिकों में मुख्य रूप से अबीबुद्दीन राज़ी का उल्लेख आवश्यक है। पूर्वी इस्लामी-दार्शनिकों में अबूयाकूब किन्दी फ़ाराबी बू अली मस्कविया और बू अली सीना का नाम बड़े सम्मान के साथ उल्लिखित होता है। इन चिंतकों और दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से बड़ी मौलिकता के साथ अपने विचारकों की अभिव्यक्ति करके इस्लाम को शक्ति प्रदान की।

सूफ़ीमत

सूफ़ीमत का विकास-मूल इस्लाम धर्म के मूल में सन्निहित है। इस्लाम धर्म ही सूफ़ीमत और सूफ़ी-दर्शन का मूल-स्रोत है। इसके उद्भव एवं विकास के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। सूफ़ीमत के सूक्ष्म-विवेचन और चिंतन के फलस्वरूप इस्लाम से इसका मतभेद स्पष्ट हो गया है। चिंतकों ने सूक्ष्म-विवेचन करके यह स्पष्ट कर दिया कि इस्लाम और सूफ़ीमत की विचारधारा में क्या अंतर है।[1]

किसी मत अथवा दर्शन के उद्भव और क्रमिक-विकास का अध्ययन करने से उसके संबंध में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ दूर हो जाती हैं और उसका सच्चा स्वरूप स्वतः सामने आ जाता है। कुछ सूफ़ी चिंतकों का कथन है कि सूफ़ीमत का आरम्भ में बीज वपन नोह में अंकुर इब्राहीम में कली मूसा में विकास मसीह में परिपाक एवं मुहम्मद में मधु का फलागम हुआ। एक और प्रवाद है कि सूफ़ियों के आठ गुणों का आविर्भाव क्रमशः इब्राहीम इस्हाक़ अयूब ज़करिया यहीमसा ईसा एवं मुहम्मद साहब में हुआ। इसी प्रकार अन्य मत भी प्रचलित हैं। सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं कि सूफ़ी-सम्प्रदाय का उदय सामी विचारधारा से प्रभावित इस्लाम धर्म से है। अब हम सामी जातियों की उस भावभूमि पर विचार करेंगे जिसके गर्भ में सूफ़ीमत का मूल भाव भी सन्निहित पड़ा है।

सामी-जातियों के पूज्य देवता बाल का दैत आदि के मन्दिरों में समर्पित रुग्णाओं का जमघट था।[2] धीरे धीरे ये मन्दिर वासना के केन्द्र बन गए किन्तु यहोवा के अनुयायियों ने इस प्रकार के मादन भाव का विरोध किया। शनैः शनैः इन देवताओं की पूजा तथा सम्मान सर्वत्र की प्रथा कम होती गई किन्तु उसकी अवशिष्ट भावना

---

१ तसव्वुफ़ इस्लाम पृष्ठ ११।

२ रैलिजन आफ़ द सेमिटिक्स

में राबर्ट स्मिथ एम ए एल एल डी पृष्ठ ४५५।

'प्रेम और विरह' को आगे आने वाले सूफियों ने ग्रहण किया। सूफियों की प्रेम भावना का उदय इन्हीं समर्पित सन्तों के माध्यम से हुआ तथा कर्म-काण्डी नबियों के घोर विरोध ने उसे परिमार्जित करके परम प्रेम के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार उसका लोक से कुछ सम्बन्ध ही न रह गया। प्रेम के सुनहरे पंखों पर बैठकर क्षितिज के उस पार जाने का प्रयत्न किया जाने लगा। भक्त सन्तों ने प्रेम को जो अलौकिक रूप दिया उसके मूल में वही रति भाव है जिसको लेकर सूफी साधना के क्षेत्र में उतरे थे।[1] धार्मिक सुधारकों के कट्टर विरोध के कारण उसको कुछ बिम्ब बनाकर जनता के समक्ष रखते थे।

इस्लाम एवं सूफी-दर्शन

इस्लाम-दर्शन में अनेक देवताओं की स्थिति मानी गई है। यह तौहीद का समर्थक है। इसके मतानुसार ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता संहारक एवं रक्षक सभी कुछ है। उसकी इच्छा ही सर्वश्रेष्ठ है। उसके एक शब्द 'कुन'[2] मात्र से सृष्टि की रचना हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लामी दर्शन जीवात्मा परमात्मा और जड़ जगत तीनों को पृथक तत्व मानता है। एकेश्वरवाद का समर्थक इस्लाम परमात्मतत्व की कल्पना स्थूल रूप में एक देव के ही रूप में करता है। कुरान में अल्लाह के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखित आयतों में उसके कर्ता रक्षक एवं संहारक स्वरूप का वर्णन है। इसके साथ ही उसे सबसे महान् भी कहा गया है। संसार की सुन्दरतम कल्पना से भी वह अधिक सुन्दर एवं ऐश्वर्यवान है। अल्लाह तीन शक्तियों सृजन पालन एवं संहार का परिचय कुरान के अध्याय तीस की बीसवीं एवं चौबीसवीं आयतों में मिलता है। अल्लाह के अस्तित्व का संकेत इस बात से मिलता है कि उसने तुम्हारी रचना धूल से की और देखो मानव मात्र कितने अधिक विस्तार में स्थित है।[3] इसी प्रकार सातवीं बावनवें अध्याय में अल्लाह के एकत्व असमानत्व एवं शाश्वतता का वर्णन किया गया है अल्लाह वह है जो केवल एक है शाश्वत है, स्वयम्भू है। उसका कोई पुत्र नहीं है। वह किसी की सन्तान नहीं है। उसके सदृश और कोई नहीं है।[4]

---

१ सन्त-दर्शन—डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित
पृष्ठ ८६ से १ १ तथा पृष्ठ १ ४ से ११५।

२ सूफीमत भी इसे मानता है —
एकै अक्षर कहा कुन केरा।
तिरजा भूमि अकाश बसेरा॥ भाषा प्रेम रस —शेख रहीम।

३ व मिन आयातेही अन खलाकाकुम मिन तुराबिन।
सुम्मा इजा अन्तुम ब शरुन तन्तशेरुन॥

४ कुलहुवल्लाहो अहदअल्लाहुस्समद लम यलिद वलम यू।
ला मयकुन लहू कुफोवन अहद॥

इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह सृष्टिकर्त्ता होते हुये भी नियमों से परे है। कुरान के इन मूल उद्गारों के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि अद्वैत-दर्शन वाली भावना कुरान के एकेश्वरवाद में नहीं है। पैगम्बरी एकेश्वरवाद में सृष्टि एवं अल्लाह की जो पृथकता है उसी के कारण पैगम्बर की महत्ता बताई गई है।

सूफी दार्शनिक-विचारकों ने अल्लाह की सृष्टि से इस पृथकता को सहन नही किया। क्योंकि वह भारतीय अद्वैतवाद की भाँति परमात्मा और आत्मा की एकता में मग्न होना चाहते थे यद्यपि इस्लाम-धर्म के अनुसार यह कुफ्र की बात है। प्रारम्भ मे कुछ सूफियों को इसी एकत्व की भावना 'अनलहक' अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' के कारण मृत्यु दण्ड भी भोगना पड़ा जिससे सूफियों को यह भी स्पष्ट हो गया कि इस्लाम से पृथक रहकर वे अपनी पद्धति को स्थिर नहीं रख सकते हैं।

कुरान में उल्लेख हुआ है कि वही आदि और अन्त है गुप्त और प्रकट है जहां कहीं भी हो तुम्हारे साथ है। कुरान के इस प्रकार के कथनों से सूफियों की उदार भावना को प्रचुर सहारा मिला और उन्होने अपने स्वतंत्र विचारों को 'तनज्जुल' के सिद्धान्त के द्वारा प्रकट किया। तनज्जुल' का अर्थ है 'अवतरण' जिसके अनुसार अल्लाह को सगुण रूप में अवतरित माना गया। अल्लाह के एकत्व से अनेकत्व की स्थिति प्राप्त होने तक सूफियो ने कई स्वरूपो की कल्पना की जिसके कुछ रूप निम्नलिखित हैं

(१) शहूद (चेतना)

(२) नूर (ज्योति)

(३) इल्म (ज्ञान)

(४) वजूद (अस्तित्व)

इन विभिन्न रूपो मे ईश्वर या अल्लाह के स्वरूपो को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। वह्म अव्यक्त होता हुआ भी इन शब्दो के द्वारा व्यक्त किया गया है।

ईश्वर इस संसार के कण कण मे परिव्याप्त है अथवा संसार से परे है इसके सम्बन्ध में सूफी-दर्शन मे पाच मत मिलते है। अधिकांश विचारक इस मत के समर्थक हैं कि ईश्वर संसार से परे रहकर भी उसमे सर्वत्र लीन रहता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक ईश्वरत्व (लाहूत) और मनुष्यत्व (नासूत) को एक ही मान ले। जिस प्रकार शराब और पानी मिलकर एक हो जाते हैं परन्तु वही नहीं हो जाते हैं उसी प्रकार ईश्वर जगत मे व्याप्त अवश्य है परन्तु सीमाबद्ध नहीं है।

अपने ग्रन्थ लावेह' मे जामी ने परमतत्व को दो रूपों में व्यक्त बताया है

(१) वैजे अकदास या तजल्लेयुल (आन्तरिक अभिव्यक्तीकरण)।

(२) फैजे मुकद्दस (बाह्य स्वरूप)।

प्रथम को दूसरे शब्दों में जगत् में व्याप्त बुद्धि-तत्व भी कह सकते हैं। दूसरा बाह्य-स्वरूप है जब वह किसी अवस्था में मूर्त-स्वरूप धारण करता है।

दार्शनिकों ने परम-सत्ता की तीन मुख्य आन्तरिक उद्भावनाओं (बातिनी) की भी चर्चा की है

(१) साविवर्ती भ्रम
(२) विवर्ती भ्रम
(३) विवर्ती भासय

ये क्रमशः उसके अनपेक्ष सापेक्ष एवं वस्तुनिरपेक्ष स्वरूप हैं।

इसी प्रकार सूफी दार्शनिकों ने परमतत्व की कल्पना को क्रमशः एक देववाद से प्रारम्भ कर अद्वैतवाद तक पहुंचा दिया। भारतीय-दर्शन का भी इस पर प्रभाव पड़ा। क्योंकि एकेश्वरवाद मानने वाले इस्लाम से उत्पन्न होकर भी सूफी चिन्तन-धारा में क्रमशः अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत की भावना का समावेश हुआ। सूफी दार्शनिकों ने ईश्वर को शासक संरक्षक एवं संहारक माना साथ ही वे यह भी विश्वास करने लगे कि समस्त सृष्टि में एक ही परम सत्य व्याप्त है। इसी प्रणाली के आधार पर ब्रह्म सम्बन्धी विचारों को सूफियों ने तीन भागों में बांटा। ये तीनों वर्ग निम्नलिखित हैं

(१) इत्तहादिया
(२) वजूदिया
(३) शहूदिया।

'इत्तहादिया' विचार-धारा के अनुयायी ईश्वर का अस्तित्व सृष्टि से भिन्न मानते हैं। अल्लाह या ईश्वर सर्वशक्तिमान है। मनुष्य भय के कारण उससे श्रद्धा कर सकता है पर प्रेम नहीं। सम्भव है कि प्रारम्भिक सूफियों में भय की भावना ही रही हो। उनके लिये ईश्वर का भय ही प्रधान था। इस मत के अनुसार परमतत्व एवं सृष्टि का सम्बन्ध कर्ता और कृति का है। यह मत इस्लाम धर्म की मूल विचारधारा के अनुकूल है। इस कारण सभी मुसलमानों को मान्य भी है।

सूफियों का अधिक सम्बन्ध वजूदिया एवं शहूदिया सम्प्रदाय से है। वजूदिया विचारधारा के अनुयायी उसी एक तत्व को सृष्टि रूप में प्रसारित मानते हैं। शहूदिया सम्प्रदाय वाले ईश्वर को इस सृष्टि में बिम्ब प्रतिबिम्ब की भांति व्याप्त मानते हैं। इस सृष्टि और ब्रह्म में अंग-अंगी का सम्बन्ध न होकर बिम्ब प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखता है उसी प्रकार इस सृष्टि में उस परम-सत्ता का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दूसरे शब्दों में वजूदिया विचारधारा के समर्थकों के अनुसार ब्रह्म और संसार का वही सम्बन्ध है जो सूर्य और सूर्य की किरणों का सम्बन्ध है। शहूदिया विचार धारा के मत में ब्रह्म और संसार का वही सम्बन्ध है या सूर्य और सूर्य के प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध होता है।

सूफीमत का प्रभाव भारतीय मुसलमान शासकों पर भी पड़ना अनिवार्य था। दिल्ली के शासक किसी न किसी सूफी साधक के शिष्य बन जाते थे या उन्हें विशेष सम्मान प्रदान करते थे। देहली पर सूफियों का प्रभाव होने के कारण सूफी मतानुयायी उत्तर भारत में फैल गये और बंगाल तक इन लोगों ने अपने धर्म का प्रचार किया। इतिहास के पृष्ठों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम राज्य के विस्तार के साथ ही साथ सूफियों का भी प्रसार होता गया। कारण कि सूफी-साधकों ने भी अपने को इस्लाम धर्म से अलग नहीं होने दिया। उनका दर्शन कुरान पर ही आधारित था।

अकबर के युग तक सूफीमत प्रेम एवं भक्ति पर आधारित होकर सर्वमान्य हो चुका था। धीरे-धीरे सूफीमत में भारतीय संगीत नृत्य देवोपासना की भावना योगियों के चमत्कारों आदि का भी समावेश होता गया। सूफीमत ने प्रेम की भावना तथा सद्गुणों के आदर्शों से ऐसा अनुरंजित किया कि इस्लाम की कट्टरता क्षीण होती गई।

भारतीय-सूफी कवियों ने सूफीमत म प्रचलित चिंतन भी सिद्धान्त म सभी को थोड़ बहुत रूप में अपनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने शुद्ध हृदय से सदाचार सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुये प्रेमस्वरूप जगत के कण-कण में उस ईश्वर की सत्ता का व्याप्त देखकर उसकी उपासना करना ही अपना ध्येय समझा। इनका उद्देश्य इस दृष्टि से अधिकाधिक सामञ्जस्य एवं समन्वय पूर्ण था।

सूफियों ने ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटाने का प्रयत्न किया। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि जीवन म प्रेम की भावना ही उच्च और प्रधान है। सूफियों के दर्शन म प्रेम की भावना इतनी सरस और मधुर थी कि जनता न उसे बड़े हर्ष और प्रेम के साथ आत्मसात् कर लिया।

मध्य-युगीन-संस्कृति हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का समन्वित रूप है। यह समन्वय साहित्यिक राजनैतिक धार्मिक तथा कला सम्बन्धी क्षेत्रों म स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। फैजी अकबर के उदारवाद का समर्थक था और साथ ही राजकुमारों को शिक्षा भी देता था। अबुलफजल म भी समस्त धर्मों का सार जानने की उत्सुकता थी।

जहाँगीर और शाहजहाँ का ध्यान धार्मिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं की ओर अधिक न था। परन्तु दारा शिकोह (शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र) उदार हृदय था। वह भारतीय धर्मों का गहन अध्ययन करना चाहता था। उसने भारतीय-ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में करवाया। कबीर एवं दादू के शिष्य उसके प्रिय मित्रों में से थे। निर्गुण काव्यधारा के कविता म भी सूफीमत के एकेश्वरवाद का माना है। साथ ही उसकी प्राप्ति के साधना म प्रेम का साधन मुख्य माना है।

सूफी-कवि उदार प्रकृति के थे। इस कारण उनके प्रेमाख्यानों में धार्मिक कट्टरता के दर्शन कम होते हैं। इसके साथ ही उस समय में प्रचलित धार्मिक-सम्प्रदायों का भी प्रभाव सूफी-दर्शन पर पड़ा। अनेक सूफी प्रेमाख्यान म शिव की प्रतिष्ठा है।

सूफी चिन्तनधारा पर वैष्णव भक्ति पद्धति का भी प्रभाव पड़ा। अहिंसा के ये कट्टर पक्षपाती थे। सूफी हृदय की शुद्धि पर विशेष ध्यान देते थे। क्योंकि जब दो विभिन्न धर्मों एवं संस्कृतियों के लोग देर तक एक साथ निवास करते हैं तो उन पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ ही जाता है। अतः हिन्दू-धर्म के युक्ति-युक्त सिद्धान्तों के सामने इस्लाम की कट्टरता दूर होती गई। इसी सत्य को श्रीयुत मौलाना अल्ताफ हुसेन हाली ने इन शब्दों में व्यक्त किया

वह दीने हिजाजी का बेबाक बेड़ा।
निशां जिसका अक्साए आलम में पहुंचा॥
मजाहम हुआ कोई खतरा न जिसका।
न अम्मा में ठटका न कुल्जम में झिझका॥
किये पे सिपर जिसने सातों समुन्दर।
वह डूबा दहाने में गंगा के आके॥

अर्थात् अरब देश का वह निडर बेड़ा जिसकी ध्वजा विश्व भर में फहरा चुकी थी किसी प्रकार का भय जिसका मार्ग न रोक सका था और न जो लाल सागर में झिझका था जिसने सातों समुद्र अपनी ढाल के नीचे कर लिये थे वह गंगा के दहाने में आकर डूब गया।

इन पंक्तियों पर कभी भी किसी ने आक्षेप नहीं किया है। परन्तु हमारे विचार में वह बेड़ा डूबा नहीं वरन् उसने गंगा-स्नान किया जिससे इस्लामी कट्टरता का रंग दूर होता गया और वह इस रंग में रंग गई कि उसे पहचानना भी कठिन हो गया।

इस्लाम पर हिन्दुओं के धर्माचरण का इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि सर्वसाधारण के आचार-व्यवहार में कोई भेद न रहा। यदि विशिष्ट मुस्लिमों के हृदय भी पक्षपात से उपराम हो जाते तो अरबी और फारसी भाषा के स्थान पर हिन्दी और संस्कृत को इस्लामी विचार का माध्यम बना लिया जाता। परन्तु मुसलमान शासकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। वे अपनी संकीर्ण नीति के द्वारा हिन्दू और मुसलमानों के मध्य भेद-भाव की खाई को बढ़ाने में सदैव तत्पर रहे। पंडित और मौलवियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग सन्तों के मार्ग से सर्वथा भिन्न था। संतजन तत्त्वदर्शी होते हैं। इनसे कुछ भी छिपा नहीं रहता है। वे आत्मानुभूति में रमने वाले और दूरदर्शी होते हैं। सन्त कबीर ने भी इस तथ्य पर जोर दिया है

तू तो कहता है पुस्तक लेखी।
मैं कहता हूं आंखों देखी॥

---

१ मुसद्दस हाली—मौलाना अल्ताफ हुसेन हाली।
दामोदर पीताम्बर के कथनानुसार
[illegible]
अर्थात् [illegible] दर्शियों द्वारा देख लिया गया।

तथा सन्त दादू के शब्दों में

जे पहुंचे ते कहि गए तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मत तिनकी एकै बात॥

इसी कारण सन्तों में मतभेद नहीं विद्यमान है। मौलाना रूम की मसनवी में गीता और उपनिषदों के सिद्धान्त के कोष भरे मिलते हैं जब कि उन्हें हिन्दू धार्मिक-साहित्य का बिल्कुल ज्ञान न था। सत-मत के सम्बन्ध में उनका यह कथन है

मिल्लते इश्क अज़हमा मिल्लत जुदास्त।
आशिकां रा मज़हबो मिल्लत खुदास्त।

अर्थात् भक्ति मार्ग सब सम्प्रदायों से भिन्न है। भक्तों का सम्प्रदाय और पंथ तो भगवान् ही है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच।
काम जु आवै कामरी का लै करै कमाच॥

इसी सिद्धान्त पर मुसलमान कवियों ने भी जो उपदेश दिये वे जनता को सर्व मान्य हुये। संत कवियों ने बुद्धिवादिता के सहारे बाह्याडम्बरों का जो खंडन किया उससे हिन्दू और मुसलमान दोनों के विरोधी-तत्वों में सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जिससे समाज में सुधार सम्भव हो सका। सूफियों की रचनाओं पदों तथा मसनवों ने समाज संस्कार में भी सहायता की। सन्तो की चुनौती देने वाली कुछ उक्तियों स्पष्टवादिता और व्यंग्यो से भारतीय जनता के सामाजिक धार्मिक और भावनात्मक दोष तो दूर हुये और उनमे आशा का भी संचार हुआ परन्तु उसमे सरसता के संचार और माधुर्य का प्रसार करने का श्रेय सूफी प्रेमाख्यानकारों को ही प्राप्त है। सूफियों से बहुत पूर्व कबीर ने भी उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुये कहा था

ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।

अन्त में हम यही कहेंगे कि यद्यपि मध्ययुगीन भारत मे राजनैतिक क्षेत्र में विदेशी ही विजयी हुये। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से विजित वर्ग ने ही विजेता को जीत लिया था। राजनैतिक दृष्टि से निर्बल होते हुये भी मध्ययुगीन भारत सांस्कृतिक दृष्टि से पर्याप्त सजीव था। वह उस वृक्ष के सदृश था जो जड़ें काटने वाले को भी छाया प्रदान करता था वह वर्षा आँधी तथा सूर्य की किरणों को सहता हुआ भी सुगन्धित पुष्प तथा सुमधुर फल देता था।

हिन्दी-साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव

मध्य-युगीन जीवन पर इस्लाम का व्यापक प्रभाव पड़ा। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम

परिच्छेद में राजनैतिक सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों का विवेचन करते समय स्थान-स्थान पर इस्लाम के प्रभाव को व्यक्त किया गया है। वास्तव में इस्लाम का मध्ययुगीन जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। मध्ययुगीन हिन्दी कवियों ने फारसी एवं अरबी शब्दों का प्रयोग किया है। कारण कि जो फारसी एवं अरबी शब्द उस समय अधिकतर बोले जाते हैं उनका साहित्य में प्रयुक्त होना बड़ा स्वाभाविक था। काव्य का बाह्य-रूप तो इस्लामी-संस्कृति से प्रभावित था ही आभ्यान्तरिक-रूप भी किसी न किसी रूप में मुसलमान विचारधारा से प्रभावित था। हिन्दी-काव्य के निर्गुण शाखा के कवियों की रचनाओं में अरबी और फारसी भाषा के शब्द प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बहुत दिनों तक साथ रहते-सहते हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर एक-दूसरे के प्रति सहनशीलता और उदारता की भावना का विकास होने लगा। दोनों के हृदयों में एक दूसरे के प्रति मैत्रीता का विकास हुआ। दोनों ने एक दूसरे की संस्कृति रीति-नीति आदान-प्रदान व्यवहार और जीवन को निकट से देखना प्रारम्भ किया। इन दोनों में से एक संस्कृति अत्यन्त प्राचीन लोक एवं परलोक की प्रमुखता देती थी और दूसरी उत्पीड़न के आधार पर उभरी हुई थी जिसका मौलिक विश्वास पृथ्वी के भाग में था। इस कारण इस संस्कृति में भाव की गहराई कम आनन्द भावुकता और जोश का उभार अपेक्षाकृत अधिक था।

गीता में कर्म फल से तटस्थ रहने की शिक्षा दी गई है। हिन्दू इसी कारण बड़े से बड़े दुःख एवं सुख में भी अधिक व्यथा क्षोभ या आनन्द का अनुभव नहीं करता था। हिन्दू विवेक और विचार के द्वारा तत्कालीन धार्मिक एवं लौकिक घटनाओं के समझने का प्रयत्न करता था। परन्तु एक साधारण मुसलमान जीवन के आस्वादन का प्रेमी था इस कारण दुःख से अत्यधिक व्याकुल और सुख में शीघ्रतापूर्वक ही आनन्द की लहरों में डूबने लगता था। हिन्दू जीवन में कर्तव्यपरायणता और त्याग में विश्वास करते थे और मुसलमान उपभोग तथा आनन्द में ही जीवन की सार्थकता मानते थे।

हिन्दू-संस्कृति की तुलना में इस्लामी-संस्कृति नवीन थी। अतः दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि तरुणावस्था की सी भावुकता भी इसमें थी। इस भावुकता ने हिन्दू-संस्कृति में संक्रमण किया और मध्य-युग में जो साहित्य हमारे सम्मुख आया वह फारसी या उर्दू से प्रभावित था। हिन्दी-साहित्य में पहले की अपेक्षा अब अधिक भावुकता थी। यह स्पष्टतया इस्लाम एवं फारसी का प्रभाव था। मुसलमानों में भावुकता आने का कारण था जीवन के प्रत्येक आलोड़न को सत्य मानना।

हिन्दी-साहित्य पर इस्लाम का प्रभाव अत्यधिक भावुकता के रूप में पड़ा। कबीर और मीरा की प्रेमानुभूति में व्यग्रता बोधा और घनानन्द की विह्वलता विद्यापति और सूरदास की भावाकुलता में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दृष्टिगत होता है।

हिन्दी के प्रथम मुसलमान कवि अमीर खुसरो हुये हैं। उनके पश्चात् रहीम विशेष उल्लेखनीय हैं। ज्ञानाश्रयी-शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर के विचारों में हिन्दू-

मुस्लिम समन्वय का भाव अत्यन्त पुष्टता पर पहुँच चुका था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है

जो ब्रह्म हिंदुओं की विचारपद्धति में ज्ञान मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया। उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया।"[7]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कबीर धार्मिक-कवि थे और उनकी दृष्टि भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार सांसारिकता की ओर कम और परलोक की ओर अधिक थी। मानव जीवन को भी उन्होंने महत्व दिया। वह समाज-सुधारक के रूप में भी उल्लेखनीय हैं। उनकी समाज-सुधार से सम्बन्धित कविताओं में प्रचलित बाह्याडम्बरों के प्रति विरोध की ध्वनि थी। किन्तु अपने सिद्धांत का जो अंश उन्होंने सूफियों से लिया वह स्पष्टतया इस बात का पोषक है कि वे इस्लाम संस्कृति से किसी न किसी सीमा तक प्रभावित थे। प्रेम की बेचैनी और विरह की व्याकुलता का जो चित्रण सन्त कबीरदास ने किया उससे हिंदी-साहित्य में एक नवीन परम्परा की स्थापना हुई। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भारतीय एवं सूफियों की भावुकता का सामञ्जस्य कबीर की कविता में हुआ। कबीर के द्वारा स्थापित इन मान्यताओं का पालन अन्य सन्तों ने भी किया।

कबीर की निम्नलिखित पंक्तियों में प्रेम की पीड़ा और प्रेमी के हृदय की जो व्यग्रता वर्णित है उसे देखिये

> अंखियन तो झांई पड़ी पंथ निहारि निहारि।
> जिह्वा तो छाला पड़े नाम पुकारि पुकारि॥

यह भारतीय-साहित्य के लिये नवीन बात थी। इसमें सूफियों की विरहानुभूति का ही प्रभाव है।

सूफियों के दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म से मृत्यु के पश्चात् मिल सकता है। इससे दूसरा सिद्धांत यह निकला कि शीघ्र से शीघ्र मृत्यु को प्राप्त किया जाय जिससे ब्रह्म से मिलन हो। भारत में इसके पूर्व बौद्ध भी जीवन के दीपक को बुझा देने को अपना परम उद्देश्य मानते थे। जैन-साधक तो जीवन-दीप बुझने के पूर्व शरीर को जर्जरित कर देने के समर्थक थे। मृत्यु काम्य है यह बात अभी तक स्पष्ट शब्दों में किसी ने भी नहीं कही थी। परन्तु संत कबीर को जब ब्रह्म वियोग की तीव्र अनुभूति हुई तो उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि मृत्यु त्याज्य नहीं काम्य है

> जिस मरने से जग डरै सो मेरे आनन्द।
> कब मरिहूं कब देखि हूं पूरन परमानन्द॥

भारतीय जीवन में इस प्रकार की विचारधारा को प्रश्रय नहीं दिया जाता था परन्तु इस्लाम या सूफी प्रभाव के कारण इस प्रकार की भावना का विकास हुआ। भक्त कवियों ने जीवन की उपयोगिता भगवान की सेवा करने में ही बताई। उनकी दृष्टि में सेवा के सामने मोक्ष प्राप्त भी तुच्छ था[१] परन्तु निर्गुण संतों पर इसका प्रभाव न पड़ा। वे फारसी के सूफी कवियों से ही अधिक प्रभावित हुये और मृत्यु को काम्य और मोहक बना दिया। यह प्रभाव हम आधुनिक हिन्दी कविता में भी देखते हैं।[२]

इस प्रकार संत-कवि सूफियों के प्रेम की विरहानुभूति एवं प्रिय से मिलन की आकांक्षा से प्रभावित हुये। कबीर ने परमात्मा को पति और अपने को 'बहुरिया' माना है। विरह एवं मिलन की बेचैनियों का भी मार्मिक चित्रण किया जिसका प्रभाव अन्य कवियों पर भी बिना पड़े हुये न रहा :

नैनों की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाइ।
पलकों की चिक डारि कै पिय को लिया रिझाय ॥

इसी परम्परा में आने वाले संत-कवि दादू ने भी इसी भाव को लेकर लिखा है

पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जे जे जैसी ताहि सों खेले तिस ही रंग ॥

सूफी कवियों द्वारा नर-नारी के शारीरिक मिलन से जीव ब्रह्म मिलन की जो उपमा दी गई उसका भी प्रत्यक्ष प्रमाण हमें भारतीय भक्तिधारा में दृष्टिगत होता है। मधुरारिकता का महत्व पुन इसी कारण आया है। परन्तु यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस धारा का आगमन मुसलमानों के पूर्व भी अस्पष्ट में हो चुका था।

---

१ देवा तेरी भक्ति न चाहों मुक्ति न माँगौं
तब जस सुनौं सुनावौं ।

२ कहा करौं बैकुण्ठहिं जाय

ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय।
—परमानन्द दास।

इस असीम तम में मिल कर
मुझको पल भर सो जाने दो।
बुझ जाने दो देव।
आज मेरा दीपक बुझ जाने दो।
—महादेवी वर्मा।

अब यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सूफी काव्य का प्रभाव किस कारण से आया। ज्ञानाश्रयी शाखा के कविता के प्रेम का आलम्बन निर्गुण ब्रह्म था। इसी कारण प्रेम को तीव्र करने का कोई स्पष्ट आधार इन कवियों को नहीं प्राप्त था। अतएव प्रेम भाव की महत्ता का प्रतिपादन करने के लिये इन कवियों ने विरह की अनुभूति पर आश्रित भावों के आधार पर हृदय के कोने कोनों में आग पड़ने और जीव में प्राण पड़ने के माध्यम से यह भी स्पष्ट कर दिया कि जो जीव उसके ऊपर मर मिटे वही अमरता प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार निर्गुण शाखा के कवियों द्वारा इस्लाम एवं हिन्दू-संस्कृतियों का समन्वय हुआ।

—— –

सन्तों के सामान्य-विश्वास

विश्वास धर्म का अभिन्न और अनिवार्य अंग है। धर्म के क्षेत्र में विश्वास की अत्यधिक आवश्यकता होती है। विश्वास और भावना में भी अभिन्नता है। जीवन के विकास एवं धार्मिक-भावना के उत्थान के लिए विश्वास का अपना महत्व होता है। विश्वास एक प्रकार का बल एक प्रकार की प्रेरणा एवं एक शक्ति है। विश्वास की शक्ति के द्वारा अनेक असम्भव कार्य सम्भव और सरल बन जाते हैं। धर्म और विश्वास का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित और अविच्छिन्न होता है। साधना के क्षेत्र में श्रद्धा एवं भक्ति के अनन्तर विश्वास की स्थिति का आगमन हो जाता है। ब्रह्म पर पूर्णरूप से निर्भर रहना ही विश्वास' है। अपने समस्त कष्टों एवं आवश्यकताओं के हेतु ब्रह्म पर निर्भर रहना ही विश्वास है।

भरोसा और निर्भरता विश्वास के आवश्यक अंग हैं। विश्वास का सम्बन्ध भाव जगत से है यह हृदय की वस्तु है। हृदय में श्रद्धा एवं भक्ति के विकसित होने पर ही विश्वास के लिए स्थान होता है। भक्ति में प्रेम का तत्त्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। प्रिय का चिन्तन हम आँख मूँद हमें संसार का विस्मरण करके भी कर सकते हैं और साथ ही श्रद्धा होने पर जागरण अवस्था में भी कर सकते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण। जहाँ प्रेम और श्रद्धा का मिलन होता है वहीं विश्वास का सामाजिक-भाव हमारे मन में आता है। हम अपने प्रेमी पर पूर्णरूपेण विश्वास कर लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वास के निर्माण में श्रद्धा एवं भक्ति आधारशिला है। इसी नींव पर साधक अपनी साधना के भव्य भवन का निर्माण करता है।

विश्वास के तीन प्रकार हैं: मनसा वाचा एवं कर्मणा। पूर्णरूपेण विश्वास तभी किया जा सकता है जब कि मनसा वाचा एवं कर्मणा ब्रह्म में समस्त भावनाओं को केन्द्रीभूत किया जाय। ब्रह्म के प्रति साधकों के विश्वास में हम तीनों ही तत्वों का समावेश रहता है। तभी चित्त में एकाग्रता मन में दृढ़ता एवं भक्ति में बल प्राप्त होता है।

ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्त-कवियों ने विश्वास के विषय में अपने विचारों को साखियों में व्यक्त किये हैं। इन कवियों में विशेष उल्लेखनीय संत कबीरदास[१] दादू[२] मलूकदास[३] सुन्दरदास[४] चरनदास[५] पलटूसाहब[६] एवं गरीबदास हैं।[७] इन सभी सन्तों ने विश्वास का विवेचन सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

निर्गुण-सन्त कवियों ने विश्वास को दो रूपों में ग्रहण किया है। प्रथम व्यक्तिगत विश्वास तथा द्वितीय सामान्य विश्वास। सन्त-कवियों के व्यक्तिगत विश्वास का मूलाधार और प्रमुख सिद्धान्त है कि मनुष्य को ब्रह्म पर सर्वथा निर्भर रहना चाहिये। जिस ब्रह्म ने संसार की सृष्टि की है जो जगत नियन्ता है वह सब का परिपालन किसी न किसी प्रकार अवश्य करेगा। मानव व्यर्थ की चिंता में फँसा रहता है। उदर पूर्ति के लिये मानव जो अनेक प्रकार के अध्यवसाय करता रहता है उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। इसी व्यक्तिगत विश्वास के कारण सन्त-कवि साधारण जनसमूह से ऊपर उठ कर एक ऐसे भाव-जगत में पहुँचे जहाँ से उनके दर्शन करके प्रत्येक मनुष्य सामाञ्चित हो सकता है। सन्तों के व्यक्तिगत-विश्वास के अन्तर्गत उन विश्वासों का उल्लेख किया जा सकता है जिन्हें हम किसी सिद्धांत पर आधारित पाते हैं। इन सन्तों के विश्वास का दूसरा रूप है सामान्य-विश्वास। इनके अन्तर्गत साधारण सामाजिक-जीवन के सामान्य-विश्वासों की परिगणना होती है। सामान्य-विश्वासों को हम तीन वर्गों में ग्रहण कर सकते हैं—दार्शनिक सामाजिक एवं साधनात्मक। अब यहा पर हम सन्तों के दार्शनिक-विश्वासों पर विचार करेंगे।

दार्शनिक विश्वास

निर्गुण संत-कवियों के विश्वास का आधार है व्यक्तिगत-साधना। जिस की

---

१ कबीर क्या मैं चिन्तहूं मम चिन्ते क्या होय।
मेरी चिंता हरि करैं चिंता मोहि न कोय॥

२ मनसा वाचा कर्मना साहिब का वेसास।
सेवग सिरजनहार का करै कौन की आस॥

३ औरन्हि चिन्ता करन दे तू मत मारे आह।
जाके मोदी राम से ताहि कहाँ परवाह॥

४ सुन्दर कहत तोहि बाकी तौ भरोसा नाहिं।
एक विश्वास बिन याही भांति रोइ है॥
बिन कामना करू चाकरी आठौ पहरे तेरी।
मनसव भक्ति कृपा कर दीजै यही मोहि बहुतेरी॥

६ सन्त वचन युग युग अचल जो आवै विस्वास।
विस्वास भये पर ना मिले तो झूठा पलटू दास॥

७ सील संतोष विवेक बुधि दया धर्म इक तार।
बिन गिहचै पावै नहीं साहिब का दीदार॥

वृत्तियों का अहंकारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना असम्प्रज्ञात-समाधि का स्वरूप है। अभ्यास एवं अभ्यास द्वारा इसे प्रौढ़ बना लेना चाहिये। समाधि-योग छः प्रकार का होता है। सन्तों के साधनात्मक विश्वासों के अन्तर्गत हम इसका विशद विवेचन करेंगे। इन सन्त-कवियों ने यौगिक-क्रियाओं पर भी जोर दिया। इस योग-साधना का चरम ब्रह्म प्राप्ति है। ब्रह्म निर्गुण निराकार होते हुये भी सर्वत्र व्याप्त है। उसका नाम स्मरण करके मानव भवसागर से उत्तीर्ण हो सकता है। उसका नाम स्मरण करना ही सबसे बड़ी साधना है। इस प्रकार हम देखेंगे कि निर्गुण संत कवियों के ज्ञान का स्रोत सद्गुरु की ही कृपा है—मानव को ईश्वर की कृपा से ही सांसारिक बन्धनों से छुटकारा मिल सकता है। सभी सन्त-कवियों ने गुरु की महिमा का गान किया है।

सन्तों के दार्शनिक-विश्वासों को देखने से पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाता है कि इनके विश्वासों का महत्व 'स्व' और 'पर' सबके हेतु समानरूपेण है। इनकी दृष्टि में 'स्व और पर' के भिन्न कोई भी भेद शेष नहीं रह जाता है।

सन्तों के विश्वासों का रूप कटुता से परे है। अपनी मधुरता के कारण वह सर्व मान्य हो सका और यही कारण है कि उनकी ब्रह्म की भावना हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिये समानरूप से प्रिय है। साथ ही नाम सद्गुरु आत्मा और जीव आदि क्षेत्र में निर्गुण-कवियों ने किसी का विरोध नहीं किया।

सन्तों का ब्रह्म निर्गुण निराकार, निर्विकार और अद्वैत है। चराचर सृष्टि की लघुतम वस्तु में भी उस ब्रह्म की अनन्त सत्ता का प्रसार है। सभी सन्त अद्वैत-ब्रह्म के उपासक और समर्थक हैं। कबीर दादू नानक मलूकदास सुन्दरदास धरनदास सभी की कविताओं में अद्वैतवाद की भावना प्रधान है।

कबीर की दृष्टि में हिन्दू एवं मुसलमानों में कोई भी भेद नहीं है। एक ही परब्रह्म की सत्ता उसमें प्रसारित रहती है

कहै कबीर एक नाम जपहुरे
हिन्दू तुरक न कोई।[1]

तथा

हिन्दू तुरक का करता एकै
ताकी गति लखी न जाई।[2]

सन्तों का मत है कि संसार का सृजक पालक और संहारक वही एक ब्रह्म है। सन्त मलूकदास के कथनानुसार

सर्वव्यापी एक करतारा
जाकी महिमा और न पारा।

---

१ कबीर-ग्रन्थावली १ ६–१७।
२ कबीर-ग्रन्थावली १ ६–१८।

हिन्दू तुरक का एकै करता
एकै ब्रह्म सबन को भरता ॥[१]

यह ब्रह्म सबके साथ एक सा ही व्यवहार करता है चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। उसमें भेद भाव की प्रवृत्ति ही नहीं रहती है वह हिन्दू एवं मुसलमानों को एक सा ही मानता है।[२] संत सुन्दरदास ने भी सरल शब्दों में इसी भाव को व्यक्त किया है :

ईश्वर एक और नहिं कोई।
ईस सीस पर राखहु सोई ॥[३]

सुन्दरदास के शब्दों में ब्रह्म और जगत मे भिन्नता कहां रह जाती है।

तोहि मैं जगत यह तू ही है जगत माहि।
तो मैं अरु जगत में भिन्नता कहाँ रही ॥[४]

मलूकदास के अनुसार इस जगत का कर्ता एक ही है, फिर दूसरे की कल्पना करना व्यर्थ है :

एक जगत का एकै करता।
दूसर ब्रह्म कहाँ है रहता ॥[५]

जिन साधकों ने एक ही ब्रह्म की साधना की है उनकी साधना सफल है

एक एक जिन जाणियाँ तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौलीन मन ते बहुरि न आया ॥[६]

सन्त कबीरदास तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :

केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना।

इसी एक की ही शरण में रहना चाहिए। यह सब कुछ सम्भव कर सकता है। आग में गिरने को सुरक्षित रख सकता है। उसकी कृपा से तूफान में दीपक जलता

---

१ शब्द-संग्रह।

२ पारब्रह्म सब समकरि जानै
हिन्दू तुरक एक करि मानै।
शब्द-संग्रह।

३ सुन्दर-ग्रन्थावली भाग १ पृष्ठ २१९।

४ सुन्दर-ग्रन्थावली भाग २ पृष्ठ ६४९।१४।

५ सन्त कबीरदास ने भी कहा है :
दुइ जगदीश कहाँ से आये
कहु कौन भरमाया।

६ कबीर-ग्रन्थावली पृष्ठ १२९–१८१।

७ कबीर-ग्रन्थावली पृष्ठ १९८–१४४।

८ अग्नि माहि सुत राख बचाई।
चरन दासै।

रह सकता है राई को पर्वत कर सकता है। यह सब उस ब्रह्म की ही सामर्थ्य है। ऐसे ब्रह्म की उपासना का उपदेश इन निर्गुण संत-कवियों ने दिया।

नाम

निर्गुण सन्त-कवियों ने 'नाम' की महिमा का बड़ा गुणगान किया है क्योंकि साधना के क्षेत्र में नाम-जप का अपना एक विशेष महत्व होता है। श्रीमद्भागवत में लिखा है जिस प्रकार सूर्य तम तथा प्रचंड वायु बादलों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं उसी प्रकार नाम-कीर्तन समस्त पापों को विध्वंस कर देता है।[1] कलियुग में नाम महिमा का बहुत ही महत्व है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।[2] विवश होकर भी नाम का उच्चारण करने वाला मानव भव-बन्धन से मुक्ति पा जाता है।

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥[3]

अध्यात्म रामायण' के मतानुसार हरिनाम का स्मरण करने वाला मानव भी हरि में लीन हो जाता है।[4] गीता में भी स्पष्ट शब्दों में यही विचार व्यक्त हुये हैं

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्य युक्तस्य योगिनः॥[5]

इसी कारण कहा जाता है कि जिसकी जिह्वा पर ब्रह्म का नाम रहता है वह श्वपच भी महान् है

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥[6]

---

१ संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनम् हि पुंसाम।
प्रविश्य चित्तं विधुनोत्यशेषं
यथा तमोऽर्कोऽभ्रमिवातिवातः।
श्रीमद्भागवत १२ १२ ४७।

२ हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नाम केवलम्
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।
नारद-पुराण १।४१।११५।

३ श्रीमद्भागवत १।१।१४।

४ अध्यात्मरामायण (अर का) ७।१९।

५ गीता ।१४।

६ श्रीमद्भागवत ३।३३ ७।

निर्गुण सन्त-साहित्य देखने से यह ज्ञात होता है कि नाम की महिमा का गान सभी सन्तों ने किया है। सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर से लेकर छोटे से छोटे निर्गुण संत-कवि के नाम के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा एवं विश्वास प्रगट किया है। कबीर दास के अनुसार नाम ही आदि और मूलवस्तु है। समस्त वेद और मंत्र इसी से उत्पन्न हुये हैं। बिना नाम का ध्यान किये हुये सभी भवसागर में डूब कर विलीन हो गये हैं।

> आदि नाम सब मूल है और मन्त्र सब डार।
> कहैं कबीर निज नाम बिनु, बूडि मुआ ससार ॥

यह नाम सभी घटों म समा रहा है।[२] इस राम नाम का पान करते ही समस्त रोग दूर हो जाते हैं[३] शरीर के समस्त विकार दूर हो जाते हैं।

परन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि निर्गुण संत कवियों का ब्रह्म नाम रूप जाति और वर्ण से रहित है। वह अगम और अगोचर है उसकी शक्ति एवं स्वरूप मानवीय कल्पना से उच्च एवं विस्तृत है। फिर भला उसका वर्णन कौन कर सकता है? इस प्रकार की भावना रखते हुए भी उन्होंने ब्रह्म को प्राकृत और गुणकारी बताया है। उनकी रचनाओं में राम और निरंजन आदि नाम बारम्बार आये हैं। दीनानाथ दीनदयाल आदि शब्दों द्वारा ब्रह्म के गुणों का प्रकाशन किया गया है। कबीर के राम समस्त जगत म व्याप्त हैं व दीनदयाल दीनबन्धु हैं जो सभी का पालन-पोषण करते हैं। बिना उनके स्मरण किये इस भवसागर से निकला नहीं जा सकता है। इस नाम के सदृश संसार में कोई अन्य पदार्थ या तत्व नहीं है। सुन्दरदास के शब्दों में प्रस्तुत भाव देखिये

> राम नाम जाके हिये ताहि नवें सब कोय।
> ज्यों राजा की सबसे सुन्दर अति डर होय ॥[४]

सन्त चरनदास ने नाम को समस्त धर्मों से श्रेष्ठ माना है

> सकल सिरोमन नाम है सब धरमन के माहिं।
> अनन्य भक्ति वह जानिये सुमिरन भूले नाहिं ॥

चरनदास के मतानुसार नाम की महिमा बड़ी विशाल है। नाम सारतत्व है। नाम से विमुख और मदों में उलझा व्यक्ति कभी भी साधना में तल्लीन नहीं हो

१ सन्त-बानी-संग्रह भाग १ पृष्ठ ४।२।
२ पावक रूपी नाम है सब घट रहा समाइ।
३ राम नाम मिसरी पिये दूर जाहि सब रोग।
स बा स भाग १ पृष्ठ १ ८।४।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ १ ८।१।
५ " बा स भाग १ पृष्ठ १८८।१।

सकता है।[1] राम का नाम जीवन की प्रत्येक दिशा प्रत्येक गति और प्रत्येक काम में समाहित कर लेना चाहिये।

नामहि लें जल पीजिये नामहिं लेकर खाहु।
नामहिं लेकर बैठिये नामहि लें चल राहु॥[2]

वेद शास्त्रादि का सारतत्व जप नाम ही है

चार वेद किये व्यास ने अर्थ विचार विचार।
तामें निकसी भक्ति ही राम नाम ततसार॥[3]

अतएव राम नाम-जप करना ही जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिये।[4] अन्त में राम नाम की महिमा का गान करते करते जब सन्त चरणदास थक गये तो उन्होंने कहा

सभी निचोरे बहुत हूं भक्ति करो निष्काम।
कोटि तपस्या यही है मुख सूं कहिये राम॥

सुन्दरदास ने भी नाम जप को समस्त कर्म कांडों और धर्म में श्रेष्ठ माना है

नाम बराबर तौलिया तुलै न कोऊ धर्म।

सुन्दरदास के मतानुसार नाम का जप बड़े गोपनीय एवं शान्त ढंग से करना चाहिये

काहू को न दिखाइये राम नाम की वस्तु।
सुन्दर बहुत जतन करि ढाँई तेरे हस्त॥
हृदय में हरि सुमिरियैं अन्तर्यामी राहु।
सुन्दर नीके जतन सों अपनी वित्त छिपाइ॥[6]

नाम भी प्रत्येक घट में सर्वदा व्याप्त है

---

१ कई बार जो यज्ञ करि योग करैं चित लाय।
चरन दास कहै नाम बिन सभी अफल ही जाय॥
भक्ति-विवेक पृष्ठ १ ५।

२ भक्ति-विवेक पृष्ठ १८६।

३ भक्ति-विवेक पृष्ठ १ ५।

४ भक्ति विवेक पृष्ठ १ ६।

५ भक्ति-विवेक पृष्ठ १८९।

६ सुन्दर-ग्रन्थावली भाग २ पृष्ठ ६७६।
सहजो बाई ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है
सहजो सुमिरन कीजिये हिरदे माहिं दुराय।
होठ होठ सैं ना हिलैं सकै न कोई पाय॥

नाम न रटा तो क्या हुआ जो अन्तर है हेत ।
पतिव्रता पति को भजै मुख से नाम न लेत ।।[1]

मलूकदास के शब्दों में राम नाम देखन में अत्यन्त लघु है परन्तु उसका महत्त्व महान है। वह मानव के कोटिन पर्वत पापों को नष्ट कर देता है —

राम नाम एकै रती पाप के कोटि पहाड़ ।
ऐसी महिमा नाम की जारि करैं सब छार ।।[2]

मलूकदास के मतानुसार वही पुत्र सुपुत्र है जो राम का भक्त है और वही माता सुन्दरी है, जिसका पुत्र राम नाम से प्रेम रखता है।

सोई पूत सपूत है जाहि नाम सों हेत ।

तथा

सोई माता सुन्दरी जहाँ भक्त औतार ।[3]

राम नाम का बड़ा व्यापक तथा गम्भीर प्रभाव पड़ता है।[4] राम नाम के स्मरण मात्र से सभी भेद भाव नष्ट हो जाते हैं और सांसारिक वस्तुएँ निस्सार प्रतीत होने लगती हैं। शिव ब्रह्मा तथा सनकादि भी राम-नाम की महिमा का वर्णन नहीं कर सकते हैं।[5]

इसी प्रकार दूलनदास सहजोबाई गरीबदास पलटू साहब दरिया साहब आदि ने भाँति भाँति से नाम-महिमा का गान किया है।

सहजोबाई ने हर प्रकार के कष्टों को सहन करते हुये भी नाम जप का उपदेश दिया है

भूख सहै सहजो कहै सहै सीत औ घाम ।
पर्वत बैठी तप करै, तो भी जपियो नाम ।।[6]

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ४१।११।

२ मलूकदास जी की बानी पृष्ठ ३१।

३ मलूक दास की बानी पृष्ठ ३७।
गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी लिखा है
सुखनी पुत्रवती जग सोई रघुबर भक्त जासु सुत होई ।

४ सकल वस्तु के भेद मिटाना । कंचन काँच न एक समाना ।।
भक्ति-विवेक ।

५ राम नाम की हरि भक्तिन के आदि ।
बरनत पार न पावहिं शिव विरंचि सनकादि ।।
भक्ति-विवेक ।

६ स बा स भाग १ पृष्ठ १५५।४ ।

सन्तकबीर दास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि नाम को न जानते हुये राम का जप व्यर्थ है। क्योंकि नाम के अभ्यास से ही सतगुरु ईश्वर के दर्शन होते हैं

राम नाम सब कोई कहै नाम न चीन्है कोय।
नाम चीन्हे सतगुरु मिलै नाम कहावै सोय ॥[१]

गरीबदास के अनुसार

अगम अनाहद भूमि है जहाँ नाम का दीप।
एक पलक बिछुरै नहीं रहता नैनों बीच ॥[२]

नाम के स्पर्श मात्र से मन रूपी लोहे का मैल दूर हो जाता है और वह स्वर्णवत चमकने लगता है।[३] नाम सूर्य के समान प्रकाशवान है और भ्रमों का नाश करनेवाला है। नाम के प्रभाव से आवागमन से प्राणीमात्र मुक्त हो जाते हैं। संत दादू ने तो कोटिश विकारों का नाशक नाम बताया है

राम नाम निज औषधि काटै कोटि विकार।[४]

दयाबाई ने स्पष्ट रूप से कहा है कि हरि को भजने से स्वयं ही हरिमय हो जाता है

दया दास हरि नाम लै या जग मैं यह सार।
हरि भजते हरी ही भयो पायो भेद अपार ॥[५]

सहजों ने नाम को नाव हरि को केवट और संसार को भवसागर माना है।

दया नाव हरि नाम की सतगुरु खेवनहार।
साधू जन के संग मिलि तिरत न लागै बार ॥

पलटू दास तो उन सन्तों की पनही की धूल तक बनने के आकांक्षी है जो राम नाम का उच्चारण करते है

राम नाम जोहि उच्चरै, तेहि मुख देहु कपूर।
पलटू तिनके नफर की पनही का मैं धूर ॥[६]

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ४।४।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १८४।७।
३ आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया छूटल बंधन मोह ॥
४ स बा स भाग १ पृष्ठ ७१।७।
५ स बा स भाग १ पृष्ठ १६८ २।
६ इसी भाव से साम्य रखने वाले गोस्वामी तुलसीदास जी की ये पंक्तियाँ देखिये
तुलसी जाके मुखन ते धोखेहु निकरहि राम।
ताके पग की पैतरी मेरे तन को चाम ॥

मध्यकाल में नाम उपासना की प्रधानता थी। महंत स्वामी मंगलदास के शब्दों में

'मध्यकाल के सभी सन्तों ने चाहे वे निर्गुण निरंजन के उपासक हों या सगुण के नामोपासना का प्रचलता दी है और सभी ने नाम के महत्व को स्वीकार किया है इस तरह नाम निर्गुण से बड़ा है'[१]

निर्गुण संत-कवियों को नाम पर पूर्ण विश्वास था। इसी विश्वास पर उन्होंने अपने जीवन का दृष्टिकोण ही बदल दिया था और नाम की महिमा का गान करते रहे। नाम की भौतिक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के जीवनों में उपयोगिता है।

आत्मा

भारतीय-दर्शन के अनुसार आत्मा अजर-अमर है। शरीर क्षय एवं विनाश को प्राप्त होता है परन्तु आत्मा नहीं। शरीर अनित्य और असत्य है परन्तु आत्मा ज्ञान स्वरूप नित्य सत्य और अविनाशी है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा अजन्मा नित्य शाश्वत और पुरातन है। यह शरीर के साथ विनष्ट नहीं होती है

> न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥[२]

माण्डूक्योपनिषद् के मतानुसार

> सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा।
> मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥[३]

आत्मा ही दिव्य-शक्ति है। वह उसी समय तक ज्ञाता भोक्ता एवं कर्त्ता होती है जब तक चित्त के साथ उसका सम्पर्क रहता है। नित्यता और सनातनता ही आत्मा की विशेषता है। गीता में कहा गया है कि जीवात्मा प्रकृति में ही रहकर उसके गुणों का भोग करती है और अच्छे एवं बुरे शरीरों में जन्म उसके विविध गुणों के संग वश ही होते हैं।[४] परमात्मा जीवात्मा का निरीक्षक है और वही जीवात्मा में व्याप्त है। आत्मा से ही मन बुद्धि चित्त और अहंकार का आधार प्राप्त होता है।

---

१ श्री दादू दयाल जी की बानी भूमिका।
सम्पादक-स्वामी मंगलदास।

२ कठोपनिषद् १।२।१८।

३ माण्डूक्योपनिषद् ८।

४ प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
गीता अध्याय १३। २१।

निर्गुण सन्त-कवियों ने भी आत्मा के विषय में अपने विचारों को प्रगट किया है। उनके मतानुसार आत्मा सब घटों में निवास करती है

सूरज ब्रह्म अकाश में माया भूमि परकास।
किरन जीव यह आतमा सब घट कीन्हे बास ॥[1]

यह आत्मा ही उस परब्रह्म का स्वरूप है।[2] आत्मा की भी अपनी एक स्थिति है। परब्रह्म के समान ही आत्मा के भी स्वरूप एवं आकार का अनुमान लगाना दुष्कर है यह भी उसी परब्रह्म के समान ही इस संसार में व्याप्त है।[3] मलूकदास ने तो आत्मा को आकाश से भी अधिक विस्तृत और व्यापक माना है

है आकासहु ते बड़ी ऐसो आतम जान।

आत्मा मुक्ति स्वरूप है प्रकाशवान है इसी कारण निर्गुण सन्त-कवियों ने आत्मा को परब्रह्म की किरण रूप में माना है।

अज्ञानी मानव माया के बन्धनों में बंधकर अपने में ही स्थित अपनी आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं करता है। वह वन-वन ब्रह्म की खोज में भटका करता है। उस ब्रह्म का सत्य रूप जो कि उसके हृदय में ही स्थित है उसकी ओर ध्यान नहीं देता। आत्मा तो अजर-अमर है शरीर नष्ट हो जाता है पर आत्मा नष्ट नहीं होती। जैसे बादल नष्ट हो जाते हैं पर आकाश नहीं नष्ट होता है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के नष्ट हो जाने पर स्वयं नष्ट नहीं होती है।

सन्त मलूकदास के शब्दों में देखिये

नहिं आतम जनमै मरै।
जाहू काल न बूड़ै तरै ॥
जैसे घन घट नास ते नाहिं नसै आकास।
तैसे देहन के नसे नाहिं कछु तासो नास ॥

यह आत्मा निष्कलंकित है परन्तु जिस प्रकार एक अच्छा ब्राह्मण बुरे व्यक्ति के सम्पर्क में आकर स्वकुल की मर्यादा को खोता है उसी प्रकार आत्मा भी नीच कर्मों में लीन शरीर के सम्पर्क में आकर मलिन प्रतीत होती है।[4]

निर्गुण सन्त-कवियों ने आत्मा को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया है। सार तत्व प्रकाश अमर पंछी चेतना चुम्बक कमल प्राण अजर अविनाशी आदि

---

१ सन्त बानी संग्रह भाग १ पृष्ठ २१८।२१।
२ जैसी देखी आतमा तैसे सालिगराम।
३ जीव आदि ना अन्त है कहत हैं बेद बखान।
४ किरन जीव नहिं आतमा।
5 Philosophical V ws of Malukdas Sunderdas and Charandas
by Dr T N Dikshit V l I P 304

शब्दों का प्रयोग आत्मा के लिए किया गया है। कहीं-कहीं पर उसे ब्रह्म या ब्रह्म के निवासस्थान के रूप में ग्रहण किया गया है।

सन्त कबीर दास के शब्दों देखिये

कस्तूरी कुंडल बसे मृग ढूंढे बन माहिं।
ऐसे घट में पीव है दुनिया देखे नाहिं॥

तेरा साईं तुज्झ में ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूंढे घास॥

सब घट मेरा साइयां सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा घट की जा घट परगट होय॥

ज्यों तिल माहीं तेल है ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में जागि सके तो जागि॥

पावक रूपी साइयां सब घट रहा समाय।
चित चकमक लागै नहीं ता तें बुझि बुझि जाय॥[1]

इसी प्रकार मानव उस ब्रह्म को अन्यत्र ढूंढ़ता फिरता है और अपने ही हृदय में स्थित उस ब्रह्म को पहचानने की चेष्टा नहीं करता है। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्गुण सन्त-कवियो ने बारम्बार इस ओर ध्यान दिलाया है कि आत्मा सर्वव्यापी और अविनाशी है देह नाशवान है। जब देह के पांचों तत्व निकल जाते हैं तब आत्मा उसका परित्याग कर देती है। मलूकदास ने स्पष्ट शब्दों म कहा है कि जो देह और आत्मा को एक कहता है, उससे बड़ा अज्ञानी और कौन है?[2] देह अनित्य है और आत्मा अमर है[3]। शरीर और आत्मा की भिन्नता को निर्गुण सन्त कवियो ने बारम्बार स्पष्ट किया है। शरीर की महत्ता शोभा एवं दिव्य शक्ति आत्मा ही है। आत्मा के निकलते ही शरीर के समस्त कार्य समाप्त हो जाते हैं। सुन्दरदास के शब्दों में प्रस्तुत भाव देखिये :

सुन्दर देह परी रही निकसि गये जब प्रान।
सब कोऊ यों कहत है अब लै जाहु मसान॥

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ही शरीर का सौन्दर्य है शरीर की क्रियाशीलता का एक मात्र कारण आत्मा ही है। शरीर की क्रियाशीलता का रहस्य प्राण ही है। प्राण के सतर्क स शरीर उसी प्रकार गतिशील बन जाता है जैसे चुम्बक

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ३२।

२ देह आतमा एक कहै तासो कौन अज्ञानी।

३ देह अनित्य आपु नित जान।
   जाको नाम कहै है ज्ञान॥

के स्पर्श से लोहा उसकी ओर खिंचने लगता है।[1] सुन्दर दास ने तो शरीर की उपमा उद्यान से और आत्मा की माली से दी है

सुन्दर पानी सींचतो क्यारी अंकुर के हेतु ।
चेतन माली चलि गयो सूखी काया खेत ।। [2]

यह आत्मा ब्रह्म का अंश है वह स्थिर और अमर है :

ना यह उपजै बीनसे ना कबहुं मरमाया ।
अंश ब्रह्म का होय रहै ना आवै न जाय ।। [3]

यह आत्मा नित्य अविनाशी और दिव्य-शक्ति है। सभी संत कवियों ने आत्मा की महत्ता का उल्लेख करते हुये उसे विभिन्न आदरसूचक शब्दों से सम्बोधित किया है। कबीर दास[4] चरनदास[5] मलूकदास[6] सुन्दरदास[7] तुलसी साहब सहजो बाई[8] गरीबदास[9] आदि सभी ने इस बात की बारम्बार आदेश दिया है कि आत्मा

---

१ चुम्बक सत्ता कर जथा लोहा नृत्य कराइ ।
सुन्दर चुम्बक दूर हुवै चंचलता मिटि जाइ ।।
सुन्दर देह हलै चलै चेतनि के संजोग ।
चेतनि सत्ता चल गई कौन करै रस भोग ।।

सुन्दर-ग्रन्थावली भाग २, पृष्ठ ७१
'देह विछोह को अंग'।

२ सुन्दर-ग्रन्थावली देह बिछोह अंग ।

३ भक्ति-सागर—चरन दास ।

४ पावक रूपी साइयां सब घट रहा समाय ।
चित चकमक लागे नहीं ताते बुझि बुझि जाय ।। (कबीरदास)

५ सूक्ष्म शरीर आतमा भिन्न लखै नहिं कोय ।
यही जो मन की गांठ है खुले मुक्ति ही होय ।। (चरनदास)

६ जैसे दूध माहि घृत होई । चतुर बिबेकी जाने कोई ।।
देह माहि तैसे आतमा जतन तै प्राप्ती होई ।
बिना जतन कछु नाहि ना कहत संत सब कोई ।। (मलूकदास)

७ सुन्दर अन्दर पैसि करि दिल में गोता मारि ।
तौ दिल ही में पाइये साँई सिरजन हारि ।। (सुन्दरदास)
यह अज्ञानी जीव की क्या कर सक अजान ।
अपनी बुद्धि विकार की करै न मन पहिचान ।। (तुलसी साहब)

८ सुरिया इक रत आत्मा इन तै परै निहार ।
इन्द्री मन गहि ना सकै सहजो तत्त अपार ।। (सहजो बाई)

९ दिल के अन्दर दरश ज्यों देवल में देव ।
हर दम साक्षी भूत है करो तासु की सेव ।। (गरीब दास)

को पहचानने की चेष्टा करो। इस आत्म-ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। आत्मा उस परब्रह्म में लीन हो जाती है:

> जल में कुम्भ कुम्भमें जल है बाहर भीतर पानी।
> फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथ्यो गियानी॥
>
> (कबीरदास)

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण संत-कवियों की आत्मा के संबंध में जो विचारधारायें हैं उनमें बहुत साम्य है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के सम्बन्ध में जो विचार प्रगट किये गए हैं उनका आधार भारतीय दर्शन है।

सद्गुरु

भारतीय-संस्कृति में गुरु की महिमा का गान परम्परा से होता चला आया है। गुरु का स्थान भारतीय-समाज में बहुत उच्च है। गुरु ही धर्म एवं समाज को सत्य-पथ पर संचालन करने वाला होता है। गुरु ही माता-पिता है और यहां तक कि गुरु ही ईश्वर है उसकी सेवा मन वचन एवं कर्म से करनी चाहिये। उसकी कृपा से सभी वस्तुएं सुलभ हो जाती हैं।

> गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो न संशय।
> कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते॥
> गुरु प्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभ मात्मनः।
> तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत्॥[1]

यदि हम हिन्दी-साहित्य की ओर दृष्टिपात करें, तो हमें ज्ञात होता है कि आदि काल से लेकर नाथ-सम्प्रदाय तक गुरु के गुणगान के कम ही उदाहरण मिलते हैं। सिद्ध और जैन कवियों के काव्य में गुरु की महिमा का खूब गान हुआ है। पग-पग पर गुरु की आवश्यकता की ओर ध्यान दिया गया और उसके पथ प्रदर्शन पर बारम्बार प्रकाश डाला गया।[2] निर्गुण सन्त-कवियों ने भी सद्गुरु की भूरि भूरि महिमा गाई है। सद्गुरु अपूर्ण को पूर्ण बनाने वाला और ब्रह्म-तत्व को प्रकाशित करने वाला है। इसी कारण सन्त कबीरदासने गुरु को गोविन्द से भी बड़ा बताया है

> गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पांय।
> बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय॥

इस साखी से कबीर की दूरदर्शिता का पता चलता है। गुरु किसी न किसी मार्ग से मुक्ति दिला ही सकता है। गुरु से तटस्थ हो जाने पर किस का सहारा

---

१ घेरण्ड संहिता ११ १४।

२ हिन्दी काव्यधारा श्री राहुल सांकृत्यायन पृ १७।

ग्रहण किया जा सकता है ? कौन उस संकटपूर्ण स्थिति में सहायक होगा।[1] तुलसी दास ने तो गुरु का ही भजन करने का उपदेश दिया है। क्योंकि उन्होंने गुरु को ही शंकर विष्णु और ब्रह्ममय माना है। सब शक्तियां गुरु में ही विद्यमान हैं।

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु हैं गुरु शंकर गुरु साथ
तुलसी गुरु गोविन्द भजु गुरुमत अगम अगाध ॥

गुरु की महिमा ब्रह्म से भी उच्च है। वह भी पत्थर को पारस और मिट्टी को सोना बना देता है। चरनदास के मतानुसार तीनों ही लोकों में अर्थात् आकाश पाताल एवं पृथ्वी में कोई भी शक्ति सद्गुरु की समानता नहीं कर सकती है। उसके नाम के स्मरण मात्र से समस्त पाप धुल जाते हैं और ध्यान करने से ध्यानी भी हरि सदृश ही हो जाता है।

गुरु समान तिहुं लोक में और न दीखै कोय।
नाम लिये पातक नसै ध्यान किये हरि होय॥

सन्त पलटूदास ने तो गुरु को समस्त देवताओं का देवता माना है।[3] इस कारण वही सबसे बड़ा भक्त है जो अपने गुरु की सेवा करता है[4] गुरु की चार पल की सेवा हरि की सौ वर्ष की सेवा से अधिक महत्व रखती है।

हरि सेवा कृत सौ बरस गुरु सेवा पल चार।
तो भी नहीं बराबरी बेदनो कियो बिचार॥[5]

गुरु की ही कृपा से इस भवसागर से छुटकारा प्राप्त हो सकता है। सन्त मलूक दास के कथनानुसार

बीती बाजी गुरु प्रताप ने माया मोह निवार।
कहै मलूक कृपा ते उतरा भव जल पार॥

---

१ कबीर ते नर अन्ध हैं गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहिं ठौर॥
संत-दर्शन संतों के सद्गुरु' परिच्छेद

२ (अ) इसी प्रकार सुन्दरदास ने भी गुरु के रूप में ही ब्रह्म का आभास लिया है :
सुन्दर सतगुरु ब्रह्ममय पर सिष की समदृष्टि।
मूखो और न देखिई देखै दर्शन दृष्टि॥
(ब) दयाबाई के अनुसार भी गुरु ब्रह्म ही है
सद्गुरु ब्रह्म स्वरूप है मनुष भाव मत जान।
देह भाव मानै दया ते हैं पशू समान॥

३ सब देवन को देव"।

४ "पलटू वा है भक्ति जो सद्गुरु अपना सेव।

५ चरन दास जी की बानी पृष्ठ ।

पारस[1] आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें गुरमा शब्द का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त 'जहाज' तथा बोहट शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। इन सभी शब्दों द्वारा सद्गुरु की उद्धारक शक्ति का परिचय मिलता है।

गुरु की कृपा का फल बड़ा कल्याणकारी है। उनकी कृपा से यश प्रेम सुख और मुक्ति सभी कुछ मिल जाती है। क्षण मात्र मे उसके प्रभाव से जीव ब्रह्म बन गया

बलिहारी गुरु आपने तन मन सदके जांव।
जीव ब्रह्म छिन में कियो पाई भूली ठाँव॥

सन्त चरनदास भी उनकी कृपा से जगत की व्याधि से छुटकारा पा गए और राग-द्वेष की भावनायें मिट गई।

गुरु के ही परताप सूं मिटै जगत की व्याध।
राग दोष दुख ना रहे उपजे प्रेम अगाध॥[2]

इस प्रकार सद्गुरु की कृपा से फल के विषय मे सभी सन्तकवि एकमत हैं। कबीर तो सद्गुरु की कृपा से ही अपने को गौरवान्वित समझते थे

ज्ञान समागम प्रेम सुख दया भक्ति विश्वास।
गुरु से वाले पाइये सतगुरु चरन निवास॥
गुरु मिला तब जानिये मिटा मोह तन ताप।
हर्ष शोक व्यापै नहीं तब गुरु आपै आप॥

सारांश मे हम यही कह सकते हैं कि संसार की दृष्टि में सद्गुरु और ब्रह्म भले ही भिन्न हों और दो प्रतीत हों परन्तु निर्गुण सन्त कवियो ने उनमे कोई भेद नहीं देखा है। सन्त कबीर ने रामानन्द म लोहे को स्वर्ण म परिवर्तित कर देने की शक्ति का अनुभव किया। सुन्दरदास ने भी सन्त दादू मे उसी दिव्य शक्ति को पाया। इस निस्सार संसार मे सद्गुरु के समान कोई भी उदार व्यक्ति नहीं है।

गुरु का निन्दक सदैव आवागमन के चक्र मे फंसा रहता है

गुरु निन्दक नहिं मुक्ति गर्भ फिर आवई।
चौरासी लखि भुक्ति महा दुख पावई॥
(चरनदास)।

---

१ सतगुरु पारस रूप है हमरी लोहा जात।
पलक बीच कंचन करै पलटै पिंड गात॥
(गरीब दास)।

२ स बा स भाग १ पृष्ठ १४२।

३ स बा स भाग १ पृष्ठ १४।२।

परन्तु इसके साथ ही सद्गुरु का मिलना दुष्कर है यह भी ईश्वर की असीम कृपा से ही मिलता है।

सतसंग

सन्त कवियों का पूर्ण विश्वास है कि सत्संग से क्षणभर में ही जीवन सुधार सकता है। इसीकारण वे सदैव सज्जन व्यक्तियों के साथ सत्संग करने का उपदेश देते हैं और दुर्जनों से दूर रहने का आदेश देते हैं। सन्त कबीरदास के मतानुसार सन्तों की संगति व्याधियों का हरण कर लेती है।

> कबीर संगत साध की हरै और की व्याधि।
> संगत बुरी असाध की आठौ पहर उपाधि ॥[१]

कबीर के मत से साधु की संगत जौ की भूसी खाकर भी करनी चाहिये

> कबीर संगत साध की जौ की भूसी खाय।
> खीर खांड भोजन मिले साकठ संग न जाय ॥[२]

यही नहीं जो सुख साधु की संगति में मिलता है वह बैकुण्ठ में भी नहीं मिलता है

> राम बुलावा भेजिया दिया कबीरा रोय।
> जो सुख साधू संग में सो बैकुण्ठ न होय ॥[३]

सन्तों का सत्संग पर बड़ा अटूट विश्वास था। कबीरदास उस विश्वास को प्रगट करते हुए कहते हैं

> एक घड़ी आधी घड़ी आधी हूं से आध।
> कबीर संगति साध की, कटै कोटि अपराध ॥

कबीर दास जीवन में सत्संग के अतिरिक्त और किसी बात के अभिलाषी नहीं थे

> रिद्धि सिद्धि मांगौं नहीं मांगौं तुम पै येह।
> निस दिन दरसन साध का कह कबीर मोहि देय ॥[५]

---

१ स बा स भाग पृष्ठ १।२।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १।१।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ १।७।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ १।११।
५ स बा स भाग १ पृष्ठ १।५।

इस प्रकार सन्त दादू[१] मलूकदास[२] सहजोबाई[३] दयाबाई,[४] आदि ने भी साधुओं की संगति को श्रेष्ठकर बताया है। सन्त गरीबदास के मतानुसार पंडित और ज्ञानी तो संसार में अनन्त है पर साधु-सन्त बिरले ही होते है

पंडित कोटि अनन्त हैं ज्ञानी कोटि अनन्त।
श्रोता कोटि अनन्त हैं बिरले साधू सन्त॥

सज्जन व्यक्तियों का सत्सग प्राप्त होते ही सुख का अनुभव होता है

जिन्ह मिलत सुख ऊपजै मेटे कोटि उपाध।
भुवन चतुरदस ढूंढिये परम सनेही साध॥

ऐसे ही सन्त व्यक्तियों की संगति करनी चाहिये

संगत कीजै साध की संसारी मतकंत।
पिंजर मुआ बसत है किस क बूझै पंथ॥[५]

इस प्रकार निर्गुण सन्त कवियों ने बारम्बार सज्जनों का सत्सग करने का उपदेश दिया है। इतना ही नही उन्होंने दुष्ट एव दुर्जनो के हृदय एव क्रिया-कलापो का अच्छा वर्णन किया है। सन्तों और असन्तो के स्वभाव में आकाश और पाताल का जो वषम्य रहता है उसे स्पष्ट शब्दो मे भी उन्होंने व्यक्त किया है। सन्त दूसरों की चिन्ता से चिन्तित रहते है, तो असन्त दूसरो को मिटा देने की चिन्ता मे व्यस्त रहते है। एक अपना अस्तित्व मिटाकर भी दूसरो को सुख पहुचाना चाहते है तो

---

१ साधू जग ससार में पारस परगट माह।
दादू के ते ऊबरे, जेते परसे आइ॥
साध मिले तब ऊपजै हिरदे हरि का हेत।
दादू संगति साध की कृपा करै तब देत॥

२ जहा-जहा बच्छा फिरै तहा-तहा फिरै गाय।
कहै मलूक जहा सत जन तहाँ रमैया जाय॥

३ साध मिले दुख सब गये मंगल भये शरीर।
बचन सुनत ही मिट गई जनम जनम की पीर।

४ साध संग ससार मे दुरलभ मनुष सरीर।
सत संगति सू मिटत है त्रिविध ताप की पीर॥
सत संग छिन एक को पुन न बरन्यो जाय।
रवि उपजै हरि नाम सू सब ही पाप बिलाय॥

५ स बा स भाग १ पृष्ठ २ ११।

दूसरे जन्म के अहित में ही सुख प्राप्त करते हैं। कबीर[1] दादू[2] मलूकदास[3] सुन्दर दास[4] गरीब दास[5] तुलसी साहब[6] आदि ने जहाँ सत्संग को अच्छा बताया है वहीं दुर्जन व्यक्तियों के स्वभाव का भी विस्तृत विवेचन किया है। दुर्जन व्यक्ति मुख से कुछ कहते हैं और करते कुछ हैं। सुन्दर दास कहते हैं

सुन्दर कबहु न कीजिये सरस दुष्ट की बात।
मुख ऊपर मीठो कहै मन में घालै घात॥

इसी कारण दुर्जन व्यक्ति सतत् त्याज्य व्यक्ति हैं। कारण कि काली कमली पर दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता है

कमरी के रंग ना चढ़ै कोटिक नहीं सपेद।

(गरीब दास)

सारांश में हम यही कहेंगे कि निर्गुण सन्त कवियों ने सत्संग को ही अच्छा माना है। यद्यपि सत्संग भी भगवान की कृपा बिना नहीं प्राप्त हो सकता है।[7] इसी कारण सन्त कबीर ने घर घर के लिए भी साधु की संगति का महत्व बताया है।

सन्तो के सामाजिक-विश्वास

सन्तों ने सत्य क्षमा दया त्याग विश्व-बन्धुत्व विनय समता समदृष्टि करनी और कथनी समान दीनता आदि सामाजिक-विश्वासों के द्वारा समाज को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया। वर्गभाव को मिटाकर उदात्त विश्व-बन्धुत्व का एकछत्र साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा की। प्रस्तुत ग्रन्थ के 'सन्तों की सामाजिकता' परिच्छेद में इन विचारों को पूर्णतया स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर हम संक्षेप में सन्तों के सामाजिक विश्वासों की ओर दृष्टिपात करेंगे।

---

१ जाति कुलि नाता नहीं करै झूठ में मेर।
साधो संगति है प्रभु सपनेहु मनि दूर॥ (कबीर)।
दादू रूप दिखाइए विरहिन बिन करि संग।
मन का अवगुण करि लिया ताही का गुन देह॥ (दादू दयाल)।
३ बसति हरि हैं सेन हैं ता ते पार न और।
धर मलूक नेहि जीव के तीन ताप नहिं ठौर॥ (मलूक दास)
४ सुन्दर-ग्रन्थावली पृष्ठ ४४।
५. स बा स भाग १ पृष्ठ १।
६ स बा स भाग १ पृष्ठ २१५।
७ बिनु सत्संग विवेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
रामचरित मानस-गोस्वामी तुलसीदास

सत्य

सत्य को निर्गुण सन्त-कवियों ने ब्रह्म का ही रूप माना है। इसी कारण सन्त कबीरदास सत्य की महत्ता का उल्लेख करते हुए कहते है :

सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै सांच है ताके हिरदै आप॥

कबीर दास की भाँति ही गरीबदास भी ब्रह्म को सत्य का पर्याय मानते है।

साचे का सुमिरन करो झूठो क्यों जजाल।
सांचा साहिब आप है झूठ कहत सब काल॥[२]

मानव का सदैव सत्यता का ही व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि ईश्वर को सत्य ही प्रिय रहता है। कबीर के मतानुसार साचे का सांचा मिले अधिका बडै सनेह'। इसलिये मानव को सत्य ही बोलना चाहिये।[३] दादू तो सच्चे के वैभव का वर्णन करते हुए लिखते है।

साचे का स हिब धनी समरथ सिरजनहार॥
पाखड की यहु पिर्थमी परपच का संसार।[४]

सच्चे व्यक्ति का दर्शन कर लेने के पश्चात् गगा नहाने की कोई आवश्यकता नही रहती है। कबीरदास सत्य म सलग्न व्यक्ति को काल के प्रभाव से परे मानते है

साचे स्राप न लागई साचे काल न खाय।
साचे को सांचा मिले साचे माहि समाय॥[६]

निर्गुण सन्त-कवियों की यह सत्यप्रियता उनकी सात्विकी प्रवृत्ति का परिचय कराती है।

झूठा सब ससार है सांचा है सो एक।
पार ब्रह्म सत्य कर पद सब न सुधा की टेक॥

---

१ संत दादू के यह विचार कबीर से साम्य रखते है
    'जाके हिरदे सांच है ता हिरदै गुरु आप'।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ २ ३।३।
३ साई से सांचा रहु मो साई सांच सुहाइ।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ ६४।८।
५ साचे जिनके उर बसै झूठ कपट नहि भय।
    तिनका दरसन म्हान है यह परसी फिर संग॥
६ स बा स भाग १ पृष्ठ ४९।४।

क्षमा

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में व्यक्त राजनैतिक धार्मिक सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि मध्य युग चतुर्दिक अशान्ति दुर्व्यवस्था और विषमता का समय था। इस युग में सामाजिक जीवन में अशान्ति व्याप्त थी और चारों ओर षड्यन्त्र एवं विद्रोह हो रहे थे। निराश्रय जनता को कुचल डालना शासक-वर्ग के लिये हंसी-खेल के समान साधारण काम था। इस युग में प्रतिहिंसा की ज्वाला में मानवता दग्ध हो रही थी। मानव एक दूसरे के रक्त का प्यासा हो रहा था। ऐसे समय में क्षमा का उपदेश देकर निर्गुण सन्त-कवियों ने समाज को सुधारने का प्रयत्न किया। क्षमा जैसे महान् गुण की महिमा का गान उन कवियों ने जनता में उदारता का भाव प्रसारित किया। कबीर ने क्षमा में ब्रह्म के औदार्य और उदात्त गुण के दर्शन किये।

जहाँ छिमा तहँ आप [१]

कबीर दास ने समझाया कि छिमा बड़ेन को चाहिये छोटन को उतपात। कहा बिस्नु को घटि गयो जो भृगु मारी लात॥[२] क्षमावान व्यक्ति में ही सहन शक्ति होती है।[३] वही संसार में अच्छे कार्य कर सकता है। इस कारण सदैव क्षमा गुण को धारण करना चाहिये।

दया

तेरहवीं शताब्दी से अट्ठारहवीं शताब्दी तक होने वाले अत्याचारों का वर्णन हम राजनीतिक परिस्थिति के अन्तर्गत कर चुके हैं। उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उस समय शासक-वर्ग के हृदय से दया का भाव दूर होता जा रहा था। साथ ही जनता भी उसके प्रभाव के कारण कठोर हृदय हो रही थी। दया का भाव विलीन हो रहा था। तभी सन्त-कवियों ने दया भाव को धारण करने का उपदेश किया। सन्तों ने दया को ही सबसे बड़ा धर्म माना। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बताया कि देह का धर्म यही है कि उससे दूसरों को कुछ लाभ हो।[४] दया का महत्त्व भाव करते हुए सन्त दादू का कथन है कि

---

१ स० बा० स० भाग १ पृष्ठ ५ ।२।
स० बा० स० भाग १ पृष्ठ ५ ।१।
३ कुटिल बचन साधू सहै और सो सहा न जाय।
४ देह धरे का गुन यही देह देह कछु देह।
बहुरि न देही पाइये अब की देह सो देह॥

सारांश में हम यही कहेंगे कि निर्गुण सन्त कवियों ने दया जैसे महान गुण को धारण करने का उपदेश देकर जनता को सुधारने का प्रयत्न किया।

काम क्रोध, मद मोह एवं लोभ

सन्तों ने पंच महाविकारों को सामाजिक-जीवन के लिये अभिशाप स्वरूप माना। ये पंच-महाविकार व्यक्तिगत या व्यष्टि और समष्टि दोनों के जीवन के लिये अभिशाप के रूप में हैं। जीवन को विषम बनाने में इनका प्रमुख योगदान रहता है। ये मनुष्य की मति को भ्रष्ट करके निम्नातिनिम्न कार्यों में नियोजित करते हैं। इसी कारण कवियों ने जीवन को समुन्नत बनाने के लिये इनको परित्याग करने का उपदेश दिया। जीवन की प्रत्येक दिशा इन दुष्प्रवृत्तियों से अछूती रहे यही मानव-जीवन की सार्थकता है और साधना के लिये अग्रसर मनुष्य को इनके संस्पर्श से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। सन्तों ने इसी हेतु इनकी अत्यधिक निन्दा की है। सन्तों के प्रतिनिधि कवि कबीर ने इनकी कटु आलोचना करते हुये कहा है कि

कामी क्रोधी लालची इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करै कोई सूरमा जाति बरन कुल खोय॥

क्रोध के सम्बन्ध मे विचारों को प्रकट करते हुये कबीर ने कहा

कोटि करम लागे रहै एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया जब आया अहंकार॥

मद मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है इस मद की आलोचना करते हुये कबीर ने कहा

कबिरा गर्व न कीजिए काल गहे कर केस।
ना जाने कित मारि है क्या घर क्या परदेस॥
तथा कबिरा गर्व न कीजिए कबहु न हँसिये कोय।
अबहूं नाव समुद्र में ना जाने का होय॥

मोह और लोभ के सम्बन्ध मे इसी प्रकार कबीर ने अनेक सुन्दर उपदेशात्मक उक्तियों की रचना की। लोभ औ मोह सबके लिए बड़े प्रबल शत्रु हैं। ये क्षण-भंगुर जीवन को और भी अधिक असारपूर्ण तथा अनस्थिर बना देने वाले तत्व हैं। मोह और लोभ के सम्बन्ध मे कबीर की निम्नलिखित साखियां विशेष रूप से पठनीय हैं

सलिल मोह की धार में बहि गये गहरि गभीर।
सुच्छम मछरी सुरत है चढ़िहै उलटे नीर॥

जब मन लागा लोभ से गया विषय में सोय।
कहै कबीर विचारि कै कस भक्ती घन होय॥

इसी प्रकार सभी सन्त-कवियों ने मानव की निम्न प्रवृत्तियों की आलोचना की और ऐसा कल्याणकारी पथ दर्शाने का प्रयत्न किया जो सबके लिए समान रूप से हितकर और कल्याणकारी है।

विश्वबन्धुत्व

मध्ययुगीन समाज जातिगत धर्मगत एवं समाजगत भेदभावों से अभिशप्त था। हिंदू-मुसलमान का भेद-भाव ऊंच-नीच की भेद भावना अन्त्यज और कुलीन का भेद भाव ऐसे तत्व थे जो सामाजिक-जीवन में विष के बीजों का वपन कर रहे थे। मध्ययुगीन सामाजिक-परिस्थितियों का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय जनता का जीवन प्रतिकार प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की प्रचंड लपटों में भस्म हो रहा था। महत्वाकांक्षा की पूर्ति के हेतु भाई-भाई का पुत्र पिता का हनन और व्यक्ति समाज के समस्त नियमों का उल्लंघन कर रहा था। तत्कालीन जीवन विषमताओं की एक विस्तृत गाथा है। इसीलिए संतों ने विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रसार करने के लिए बार बार कहा कि व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। एक ही आत्मा सबके हृदय में समाई हुई है। फिर भेदभाव कैसा ?

समता

निर्गुण सन्त-कवियों ने समदृष्टि का भी उपदेश दिया है। साधु पुरुष समदृष्टि वाला होता है। समदृष्टिवान के लिए, ऊंच नीच धनी निर्धन हिन्दू-मुसलमान किसी से भी भेदभाव नहीं होता। सब एक ही ब्रह्म की कृतियां हैं। जैसे कुम्हार की कृतियों में अन्तर नहीं है उसी प्रकार मानव-मानव में अन्तर नहीं है। समदृष्टि में समता की भावना आती है। वह सब जीवों में एक ही आत्मा देखता है

समदृष्टी सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहं देखौ तहं एक ही साहिब का दीदार॥
समदृष्टी तब जानिये सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा लखै एक सी सोय॥

समता की भावना का उपदेश देकर कबीर के समान ही अन्य सन्त-कवियों ने उस समय की सामाजिक विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न किया।

करनी और कथनी

निर्गुण सन्त कवि करनी और कथनी के समन्वय में विश्वास करते थे। वे पर उपदेश कुशल बहुतेरे' व्यक्तियों में नहीं थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य को कोरा

उपदेशक नहीं बन जाना चाहिये। मनुष्य जो कुछ कहे उसे कार्यरूप में परिणत करके दिखाना चाहिये। इन सन्त-कवियों ने जनता के सम्मुख कथनी और करनी का साम्य प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। केवल कथन मात्र से ही कार्य नहीं होता जब करनी ठीक होगी तभी वह कार्य हो सकता है

कथनी मीठी खांड सी करनी बिष की लोय।
कथनी तजि करनी करै तो बिष से अमृत होय ॥[1]

सन्त दादू स्पष्ट शब्दों में करनी और कथनी के साम्य का उपदेश देते हुये कहते हैं कि जो कहते कुछ और करते कुछ हैं, उनसे मेरा जी डरा करता है। न जाने वे क्या करके असम्भुमन समुपस्थित कर दें

दादू कथणी और कुछ, करणी करैं कछु और।
तिन थें मेरा जीव डरै जिनके ठीक न ठौर ॥[2]

सन्त-कवि कथनी में ही विश्वास नहीं करते थे। कारण कि केवल कथनी के द्वारा लक्ष्य की पूर्ति दुष्कर होती है। परन्तु मनुष्य दूसरों को उपदेश तभी दे सकता है, जब वह स्वतः क्रियाशील हो। सन्त-कवि स्वयं ही इस दिशा में क्रियाशील थे। तभी स्पष्ट शब्दों में कहने में समर्थ हो सके कि

जैसे मुखते नीकसै तैसी चालै चाल।
तेहि सतगुरु निमरे रहै पल में करै निहाल ॥

इसलिए कथनी को तज कर करनी की ओर ही विशेष ध्यान देना चाहिये

कथनी करनी छाड़ि के करनी से चित लाय।
नरहिं नीर प्याये बिना कबहुं प्यास न जाय ॥

चरनदास के मतानुसार करनी और कथनी में समन्वय स्थापित कर चलने वाला सन्त स्वतः ही बहुज्ञात हो जाता है जो केवल बम्भवश कथनी में ही पड़े रहते हैं, वे काल-कवलित हो जाते हैं और उनका नाम-निशान भी शेष नहीं रहता है

बहु सिक्ख करनी बिना कथि कथि कर मूये।
सन्तों कथि करनी करी हरि के सम हुये।

कोरी कथनी इसी प्रकार है जिस प्रकार बांझ स्त्री पालना झुलाती हो और उसमें बालक न हो

बांझ झुलावै पालना बालक नाहिं माहीं।
वासु बिहीना जानिये जहं करनी नाहीं ॥

---

१ स बा सं भाग १ पृष्ठ ५।३१।
२ स बा सं भाग १ पृष्ठ ८ ।११।

कार कथन से कुछ नहीं हो सकता। जैसे केवल दिया तेल एवं बाती के कथन मात्र से ही अन्धकार नहीं दूर हो जाता है।[१]

सन्त कवि धरनीदास के अनुसार इस भवसागर और तीना मार्गों से मुक्त संसार में मानव का उद्धार करने वाली प्रवृत्ति करनी ही है एवं यदि करनी न हो तो मानव का उद्धार होना दुर्लभ हो जाय। करनी का सम्बन्ध मुख्य से होना चाहिये। धरनीदास तो पुकार-पुकार कर यही कहते हैं कि करनी पार उतारि है। ।

सन्त मलूकदास जी ने तो सभी निर्गुण सन्त-कवियों का सार ही इस पंक्ति में व्यक्त कर दिया है

कथनी मैं कुछ है नहीं करनी में रंग लाय।

इस प्रकार निर्गुण सन्त-कवियों ने उसी को विश्वासनीय बताया जिसकी कथनी एवं करनी में साम्य हो।

सन्तोष

मध्ययुग की आर्थिक-परिस्थितियों की विषमता का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में हो चुका है। विजेता-वर्ग के शोषण ने देश को कंगाल बना दिया था। इसका प्रभाव मध्य-वर्ग निम्न-वर्ग और किसान एवं मजदूर वर्ग पर बहुत अधिक पड़ा था। अकाल अनावृष्टि और लूट ने तत्कालीन जनता के जीवन में अशान्ति स्थापित कर दी थी। इस विषम परिस्थिति में निर्गुण सन्त-कवियों ने सन्तोष धारण करने का उपदेश देकर जनता की विक्षिप्तावस्था को सुधारने का प्रयत्न किया। सन्त कबीरदास ने सन्तोष को सभी धनों से श्रेष्ठ माना है।

> गोधन गजधन बाजि धन, और रतन धन खान।
> जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान ॥

सन्तोष-धन तभी प्राप्त हो सकता है जब कि मानव अपनी तृष्णाओं का शमन करता रहे। नहीं तो उसकी तृष्णायें नित्य ही नवीन रूप धारण करती रहेंगी। सुन्दर दास के शब्दों में देखिये

> जो दस बीस पचास भये सत
> होइ हजार तु लाख मंगैगी।
> कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य
> पृथ्वी पति होन की चाह जगैगी ॥
> स्वर्ग पताल को राज करौ
> तृष्णा अधिकी अति आग लगैगी।

---

१ बाती तिमिर न भाजई दीवा बाती तेल।
(मलूक दास)।

सुन्दर एक सन्तोष बिना सठ
तेरी तो भूख कभी न भगेगी ॥[1]

तृष्णाधीन मानव कभी भी सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। इसलिए सन्तोष आवश्यक है। मानव को चाहिये कि स्वयं चाहे जितना भी ठगा जाय पर दूसरे को कभी न ठगे।[2] इस प्रकार का उपदेश देकर हमारे सन्त-कवियों ने सन्तोष धारण करने की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया।

सन्तोषी व्यक्ति के दर्शन एवं स्पर्श से सुख प्राप्त होता है

साध संतोषी सर्वदा निरमल जा के बैन।
ता के दरस व परस ते जिय उपजै सुख चैन ॥[3]

सन्तोषी व्यक्ति को कबीर दास ने शाहंशाह माना है जिनको कछू न चाहिये सोई साहंसाह।

इस प्रकार निर्गुण सन्त-कवियों ने सन्तोष का उपदेश जनता को दिया।

दीनता

मध्ययुग महत्वाकांक्षा वैभव-प्रदर्शन तथा असंतुलन का युग था। दर्प गर्व अहंकार अभिमान प्रतिकार आदि मानव की हीन प्रवृत्तियाँ समाज को भ्रष्ट पतित और हीनावस्था में पहुँचाती जा रही थीं। इसीलिए मध्य-युग की आवश्यकतानुसार निर्गुण सन्त कवियों ने दीनता का महत्व प्रदर्शित करके दीन और दुखभोगी जनता को अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रहकर ईश्वर के प्रेम में रत रहने का उपदेश दिया। इन सन्त कवियों ने समय-समय पर गरीबी की सराहना की है। सन्त कबीरदास ने गरीब को 'दुतिया के चन्द्र के समान वन्दनीय' माना है।[4] गरीब व्यक्ति सभी के अत्याचारों को सहन कर सकता है और स्वयं उसके प्रतिकार में किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता। दीन व्यक्ति देवता रूप हो जाता है

दीन लखै मुख सबन को दीनहिं लखै न कोय।
भली बिचारी दीनता नरहुं देवता होय ॥[5]

---

१ स बा स भाग २ पृष्ठ १२१।
२ कबिरा आप ठगाइये और न ठगिये कोय।
आप ठगे सुख ऊपजै और ठगे दुख होय ॥
३ स बा स भाग १ पृष्ठ २१।१।
४ सब ते लघुताई भली लघुता ते सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय ॥
५ स बा स भाग १ पृष्ठ २१।१।

कबीरदास के मत से संसार में मुझ से बुरा और दोषमय अन्य कोई नहीं है। दीनता की यह चरम अभिव्यक्ति है।

> बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय।
> जो दिल खोजौं आपना मुझसा बुरा न होय।।[1]

दीनता ग्रहण किये बिना ब्रह्म नहीं मिल सकता है

> माया मेटे पिउ मिलै पिउ में रहा समाय।
> अकथ कहानी प्रेम की कहूँ तो को पतियाय।।[2]

चरनदास तो सद्गुरु से गरीबी का ही वरदान मांगते है

> सतगुरु से मांगूं यही मोहि गरीबी देहु।

सहजो बाई ने भी दीनता को ही श्रेष्ठ बताया है

> बड़ी गरीबी नम्रता सम नहीं कोई भार।
> सहजो रुई कपास की काटै ना तरवार।।
> सहजो पूरन भाव सूं नाम लिये सुख धाम।
> नव सिध आई दीनता मिटै बड़ाई मान।।[3]

इस प्रकार समय की आवश्यकतानुसार सन्त-कवियों ने दीनता का उपदेश जनता को दिया।

पातिव्रत धर्म

समाज की अव्यवस्था को देख कर सन्त-कवि अत्यधिक व्यथित हुये। कनक और कामिनी के मोह में फंसा मानव नित्यप्रति उनकी प्राप्ति के लिए षड्यन्त्रों की रचना किया करता था। मध्ययुग में स्त्री भी अपने धर्म को भूल कर विलासिता की सामग्री हो गई थी। इसी कारण निर्गुण सन्त-कवियों ने पातिव्रत-धर्म की ओर स्त्रियों का ध्यान आकृष्ट किया। कामिनी के परम निन्दक सन्त कबीर ने भी पतिव्रता स्त्री के व्यक्तित्व पर चाहे वह कुरूप ही क्यों न हो करोड़ों स्वरूपवतियों को निछावर करने का विचार प्रकट किया है

> पतिबरता मैली भली काली कुचिल कुरूप।
> पतिबरता के रूप पर वारौं कोटि स्वरूप।।

ऐसी पतिव्रता स्त्री सभी नारियों में इस प्रकार दीप्यमान होती है जैसे रवि और शशि की ज्योति।

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ५१।६।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ ५१।३।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ १११।११ १२।

पतिवरता मैली भली गले कांच की पोत ।
सब सखियन में यों दिपै ज्यों रवि ससि की ज्योति ।।

सन्त कबीरदास की ही भांति दादू,[१] सुन्दरदास[२] चरनदास[३] आदि ने भी पतिव्रता स्त्री की भूरि भूरि प्रशंसा की और समाज में उसका स्थान उच्च बनाया।

इस प्रकार निर्गुण सन्त-कवियों ने इन समाज विश्वासों के द्वारा सामाजिक-जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया। अब हम निर्गुण सन्तों के जीवन-दर्शन की व्याख्या करेंगे।

सन्तों का जीवन दर्शन

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा में दृश्यते अनेन इति दर्शनम् है। मानव की भौतिक एवं पारमार्थिक अनुभूति विषयक जिज्ञासा को शान्त और सयत मार्ग पर लाने वाला 'दर्शन' ही है। दर्शन एक प्रयास है जिसके माध्यम से मानव वास्तविकता के नियम परामर्श चिन्तन तक पहुंचता है। विचारक पैट्रिक के शब्दों में 'दर्शन वस्तुओं के सम्यक् विचारशीकरण की कला है'।[४] रसल के मतानुसार विज्ञान एवं धर्म के मध्य में जो स्थान है वही दर्शन है।[५] ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने दर्शन का सम्बन्ध यथार्थ से बताया है।[६] संक्षेप में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि समस्त वस्तुओं को विधिपूर्वक चिन्तन करने की कला ही दर्शन है।

दर्शन जगत के दिग्दर्शन का एक वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी प्रयास है। इसी से हम मानव जीवन का मूल्यांकन करते हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि जीवन क्या है? श्वासों प्रश्वासों का क्रमिक सचालन आगम एवं प्रत्यागमन ही जीवन है। इस जीवन के अनेक आधार माने गये हैं और उन्हीं भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से इसे देखने का प्रयत्न किया गया है। जीवन-दर्शन की धारा में क्रान्ति उपस्थित करने के कारण एवं हेतु उस काल की सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियां ही होती हैं। भारत में जीवन-दर्शन के परिवर्तित करने में धार्मिक एवं आर्थिक-तत्व ही सदैव से

---

१ नीच ऊंच कुल सुन्दरी सबा सारी होइ।
सोई सोहागिन कीजिये रूप न पीजै धोइ।।

२ जो पिय को व्रत लै रहे कत पियारी सोइ।
अजन मंजन दूरि करि सुन्दर सनमुख होइ।।

३ पति की ओर निहारिये औरन सूं क्या काम।
सबै देवता छांडि कै जपिये हरि का नाम।।

4 I troduction of Philosophy Patrie—P 5

5 Russel says Philosophy is no man s land between Science and religion

6 Philosophy is the relationsh p with reality—(Plato)

सहायक रहे हैं। आर्थिक-विषमताओं एवं नवीन आविष्कारों के कारण आज का जीवन दर्शन प्राचीन जीवन-दर्शन से सर्वथा भिन्न हो गया है जिसका प्रतिबिम्ब हमें साहित्य में देखने को मिलता है। साहित्य कलाकार के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है। उसके विचार मनोभाव एवं चिन्तन-शैली का अध्ययन उसके साहित्य द्वारा ही होता है। निर्गुण सन्त-कवियों के पद्य-साहित्य से हमें उनके जीवन-दर्शन का भली प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

सभी निर्गुण सन्त-कवियों का जन्म प्रायः एक साधारण परिवार में ही हुआ था जहां भौतिक-जीवन में समृद्धि के लिए कोई अवसर नहीं थे। जीवन में उत्थान एवं पतन का कोई प्रश्न ही उनके सम्मुख न उठता था। क्योंकि एक निम्नवर्गीय व्यक्ति के जीवन मे विकास उत्थान और कौतूहल आदि के लिए बहुत ही अल्प अवसर प्रस्तुत होते हैं। इन निर्गुण सन्त कवियों का जीवन आध्यात्मिक-क्षेत्र में महान् व्यक्तियों की विचारधाराओं से प्रभावित हुआ। महापुरुषों से प्रभावित होकर इन कवियों ने शान्ति सन्तोष संयम सदाचार सत्य और साम्य भावना का संदेश देना शुरू किया। इन तत्वों ने निश्चय ही हमारे सन्तों के जीवन को किसी अंश तक प्रभावित किया था।

निर्गुण सन्त-कवियों के जीवन-दर्शन का अध्ययन करने के पूर्व उस समय के वातावरण की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है जिससे प्रेरणा ग्रहण करके हमारे सन्त कवियों के हृदय में जनजीवन के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ और जो आगे चल कर लोकरंजक तथा लोक मंगलकारी भावना में परिवर्तित हुआ।

मध्ययुग में महत्वाकांक्षा और लोभ से प्रेरित होकर मुसलमान निरन्तर उत्तर पश्चिम से आक्रमण कर रहे थे। धन को इतना अधिक महत्व दिया जा रहा था कि उसके हेतु भगवान की सर्वोत्तम कृति मानव को तलवार के घाट उतारा जा रहा था। राज्य प्राप्ति के लिए पिता तथा भाई का वध किया जा रहा था। मुहम्मद तुगलक ने गयासुद्दीन तुगलक को लकड़ी के महल के अन्दर कुचलवाकर राज्य प्राप्त किया था। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने ससुर जलालुद्दीन को तलवार के घाट उतार कर राज्य प्राप्त किया। औरंगजेब ने शाहजहां को बन्दी बनाकर राज्य प्राप्त किया था। इन्हीं घटनाओं को देखकर निर्गुण सन्त-कवियों के हृदय में प्रतिक्रिया की भावना जागृत हुई और हृदय में दीनता करुणा तथा प्रेम का स्रोत प्रवाहित होने लगता। इन भावनाओं के उद्रेक से इन संत-कवियों ने संतोष संयम दीनता आदि ग्रहण करने का उपदेश दिया। इन्होंने विचार किया कि जब एक ही खुदाई सब में निवास करता है तो मानव एक दूसरे की हत्या क्यों करता है? इन्हीं विचारधाराओं से उत्पन्न कर सन्त कवियों के मुख से अहिंसा समता एवं त्याग के उपदेश निकल पड़े।

सन्तों के जीवन-दर्शन का मुख्य आधार है सहजता या राम अनुरक्ता। निर्गुण संत कवियों के मतानुसार तूफान में दीपक एवं वर्षा में बालू की भित्ति पर मानव भरोसा कर सकता है उनकी स्थिरता पर विश्वास कर सकता है। परन्तु मनुष्य का जीवन इनसे भी निःसार और क्षणिक है। कबीर के शब्दों में इस संसार की स्थिति पठनीय होगी

पानी केरा बुदबुदा अस मानुष की जात ।
देखत ही छिपि जायगी ज्यों तारा परभाति ॥[1]

इस नि:सारता का ज्ञान होते हुए भी मानव मृत्यु की ओर से बेखबर होकर भौतिकता में संलग्न है

पाव पलक की सुधि नहीं करे काल्ह का साज ।
काल अचानक मारसी ज्यों तीतर को बाज ॥[2]

चार दिनों के जीवन के लिए मानव इतना आयोजन इतना संघर्ष एवं छीना-झपटी करता है और वह उसी की चिन्ता में सर्वत्र मग्न रहता है । कबीर दास जी का कथन है

कबीर थोड़ा जीवना माड़ै बहुत मंडाण ।
सबहि उभा में लगि रहा राव रंक सुल्तान ॥[3]

मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर निकृष्ट से निकृष्ट कार्य करता है और उसे इस सब में किंचित मात्र का भी संकोच नहीं होता है । हमारे सन्त-कवियों ने उपदेश दिया कि इस संसार में कुछ भी स्थिर नहीं है । कबीर दास जी के शब्दों में देखिये

का मांगूं कुछ थिर न रहाई ।
देखत नैन चला जग जाई ॥
एक लख पूत सवा लख नाती ।
ता रावन घर दिया न बाती ॥
लंका सा कोटि समंद सी खाई ।
ता रावन की खबर न पाई ॥
आवत संग न जात संगाती ।
कहा भयो दर बाँधे हाथी ॥
कहै कबीर अंत की बारी ।
हाथ झाड़ जैसे चले जुवारी ॥

इस क्षणिक संसार में सभी कुछ तो अस्थिर है । फिर मानव गर्व ही किस बात पर कर सकता है । चरनदास के शब्दों में देखिये

क्या दिखलावे ठाठ यह कुछ थिर न रहैगा ।
दारा सुत अरु मात मुलुक का कहा करै अभिमान ॥

---

१ स बा म भाग १ पृष्ठ ६।५ ।
२ स बा म भाग १ पृष्ठ ६।११ ।
३ स बा म भाग १ पृष्ठ ६।१४ ।

रावन कुम्भकरन हरनाकुस राजा कर्न समान।
अरजुन नकुल भीम से जोधा माटी हुये निदान॥
छिन छिन तेरी तन छीजत है तुम मूरख अजान।
फिर पछताये कहा होयगा जब जम घेरे आन॥
जिनसे जलथल रवि ससि तारे सकल सृष्टिकी हानि।
अजहूं चेत हेत कर हरि सूं तजी के पहिचान॥

पलटू साहिब के शब्दों में यह भाव निम्नलिखित है —

पलटू नर तन पाइ के मूरख भजै न राम।
कोऊ ना संग जायगा सुत दारा धन धाम॥[1]

यह जीवन छाया की तुलना में भी हीन है। फिर इससे सम्बन्धित अन्य विषयों के लिए क्या कहा जाय ? एक दिन यह शरीर ओले के समान नष्ट हो जायगा काँच के बर्तन की भाँति ठोकर लगते ही छिन्न-भिन्न हो जायगा इसके लिये व्यर्थ ही मानव झूठ कपट एवं छलबल करता है तथा बाजीगर के बन्दर के सदृश नाचा करता है

यह तन का यह गर्व करत है।
ओला ज्यों गलि जावै रे॥
जैसे बरतन काँचो काँच को।
धपक लगे बिलसावै रे॥
झूठ कपट पर छल बल करि के।
खोटे कर्म कमावै रे॥
बाजीगर के बन्दर सा ज्यों।
नाचत नाहिं लजावै रे॥

कबीरदास भी शरीर को कच्ची मिट्टी के घड़े की भाँति समझते हैं

यह तन काँचा कुम्भ है लिये फिरे था साथ।
ढबका लागा फूटिया, कछू नहिं आया हाथ॥[2]

फिर मानव दम्भ क्यों करता है ? मलूक दास जी का कथन है।

इस जीने का गर्व क्या, कहाँ देह की प्रीति।
बात कहत ढह जात है बारू की सी भीति॥[3]

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ २१४।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १ ।२ ।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ १ ४१४।

सहजोबाई के शब्दों में नश्वरता का चित्र देखिये।

> धन जोबन सुख सम्पदा बादर की सी छांहि।
> सहजो आखिर धूप है चौरासी के मांहि।।[1]

संसार में आसक्ति रखने वाला मानव चौरासी योनियों में ही घूमता रहता है।

> चौरासी योनी भुगत पायो मनुष शरीर।
> सहजो चूके भक्ति बिनु, फिर चौरासी चीर।।[2]

जिस समय प्राण शरीर से निर्गत हो जाते है, तब यहीं रक्खा रह जाता है

> माल पास जोधा बड़े सभी बजावें गाल।
> मंत महल से ले चला ऐसे काल कराल।।[3]

इन निर्गुण सन्त-कवियों ने जीवन का आदर्श महान् एवं गूढ़ बताया है

> दो दिन का जग में जीवना है करता क्यों गुमान।
> ए बेशऊर पीती टूक राम को पिछान।।
> दाना खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती।
> जलता है मकड़ मकड़ के ज्वाली कम जाते भान।।
> मुरशिद का ज्ञान समझ के हुशियार हो सिताब।
> मजमस्त को छोड़ सुहबत साधो की खूब जान।।

फिर भी मानव इस ओर ध्यान नहीं देता है। वह तो विद्रोह षड्यन्त्र हत्या आदि में ही संलग्न रहता है। एक के बाद एक तृष्णा उसके हृदय को बिजली की भांति कौंधा करती है। भावुकता और उद्वेगजनक अंतःकरण लेकर वह सांसारिक कार्यों मे व्यस्त रहता है। ममता की घटाएँ सदैव उसे घेरे रहती है। प्रकृति की निस्तब्धता की ओर मानव का ध्यान भी नहीं जाता है। दिन-रात बाह्याडम्बरों में लिप्त मानव निम्न प्रवृत्तियों का चेरा बना रहता है। तृष्णा उसके शरीर को भस्म कर डालती है।

> तिरसना अग्नि प्रलय किया तृप्त न कबहू होय।
> सुर नर मुनि और रंक सब भस्म करत है सोय।।[4]
>
> (कबीर)

सन्त-कवियों ने बताया कि इस जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य भौतिकता का विसर्जन करके ब्रह्म की आराधना करना ही है। प्रत्येक घट में वही सांई विद्यमान है। इसलिए मनुष्य को मानव मात्र के प्रति सहानुभूति होनी चाहिए। इन सन्तो ने अपनी मधुर

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ १६६।५।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १६६।६।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ १०।२५।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ ४५/२।

वाणी से संतप्त जनता को शीतलता और सुख प्रदान किया। सन्तों ने बताया कि यदि किसी ने इस संसार में एक भी जीव को सुख पहुँचाया तो उसका जीवन सफल है। समाज की सेवा करना ही मानव का धर्म है। 'देह धरे को गुन यही देह-देह कुछ देह' में विश्वास करने वाले हमारे सन्तो ने सेवा एवं परोपकार को ही धर्म माना है। यह संसार दो दिन का मेला है फिर छल-कपट राग-द्वेष का स्थान ही क्या है? इस कारण जीवन को शुद्ध निष्कपट होना चाहिए। धरमदास के शब्दों में देखिए —

घरी दो में मेला बिछुरे साधो देखि तमासा चलना।
जो ह्वां आकर हुए इकट्ठा तिनसूं बहुरि न मिलना॥
जैसे नाव नदी के ऊपर बाट बटाऊ आवें।
मिल मिल बुधे होय पल माहीं आप आपको जावें॥
या बारी बिच फूल घनो रंग सुगन्ध सुहावें।
लागे खिले फेरि कुम्हिलावें झरे धूरि मिलजावें॥
ह्यांई मिले धीर ह्यांना से ताको क्या पछितावें।
दे कुछ ले कुछ करिले करनी रहनी कहनी सारी॥

यह संसार तो 'नदी नाव संयोग' है। जब संसार के सम्बन्ध इतने क्षणिक है फिर पारस्परिक द्वेष भाव का महत्व ही क्या है? यह जीवन कच्चे घड़े और स्वप्न के सदृश विनाशशील है। इस संसार के आदान प्रदान व्यवहार, नीति सभी कुछ स्वप्न के समान क्षणिक है। चरनदास के शब्दों में —

देखो रे नर करो विचार।
छल रूपी है यह संसार॥
सुपना माता-पिता सुत बन्धू।
सुपना है सबही सम्बन्धू॥
देखें कहै सुने सो सपना।
सुपना धरती और आकाशा।
सुपना चन्द सूर परकाशा
सुपना जल थल पावक पौना
सुपना जोग भोग अरु मौन॥
सुपना माया को व्यौहार।
सुपना कुल नाता परिवार॥
सुपना देस गाम अरु भेष।
सुपने लखें जखें अरु मापे।
सुपनें सोवें सुपनें जागें।

कृत्रिमता तथा बाह्याडम्बर हमारे जीवन के उज्ज्वल-पथ को आच्छादित कर लेते हैं। ये हमारी सत्यता और तथ्य पर आवरण डाल देते हैं। जहां सत्य है वह

कृत्रिमता तथा बाह्याडम्बरों की आवश्यकता नहीं। क्योंकि मानव जो कुछ भी विचार करता है वह पूर्ण होगा या नहीं वह स्वयं ही नहीं जानता है। सुन्दरदास जी का कथन है —

तू कुछ और विचारत है नर
तेरो विचार धर्यो ही रहैगो।
कोटि उपाय करै धन के हित
भाग लिख्यो तितनोही रहैगो॥
भोर कि सांझ घरी पल मांझ सु
काल अचानक आइ गहैगो।
राम भज्यो न कियो कछु सुकृत
सुन्दर यूं पछताइ रहैगो॥[1]

जहां मानव कृत्रिमता की ओर ध्यान देने लगता है वहां उसकी सम्पूर्ण शक्ति उसी को बनाए रखने में लगी रहती है। उसी के कारण मानव झूठ बोलता है छल करता है तथा निन्दा करता है। इन बातों में संलग्न मानव को देख कर चरनदास का कथन है —

माला तिलक बनाय पूर्व अरु पश्चिम जाता।
नाभि कंवल कस्तूरि हिरन भा बौरा॥
चांद सूर्य थिर नहीं नहीं थिर पवन न पानी।
तिर देवा थिर नहीं नहीं माया रानी॥
चरनदास सत दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
भटकत फिरत जो निकट ही सहज सुमन के दूर है॥

धार्मिक-जीवन के समान सामाजिक-जीवन में भी कृत्रिमता नहीं होनी चाहिए। समाज के स्वच्छ निर्माण के लिए कृत्रिमता को दूर करना परमावश्यक है। अपनी वास्तविक स्थिति को बढ़ा चढ़ाकर व्यक्त करने वालों को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है और सहजतापूर्वक निर्वाह होना कठिन हो जाता है। सामाजिक को दूषित मनोवृत्तियों का त्याग कर देना वांछित होता है। सामाजिक जीवन में काम क्रोध तृष्णा मद आदि प्रवृत्तियां कृत्रिमता ही लाती हैं। इसी कारण निर्गुण सन्त कवियों ने इनकी निन्दा की और समाज के लिए कल्याणकारी मनोवृत्तियों का सन्देश सुनाया। क्रोध में मानव सब कुछ भूल जाता है इस कारण उसे साधुओं की संगति करनी चाहिए —

दसों दिसा से क्रोध की उठी अपरबल आगि।
सीतल संगति साध की तहां उबरिये भागि॥[2]

---

१ सं० बा० सं० भाग २ पृष्ठ १२१।
२ सं० बा० सं० भाग १ पृष्ठ २१।

सहजोबाई क्रोधी व्यक्ति के सम्बन्ध में कहती हैं :—

सहजो कोपी अति बुरो उलटी समझे बात ।
तबही सूं ऐंठे रहे करै बचन की घात ॥[1]

निर्गुण सन्त-कवियों ने मानव-जीवन में आत्मसंतोष को बहुत ही महत्व प्रदान किया है । चित्त की एकाग्रता एवं शान्ति के लिये तृष्णा का दमन आवश्यक है । जहाँ तृष्णा लालसा या इच्छा है वहां साधना के लिये कोई अवसर नहीं रहा जाता है । इस कारण सरस स्वाभाविक और शान्तिमय जीवन के लिये अहिंसा अनिवार्य है । अहिंसा को परोपकार की निषेधात्मक-भूमि भी कह सकते हैं । परन्तु अहिंसा सत्यान्वेषण के अभाव में असंगत है । अहिंसा और सत्य दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं । अहिंसा साधना है और सत्य साध्य । साधना के लिये यदि हम चिन्तित रहेंगे तो साध्य किसी न किसी अवसर पर उपलब्ध हो ही जायेगा ।

निर्गुण सन्त-कवियों के जीवन में त्याग परोपकार दया और उदारता का बड़ा महत्व था । क्योंकि उनका पूर्ण विश्वास था कि इनके अभाव में न तो आध्यात्मिक जीवन में ही सफलता मिल सकती है और न सामाजिक-जीवन में ही । परोपकार के द्वारा इन सन्त-कवियों ने वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को पालन किया ।

उपर्युक्त विवेचना द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण सन्त-कवियों ने जीवन में सत्य परोपकार क्षमा दया सहनशीलता संतोष त्याग विनय को महत्वपूर्ण माना और साधना के क्षेत्र में बाह्याडम्बरों की निःसारता पर प्रकाश डालकर यह सिद्ध किया कि यह सब माया है असत्य है। इसलिये सत्य स्वरूप की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये जो गुरु की कृपा से ही मिल सकता है ।

संतों के साधनात्मक-विश्वास

निर्गुण सन्त कवियों के साधनात्मक विश्वास के अन्तर्गत नाम-जप सहज समाधि योग वैराग्य और भक्ति आदि की गणना की गई है । अब हम अलग-अलग इनका विवेचन करेंगे ।

नाम-जप

नाम जप सम्बन्धी विश्वास का उल्लेख हम सन्तों के दार्शनिक विश्वास के अन्तर्गत कर चुके हैं । संतों को नाम जप में पूर्ण विश्वास था और उन्होंने नाम-जप को सबसे श्रेष्ठ माना है । नाम-स्मरण साधना का सरलतम तथा श्रेष्ठ साधना है ।

राम भजन परित्याग किमि करिये लाख उपाय ।
सुन्दर कपट समेत तजि मन की प्रीति लगाय ॥

१ स बा स भाग १ पृष्ठ १५ ।

इस नाम-जप की साधनात्मक एवं भौतिक दोनों ही जीवनों में उपयोगिता है।

राम नाम भोजन करे, राम नाम जलपान।
राम नाम सौं मिलि रहै सुन्दर राम समान॥

निर्गुण सन्त-साहित्य में नाम-जप का गुणगान बहुत हुआ है। संतों का पूर्ण विश्वास है कि साधनात्मक-क्षेत्र में नाम-जप से और कोई सरल उपाय नहीं है। मनुष्य नाम रूपी जहाज पर चढ़कर इस भवसागर से पार हो सकता है।

सुन्दो भवसागर बहै तिमिर बरत घनघोर।
तामे नाम जहाज है, पार उतारे तोर॥

निर्गुण-कवियों का नाम-जप पर अटूट विश्वास था। सुन्दरदास का मत है कि —

नाम लिया तिन सब किया सुन्दर जप तप नेम।

तथा

नाम बराबर तोलिया तुलै न कोई धर्म।

इसी विश्वास के कारण सन्त कबीरदास अपने शरीर के चाम से उस व्यक्ति की पैतरी बनाना चाहते हैं जिसके मुख से भूल से भी कभी-कभी नाम निकल जाता है —

सपनहु में बर्राइ कोऊ निकरै नाम।
वाके पगरी पैतरि मौ तन को चाम॥

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट होता जाता है कि सन्त-कवियों को नाम जप पर पूर्ण विश्वास था और नाम-जप उनकी साधना का प्रमुख अंग था।[१]

सहज-समाधि

संतों के साधनात्मक-विश्वास में सहज-समाधि को प्रमुख स्थान प्राप्त है। निर्गुण सन्त-कवियों के काव्य में सहज-समाधि विषयक विचार स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं। सन्त कबीर ने सहज-समाधि की साधना को सर्वश्रेष्ठ साधना माना है। जिस दिन से उन्हें सहज अवस्था प्राप्त हुई उस दिन से प्रीति बढ़ती ही गई। दैनिक जीवन के प्रत्येक कर्म उसी सहज ब्रह्म की उपासना के अंग प्रतीत होने लगे। कबीर का सहज समाधि के प्रति विश्वास देखिये —

---

१ गोस्वामी तुलसीदास का यह पद कबीर से साम्य रखता है —
तुलसी जाके मुखन ते धोखेहु निकरहि राम।
ताके पगकी पैतरी मेरे तन को चाम॥

२ परन्तु उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि काम के साथ नाम का विरोध है —
जहां काम तहां नाम नहिं जहां नाम नहिं काम।
दोनों कबहूं ना मिलै रवि रजनी इक ठाम॥
कबीर साखी—संग्रह पृष्ठ ११६।

साधो सहज समाध भली।
गुरु प्रताप जा दिन सो जागी दिन-दिन अधिक चली ॥
जहाँ-जहाँ डोलौं सो परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत पूजों और न देवा ॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन खावौं पीवौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव मिटावौं दूजा ॥
आंखन मूदौं कान न रूधौं तनिक कष्ट नहि धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारौं ॥
सबद निरन्तर से मन लागा मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहु नहिं छूटै ऐसी तारी लागी ॥
कह कबीर यह उन मुनि रहनी सो परगट करि गाई।
दुख सुख से कोइ परे परम पद तेहि पद रहा समाई ॥

इन सन्तों का विश्वास था कि सहज ब्रह्म की साधना भी सहज ही होनी चाहिये। साधक के दैनिक-जीवन और साधना में कोई विरोध अपेक्षित नहीं है। इसी कारण निर्गुण सन्त-कवियों ने गृहस्थी के उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुये भी सहज-साधना का सन्देश जनता को दिया —

काहे को कलपत फिरै दुखी होय बेकार।
सहजै सहजै होइगा जो रचिया करतार ॥[1]

यह ब्रह्म सहज ही दर्शन देने वाला है। इसलिये व्यर्थ में चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए—

काम कल्पना कदे न कीजै पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथ पहुँचि पार गहि दादू सोधत सहज संभार ॥

निर्गुण-सन्तों का यह विश्वास था कि साधना जितनी ही सहज होगी उतनी ही बोधगम्य होगी। इसलिये उन्होंने सहज-समाधि को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। मध्य युगीन राजनैतिक सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों को देखते हुए भी सहज-समाधि की आवश्यकता थी। मुसलमानों के राज्यकाल में जहां जीवन रक्षा का प्रश्न अत्यन्त कठिन था और नित्यप्रति मन्दिर नष्ट किये जा रहे थे वहां सहज-समाधि की और भी आवश्यकता थी।

कबीर की भांति ही चरनदास जी ने भी सहज-समाधि की महत्ता का अनुभव किया था। उनका कथन है कि

निरंतर सहज समाधि लगाई।
ऐसी लगी टरे नहिं कबहू करनी प्रान पूराई ॥

---

१ स बा स भा १ पृष्ठ ३३।१।

काको जप तप ध्यान कौन कं करे अब पूजा।
कियो विचार नेक नहिं निकसै हरि बिनु और न दूजा।।
भूता पांच सहज मति साखी खालस ब्रास न होई।
सब रस मूल सहा जब सोवा प्राण विसर्जन होई।।

इसी प्रकार सन्त दादू,[१] रैदास[२] भीखा साहब[३] सुन्दर दास[४] पलटू साहब[५] सहजो बाई[६] आदि ने भी सहज-समाधि पर अटूट विश्राम के भावों का प्रदर्शन किया है।

योग

'योग' हिन्दुओं के दर्शन और धर्म का प्रमुख अंग है। हिन्दुओं की साधना-पद्धति की यह सबसे समीचीन और वैज्ञानिक शैली है। योग-साधना की शैली और लक्ष्य के विषय में कोई तर्क और विवाद नहीं किया जा सकता है कारण कि योग-साधना की प्रक्रिया शैली एवं फल निर्विवाद रूप से एक निर्दिष्ट दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। योग के आधारभूत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी कोई मतभेद नहीं है। दार्शनिक एवं विचारकों का अभिमत है कि मोक्ष प्राप्ति के हेतु योग सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन है। मोक्ष प्राप्ति के लिये भारतीय-दर्शन ने तीन साधनों का उल्लेख किया है योग भक्ति एवं ज्ञान। परन्तु इन तीनों में योग के समान कोई भी दूसरा साधन नहीं है। भारतवर्ष की धर्म-साधना मे 'योग' प्राचीनतम साधन माना गया है जिसका अवलम्बन ग्रहण

---

१ काया अन्तरि पाइया अनहद वेन बजाइ।
सहजै आप लखाइया सुन्य मंडल में जाइ।।
काया अन्तर पाइया सब देवन को देव।
सहजै आप लखाइया ऐसा अलख अभेव।।

२ पूजा अरचा ना जानू तेरी। कह रैदास कवन गति मेरी।
तोड़ू न पाती पूजू न देवा। सहज समाधि करू हरि सेवा।।

करो विचार निवरि अवराधिये
सहज समाधि मन लाय बाई।

४ सहज निरंजन सब मे सोई। सहजै संत मिलै सब कोई।।
सहजै संकर लागै सेवा। सहजे सनकादिक सुख देवा।।

५ फूटि गया आसमान सबद की धमक में।
लगी अगम में धाम सुरति की चमक में।।
सेस नाग और कमठ सगे सब कांप।
अरे हाँ पलटू सहज समाधि की दशा खबर नहिं आप।।

६ ऐसा सुमिरन कीजिये सहज रहै लौ लाय।
बिनु जिभ्या बिनु तालुवै अन्तर सुरति लगाइ।।

करके साधक संसार-सागर के विविध तापों से अवकाश ग्रहण करके मुक्ति प्राप्त करता है। प्रत्येक धर्म की साधना में योग किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।

शुक्ल यजुर्वेद' के ४ वें अध्याय में भी योग की साधना और तत्वों की ओर संकेत किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद' में कहा गया है कि "सत्य को मोह' के कोक एकत्वमनुपश्यत। इसी प्रकार इस वेद ग्रन्थ के ११वें एवं ४ वें अध्यायों में योग विषयक अनेक विषयों एवं तत्वों का उल्लेख किया गया है। वेदों के अतिरिक्त उपनिषद् श्रीमद्भागवत श्रीमद्भगवत गीता योगवासिष्ठ तथा तंत्र-ग्रन्थों आदि ने भी योग का स्पष्ट उल्लेख एवं साधना के विषय में विचार प्रकट किये हैं। भारत के सभी प्राचीन धर्म बौद्ध जैन आदि योग की महत्ता के समर्थक हैं। बौद्ध-धर्म के पाली त्रिपिटकों में योग की प्रक्रिया का सुन्दर उल्लेख मिलता है। महावीर एवं जैन-धर्म के अन्य साधकों ने योगाभ्यास किया और उस पर अपने विवेचनात्मक मत प्रकट किये हैं। उमा स्वाती तथा हेमचन्द्र ने क्रमश तत्वार्थ सूत्र' तथा 'योग-शास्त्र' ग्रन्थों में स्वानुभूतियों का चित्रण किया। तांत्रिकों ने तो अपनी साधना के हेतु योग को ही आधार बनाया। नाथ सम्प्रदाय' की साधना में भी योग की प्रक्रियाओं को विशिष्ट स्थान मिला और अन्ततोगत्वा वह 'योगी-सम्प्रदाय' के नाम से प्रख्यात हुआ। गोरखनाथ एवं अन्य सिद्धों के ग्रन्थों में अमृतनाद ॐ,द बिन्दु, तेजो-बिन्दु, नाद बिन्दु, क्षुरिका हंस कुंडलिनी आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। नाथ-पंथियों के पश्चात् हिन्दी के निर्गुणवादी कवियों ने भी योग का वर्णन उपलब्ध होता है। वैदिक जीवन में भी प्राचीन भारत के नागरिक यम नियमादि का पालन करके किसी न किसी रूप मे योग की साधना में रत थे'।[१]

योग-साहित्य के विषय में सबसे प्रथम लेखक महर्षि पतंजलि हैं। पातंजलि योग-सूत्रों के अनुसार 'योगश्चित्त वृत्ति निरोध अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाना ही योग है। योगवाशिष्ठ' के अनुसार संसार सागर से उत्तीर्ण होने की युक्ति ही योग है।[२] डा रामकुमार वर्मा के शब्दों में आत्मा जिस शारीरिक या मानसिक साधन से परमात्मा से जुड़ जाये वही योग है।[३] डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित का मत है कि जो आध्यात्मिक विद्या जीवात्मा एवं परमात्मा में संयोग स्थापना की प्रक्रिया का निर्देश करे वही योग है।[४] योग की क्रियाओं में रत रहने वाला साधक 'योगी' है। गीता में योगी शब्द का प्रयोग ईश्वर आत्मज्ञानी ज्ञानी भक्त निष्काम कर्म योगी सांख्य-योगी भक्त साधक-योगी सकाम-कर्मयोगी संयमी ध्यान एवं धारणा करने वाला तथा तत्वज्ञानी के अर्थ में हुआ है। योग-शास्त्र में योग के तीन भेदों का उल्लेख हुआ है

१ सुन्दर-दर्शन—ले डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृष्ठ २२ २१।
२ योगवाशिष्ठ ६।१।१३।३।
३ कबीर का रहस्यवाद—ले डा रामकुमार वर्मा पृष्ठ ६
४ सुन्दर-दर्शन पृष्ठ २४।

(१) सविकल्प-योग
(२) निर्विकल्प-योग
(३) निर्बीज योग

योग अनेक प्रकार के होते हैं : प्रेम-योग सांख्य-योग ज्ञान-योग कर्म-योग हठ-योग राज-योग मंत्र योग आदि।

हिन्दी के सन्त-कवियों ने योग के विषय में अनेक बार अपने विचारों को प्रकट किया। इन सन्तों ने योग को साधना का अनुपम साधन माना है। निर्गुण सन्तों में अधिकांश साधकों ने अष्टांगयोग का वर्णन किया है। कबीरदास मलूकदास चरनदास तथा रज्जब साहब इस कोटि के कवियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सन्त सुन्दरदास परम योगी थे। योग का जितना सूक्ष्म, वैज्ञानिक और क्रमबद्ध ज्ञान सुन्दरदास को था उतना किसी अन्य सन्त-कवि को नहीं। सन्त सुन्दरदास ने अपने ग्रन्थों में निम्नलिखित योगों का वर्णन और विवेचन प्रस्तुत किया है।

(१) हठ-योग	(२) भक्ति-योग
(३) अष्टांग-योग	(४) राज-योग
(५) सांख्य-योग	(६) अद्वैत-योग
(७) लय-योग	(८) मंत्र-योग
(९) लय-योग	(१०) चर्चा-योग
(११) ब्रह्म-योग	(१२) ज्ञान-योग

सुन्दरदास ने योग के इन भेदों को लेकर सविस्तार अपने ग्रन्थों में योग के सम्बन्ध में विचारों को व्यक्त किया है। योग के वर्ण्य विषय को लेकर सुन्दरदास ने दो ग्रन्थों की रचना की है

(१) ज्ञान-समुद्र तथा
(२) सर्वांग योग-प्रदीपिका।

इनके अतिरिक्त अपने स्फुट ग्रन्थों में भी कवि ने ११ सवैयों में सांख्य सिद्धान्तों का निरूपण किया है, तथा १६१ साखियों में कवि ने सांख्य-योग के विभिन्न अंगों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। 'ज्ञान समुद्र' में कवि ने भक्ति-योग अष्टांग-योग सांख्य-योग तथा अद्वैत योग का वर्णन किया है तथा 'सर्वांगयोग प्रदीपिका' में भक्ति योग मंत्र-योग लय-योग चर्चा-योग हठ-योग राज-योग लक्ष-योग अष्टांग-योग सांख्य-योग ज्ञान-योग ब्रह्म-योग तथा अद्वैत-योग का वर्णन किया है। इन समस्त योगों में कवि का मन अष्टांग-योग सांख्य-योग भक्ति-योग की ओर अधिक लगा है।

निर्गुण सन्त-कवियों को ज्ञान-योग भक्ति-योग और अष्टांग-योग पर विश्वास था। योग के इन सभी प्रकारों में उनका विश्वास अष्टांग-योग पर अधिक था। इनकी साधना पर नाथ-पंथ की साधना पद्धति का भी प्रभाव पड़ा। नाथ-पंथ की की साधना-पद्धति का नाम है हठयोग। हठयोग वास्तव में सरल नहीं है। इसे योग का सोपान माना गया है। यद्यपि सच्चा योगी हठयोग के अतिरिक्त और

किसी बात पर ध्यान नहीं देता है। प्रारम्भ में हठयोग का उद्देश्य शरीर बुद्धि और मन का परिमार्जन ही समझा जाता था। परन्तु नाथ-पंथ में कार्य साधना से ही मुक्ति मानी जाने लगी।

कबीर की उलटबांसियों में खेचरी मुद्रा का वर्णन है। इस मुद्रा में योगी जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट करता है, और उसकी दृष्टि भ्रू यों में निबद्ध हो जाती है। यह मुद्रा बहुत बड़ी साधना के बाद प्राप्त होती है। परन्तु यदि यह एक बार भी प्राप्त हो जाए तो साधक समस्त विघ्नों और व्याधियों से मुक्त हो जाता है। इसी मुद्रा का विशेष रूप व्योम चक्र भी कहलाता है। ब्रह्मरंध्र के सहस्राकार पद्म के मूल में जो योनि नामक त्रिकोण शक्ति कर केन्द्र है, वहीं चन्द्रमा का स्थान है। कबीरदास ने इसी अमृत को पान करने के लिये बार-बार उपदेश दिया है

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नाल रस पीजै॥

मूल बंधि सर गगन समाना सुखमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहाँ जोगनी जागी॥

मनवा जाय दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद बागा॥[1]

जब मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं और चंचल मन स्थिर एवं वशवर्ती हो जाता है उसी अवस्था को राजयोग समाधि उन्मनी मनोन्मनी अमरत्व लयतत्व शून्य अशून्य परमपद अमनस्क अद्वैत निरालम्ब निरंजन जीवनमुक्त सहजा या तूर्या कहते हैं। ये सब एक ही समाधि के वाचक शब्द हैं। कबीर के साहित्य में इस दशा का चित्रण अनेक बार हुआ है। कबीरदास की कविता में योग का बहुत क्रमबद्ध वर्णन नहीं हुआ है। परन्तु फिर भी जितना कुछ वर्णन है कबीर के योग ज्ञान का सूचित करने के लिए पर्याप्त है। डा० राम कुमार वर्मा ने कबीर का रहस्यवाद' में कबीर के योग विषयक ज्ञान का सविस्तार उल्लेख किया है।

कबीर के समान ही रैदास नामक दादू आदि उत्कृष्ट योगी थे। परन्तु इनके साहित्य में योग का सुचारु और क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता है। इनके अनन्तर संत मलूकदास योग विषयक ज्ञान के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं। मलूकदास के 'ज्ञान बोध 'ज्ञान परोछि' तथा भक्ति विवेक' ग्रन्थों में योग के विभिन्न सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। योग के अष्ट अंग उनकी व्याख्या परिभाषा वर्गीकरण भेद उपभेद चक्र-नाड़ी प्राणायाम के श्वास प्रश्वास का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि मलूकदास को योग सम्यक् का ज्ञान था। उनकी स्फुट रचनाओं पद साखियों में भी अष्टांग-योग के यम नियमादिक के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

---

१ कबीर ग्रन्थावली—पद ७।

मलूकदास के योग सम्बन्धी ज्ञान का आधार महर्षि पतंजलि कृत 'योग सूत्र' है। प्रमाण के लिये उनकी निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं

> इन आठो को रूप कह्यो पातंजलि विस्तार
> अब बरनौं संक्षेप ते सो पुनि करौ विचार ।।
> (ज्ञान-बोध द्वितीय विश्राम)।

'ज्ञान बोध' में मलूकदास ने अष्टांग-योग का सविस्तार वर्णन किया है और साथ ही उसकी उपयोगिता पर व्यापक रूप से विचार प्रकट किया है।

सुन्दरदास ने बारह योगों का वर्णन किया है। परन्तु कवि ने अष्टांग-योग पर अधिक जोर दिया है। सुन्दरदास के योग का आधार है हठयोग प्रदीपिका' जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है

> ये दश प्रकार के यम कहे हठ प्रदीपिका ग्रन्थ महि।
> सो पहिले ही इनकौं कहे बरनत योग के पन्थ महि ।।
> (ज्ञान-समुद्र तृतीयोल्लास)।

सुन्दरदास की आस्था हठयोग में भी समान रूपेण थी। सर्वा गयोग प्रदीपिका' के 'हठयोगनाम तृतीयोपदेश के अन्तर्गत इड़ा एवं पिंगला के एकीकरण की क्रिया को कवि ने हठयोग माना है

> रवि शशि दोऊ एक मिलावै।
> पाहि ते हठ्योग कहावै ।।

मलूकदास एवं सुन्दरदास के समान ही अठारहवी शताब्दी के कवि चरनदास ने भी अष्टांग-योग को साधना के लिये उपयोगी माना है

> प्रथम नीव दृढ़ कीजिए, तब ऊपरि विस्तार।
> महल उठत सुहिनी नहीं त्यौं यम नियम विचार ।।

> तीजै आसन हित करि साधो, प्राणायाम चौथे आराधो।
> प्रत्याहार पाँचवा जानी छठे धारना को पहिचानौ।
> सतम ध्यान मिटै सब बाधा अष्ठ समाधा दृष्ट समाधा ।।

चरनदास ने अपने काव्य में अष्टांग-योग की उपयोगिता और विभिन्न अंगों का सविस्तार वर्णन किया है।

इन कवियों के अतिरिक्त बावरी-सम्प्रदाय निरंजनी-सम्प्रदाय साध-सम्प्रदाय सतनामी-सम्प्रदाय तथा निर्गु न-धारा के अन्य कवियों द्वारा संस्थापित अन्य सम्प्रदायों में भी योग की प्रक्रियाएँ किसी न किसी रूप में मान्य हुई हैं। सत्य तो यह है कि सन्तों की साधना पर योग का व्यापक प्रभाव पड़ा। इतना ही नहीं वे सन्त-कवि योगी थे और योग की समस्त भूमिकाओं पर इनका अच्छा अभ्यास था। उनकी

रचनाओं में योग का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म वर्णन सन्तों ने किया है, वह स्वतः इस कथन का समर्थक है। सन्तों के साधनात्मक विचारों में योग का प्रमुख स्थान है।

भक्ति

भक्ति' ब्रह्म से अनुराग एवं तादात्म्य स्थापित करने का सर्वोत्तम साधन है। विचारकों का कथन है कि भक्ति ब्रह्माराधना का सर्वसुलभ साधन है। ईश्वर के प्रति सच्चे एवं वास्तविक अनुराग को भक्ति-योग कहा गया है। महर्षि शाण्डिल्य के शब्दों में 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर में परम अनुराग अर्थात् परम प्रेम ही भक्ति है। भक्ति की परिभाषा और स्वरूप का उल्लेख करते हुए, देवर्षि नारद ने भक्ति-सूत्र' में लिखा है 'सा त्वस्मिन् परमप्रेम रूपा' अर्थात् उस परमेश्वर में अतिशय प्रेमरूपता ही भक्ति है। देवर्षि नारदने भक्तिको अमृतरूपा माना है। देवर्षि के शब्दों में 'अमृत स्वरूपाच' । योग ज्ञान वैराग्य आदि की साधना की तुलना में भक्ति ही ऐसा साधन है, जो सबसे सुलभ और सर्वजन साध्य माना जा सकता है। कहा गया है, कि कलिकाल में भक्ति के समान आत्मोद्धारक अन्य कोई साधन नहीं है। प्रेम द्वारा किसी काम्य वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। कारण कि जब तक सांसारिक वासनाएँ मानव के हृदय और मस्तिष्क पर प्रभाव बनाए रहती हैं तब तक प्रेम का विकास नहीं होता है। भक्ति दानादि कर्मों से श्रेष्ठ है और ज्ञान तथा योग से भी उच्च है कारण कि इन सबका एक लक्ष्य रहता है। परन्तु भक्ति स्वयं ही साध्य तथा साधन स्वरूपा है।

सा न कामायमाना निरोध रूपत्वात्[1] ।
सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा[2] ।
स्वयं फल रूपेति ब्रह्म कुमाराः[3] ।

भक्ति-मार्ग की महान् विशेषता यह है कि यह चरम-लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु यह सबसे सरल तथा नितान्त स्वाभाविक उपाय है। भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुये गीता में कहा गया है कि हे अर्जुन! न वेदों से न तप से न दान से और न यज्ञ से इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला मैं देखा जाने को शक्य हूं जैसे मेरे' को तुमने देखा। परन्तु हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिये और तत्व के जानने के लिये तथा प्रवेश करने के लिये अर्थात् एकीभाव से प्राप्त होने के लिये भी शक्य हूं

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥

---

१ नारद भक्ति-सूत्र प्रथम सूत्र।
२, नारद भक्ति-सूत्र २५ सूत्र।
३ नारद भक्ति-सूत्र ३ सूत्र।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।[१]

भगवान् कृष्ण ने भक्ति की प्रशंसा करते हुये उद्धव से कहा है कि

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।।
भक्त्या हमेकयाग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपिसम्भवात् ।।
धर्मः सत्य दयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ।।
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्त
रुदत्य भीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यतेच
मद्भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति ।।[२]

इन उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति ब्रह्म की प्राप्ति का सबसे सरल सुगम और सुसाध्य उपाय है। इसमें न साधना की दुष्करता है न आसन और प्राणायाम के पथ पर अग्रसर पथिक के समान काया-कष्ट ही झेलना पड़ता है। भक्ति का पथ साधना के समस्त मार्गों से निराला और पृथक है।

अब हम सन्तों की भक्ति विषयक विचारधारा का अध्ययन करेंगे।[३] सन्तों की भक्ति या साधना का उल्लेख होते ही निर्गुण काव्यधारा के प्रवर्तक युग-स्रष्टा स्वामी रामानन्द का ध्यान हो आता है। मध्ययुगीन साधना-पद्धति पर स्वामी रामानन्द का विशिष्ट प्रभाव और प्रतिच्छाया है। स्वामी रामानन्द ने मध्ययुगीन त्रस्त शोषित पददलित भक्ति विराग और पथ-भ्रष्ट जनता को भक्ति के सरल और सम्मोहक रूप के दर्शन कराया। भक्ति की इस धारा में जिसे रामानन्द ने प्रवाहित की थी सब जातियों एवं सब वर्गों को समान रूप से शान्ति एवं शीतलता प्रदान करने की पूर्ण शक्ति थी। इस भागीरथी में अवगाहन करके समस्त जातियों ने ब्रह्म प्राप्ति और परमार्थ-साधना का सुगम उपाय प्राप्त किया। मध्य-युग राजनीतिक विषमता सामाजिक संघर्ष आर्थिक अभाव एवं सांस्कृतिक पतन का समय था। तेरहवीं शताब्दी से अट्ठारहवीं शताब्दी तक जितने भी शासक हुये उनमें अकबर अपवाद है। जो आक्रमणकारी इस देश में आए, सभी ने हिन्दुओं के धर्म और भक्ति के प्रतीक मन्दिरों पर प्रहार करके उन्हें नष्ट कर देने में कोई प्रबल अवक्षेप न रखा। भारतीय (हिन्दू) जनता का विश्वास धर्म-साधना से डिग चला था। जनता का हृदय अस्थिर हो चला

---

१ गीता ११।२१।१४।
२ श्रीमद्भा ११।१४।२०-२२ तथा २४।
३ विशेष विस्तार के लिए देखिये 'संत परम्परा' भूमिका
लेखक—डा त्रिलोकीनारायण दीक्षित

था। ऐसी दशा में स्वामी रामानन्द ने भक्ति का जो सुरम्य रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत किया उससे भग्न और निराश हृदयों में भी आशा की ज्योति प्रस्फुटित हो उठी। आशा की यह ज्योति बड़ी मधुर थी। इसी का अवलम्बन लेकर हमारे सन्तों ने भक्ति का उपदेश जनता को दिया। सन्तों द्वारा प्रतिपादित और उपदिष्ट भक्ति सरल सुगम और सरसता के आधार पर उभरी हुई है। सन्तों की भक्ति सहनशीलता से सम्पन्न औदार्य से युक्त बाह्याडम्बरों से परे तथा कृत्रिमता से विहीन थी। इस भक्ति का द्वार सभी के लिये समान रूप से उन्मुक्त था। तभी तो जुलाहा कबीर, चमार रैदास कसाई सधन मुसलमान रज्जब और युन्ना तथा क्षत्रिय पीपा ने भक्ति के क्षेत्र में इतनी ख्याति और प्रसिद्धि प्राप्त की।

रामानन्द की दीक्षा और प्रेरणा ग्रहण करके कबीर दास ने जनता में जिस भक्ति का प्रचार किया वह निर्गुण निराकार तथा निरंजन की भक्ति थी। कबीर दास की भक्ति बाह्याचारों से विहीन [1] स्वार्थी पेट भरने वाले पुजारियों[2] और भ्रष्ट ब्राह्मणों की सीमा से परे थी। कबीर अन्धानुकरण या दंभी भक्ति के विरोधी थे।[3] उनकी भक्ति निष्काम भक्ति पर केन्द्रित थी।[4] भक्ति के क्षेत्र में राजा-रंक जाति पाति निःसार है। कबीर[5] भक्ति को धर्म से भी श्रेष्ठ मानते हैं

और कर्म सब कर्म हैं, भगति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारि कै भगति करौ तजि धर्म।

सन्त दादू तो भक्ति के बिना जीवन ही निरर्थक मानते हैं :

दादू हरि की भगति बिन धिग जीवन कलि माहिं[6]।

सहजोबाई भक्ति के बिना सभी योग यज्ञ और आचारों का धोखा समझती हैं

बिना भक्ति धोखे सभी जोग जज्ञ के चार[7]।

---

१ भगति भेख बहु अन्तरा जैसे धरनि अकास।

२ दादू माया मानसी पूजा भई अपार।
पूजि पुजारी ले चला है मूरख मुख द्वार॥

३ ज्ञान सम्पूरन ना भया हिरदा नाहिं जुड़ाय।
देखा देखी भक्ति का रंग न ठहि ठहराय॥

४ जब लग भक्ति सकाम है तब लागी निष्फल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिलै निःकामी निज देव॥

५ भक्ति गेंद चौगान की भावै कोई लै जाय।
कह कबीर कछु भेद नहिं कहा रंक कहा राय॥

६ दादू दयाल की बानी भाग १ पृष्ठ १५।

७ सहजोबाई की बानी पृष्ठ ८५।
सुन्दरदास की प्रस्तुत पंक्तियां भी इसी भाव से मिलती हैं
दीनेहि सुन्दर और दिया सब
राम बिना निहफल नर रावे।

सन्त सुन्दरदास ने भक्ति पर विस्तार के साथ अपने विचारों को "ज्ञान समुद्र" के द्वितीय उल्लास में अभिव्यक्त किया है। कवि ने विभिन्न योग वर्णनों में "भक्ति योग" को प्रधानता दी है। भक्ति-योग का वर्णन कवि ने ५६ छन्दों में किया है। इन ५६ छन्दों में सुन्दरदास ने भक्ति का महत्व, भक्ति के विविध प्रकार, नवधा-भक्ति श्रवण कीर्तन स्मरण पादसेवन अर्चन स्तुति वंदन दासत्व सख्यत्व आत्म निवेदन प्रेम-लक्षणा भक्ति का महत्व, पराभक्ति, भक्ति की विविध स्थितियाँ उत्तम मध्यम एवं कनिष्ठा भक्ति आदि विषयों पर विचार प्रकट किया है। सुन्दरदास के भक्ति-योग का आधार गीता है।[1] सुन्दरदास का भक्ति-योग वर्णन बहुत ही विशद और पूर्ण है।[2]

सन्त पलटूदास का तो यह विश्वास है कि भगवान के दरबार में भक्ति-मार्ग ही श्रेष्ठ है।

साहिब के दरबार में केवल भक्ति पियार[3]।

इन सन्तों का यह विश्वास है कि भक्ति को जाग्रत करने के लिए पूर्व-जन्म के संस्कार इस जन्म के कर्म और पूर्व जन्म के कृत कर्म आदि भी अपेक्षित होते हैं। कबीर के शब्दों में देखिये

कुछ करनी कुछ करम गति कुछ पूरब का लेखा।
देखो भाग कबीर का दोसत किया अलेखा॥[4]

सन्त गरीबदास उच्च कोटि के भक्त थे। उनका भक्ति विषयक दृष्टिकोण निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है

बिना भगति क्या होत है काशी करवत लेहु।
मिटै नहीं मन बासना बहु विधि भरम सँदेहु॥[5]

इन सन्त-कवियों ने किसी स्वार्थ भावना के वशीभूत होकर भक्ति-भावना नहीं की वरन् जनता को भक्ति का संदेश दिया। इनकी भक्ति की बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि जिसने हरि का भजन किया वही बड़ा है। पलटू का विश्वास देखिये

हरि का भजै सो बड़ा है जाति न पूछै कोय।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सन्त-कवियों का भक्ति में अत्यधिक विश्वास था। उनके मत से कोई भी भक्ति-साधना करने का अधिकारी हो सकता था चाहे वह किसी भी वर्ण विशेष का क्यों न हो।

१ सुन्दर-दर्शन डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृष्ठ १०७।
२ सुन्दर दर्शन पृष्ठ १ - ११६।
३ पलटू की बानी पृष्ठ ५।
४ कबीर-ग्रन्थावली पृष्ठ ११।
५ स० बा० सं० भाग १ पृष्ठ १८०।

सन्तों के साधनात्मक विश्वास के अन्तर्गत नाम-जप सहज-समाधि योग वैराग्य भक्ति का विश्लेषण किया गया है। नानक के शब्दों में साधनायें असंख्य हैं

असंख्य जप असंख भाव पूजा
असंख्य तप ताऊ
असंख्य ग्रन्थ मुख वे पाठ असख
योग मन रहहि उदास।[१]

निर्गुण-सन्तों का विश्वास उपर्युक्त पांच साधनाओं पर अत्याधिक था। ज्ञान वैराग्य और भक्ति के प्रति तो सभी सन्त-कवियों ने यथा भाव दिखाया है।

सन्त कबीर ने ज्ञान को साधना का प्रथम सोपान माना है। इसी कारण उन्होंने कहा है 'जे बाबरे है जिन्होंने ज्ञान का विचार नहीं किया है उनका जन्म संसार में वृथा ही समझना चाहिये'।[२] सन्त चरनदास ने भक्ति को सब साधनों का मूलाधार माना है। उन्होंने साधना की वृक्ष रूप में कल्पना की और उसका मूल भक्ति फल ज्ञान और शाखा योग को माना है।[३]

वैराग्य

इस संसार या संसार से परे परलोक के अखिल विभूत अथवा अदृष्ट एवं अमृत वस्तुओं से सर्व प्रकारेण वितृष्णा हो जाना ही वैराग्य है। मनुष्य के हृदय में जब तक किसी वस्तु विशेष के प्रति आसक्ति या अनुराग रहता है तब तक वह परब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्पादन में कभी भी नहीं सफलीभूत होता है। आसक्ति जीवन का सर्वाधिक महान अभिशाप है। वह मानव में स्थिर-मति दृढ-संकल्प और निर्मल दृष्टि नहीं रहने देता है। इसलिये सन्तों ने आसक्ति से अछूता रहने का उपदेश दिया है। उन्होंने बारम्बार कहा कि संसार में उसी प्रकार जीवन-यापन करना चाहिये यथा कमल जल में रहता हुआ भी उसके संस्पर्श से पृथक या विलग रहता है। जीवन समुन्नत पवित्र महान और निष्कलंक बनाने के लिये है। उसे वासनाओं और तृष्णाओं का क्रीड़ा-क्षेत्र नहीं बनाना चाहिये। वास्तव में विषयों से अनुराग की निवृत्ति विषय विराग से ही सम्भव होती है। विषयों में चित्त का अनुराग प्रधान रूप से चार कारणों से होता है। वे कारण निम्नलिखित हैं

---

१ नानक-सत-सुधासार पृष्ठ २१८।

२ बावरे तै ज्ञान विचार न पाया
  बिरथा जनम गवाया।

३ ज्ञान विचार के फले फूल
  जहाँ शाखा जोग औ भक्ति मूल।
  स बा स भाग २ पृष्ठ १७१।

(१) विषयों का अस्तित्व बोध
(२) विषयों में रमणीयता का बोध
(३) विषयों में सुख का बोध
(४) विषयों में प्रेम का बोध।

विवेक इन चारों की समुचित औषधि है। विवेक द्वारा ही वैराग्य प्राप्त होता है। इसीलिए नित्यानित्य-वस्तु विवेक की आवश्यकता पर सन्तों और विचारकों ने जोर दिया है। मानव को चाहिए कि वह जगत के अस्तित्व को बुद्धि से विचार दे। यदि इस प्रकार की स्थिति का उदय या विकास हो जाता है तो फिर रमणीयता सुख और प्रेम की कोई समस्या ही अवशेष नहीं रह जाती है। रमणीयता का बोध उत्पन्न होना यह प्रमाणित करता है कि हमारी चित्त-वृत्तियाँ विषयों की ओर उन्मुख हैं। विषयों में रमणीयता का प्रतिभास बुद्धि के विपर्यय से होता है और बुद्धि के विपर्यय में अज्ञान सम्भूत अविद्या का प्रमुख हाथ है। अविद्या असुन्दर में सौन्दर्य अनित्य में नित्यता दुःख में सुख अस्थिर में स्थायित्व प्रेमहीन में प्रेम की प्रतिमूर्ति असमस में मांगलिक असत में सद् तत्वों की स्थापना का आभास देती है। स्वप्न के सागर में बहते हुए मानव को नौका द्वारा कौन बचा सकता है जब तक वह स्वयं जागकर स्वप्न की निस्सारता का अनुभव न कर ले। इसी प्रकार संसार सत्ता रहित है पर असत् या अविद्या के कारण सब कुछ सद् प्रतीत होता है। वैराग्य के अभाव में परमार्थ वस्तु की प्राप्ति उसी प्रकार असम्भव है, यथा आकाश में दीवार उठाने का व्यर्थ प्रयास। साधक को वैराग्य की भावना सदैव जाग्रत रखना चाहिए। कबीर ने सत्य ही कहा था कि

> पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति।
> देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात ॥
> जारे देह भस्म ह्वै जाई, गाड़े माटी खाई।
> कांचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तनकी यही बड़ाई ॥

विषयों से वैराग्य हुये बिना ईश्वर में अनुराग होना असम्भव है। ईश्वरानुराग के बिना वास्तविक आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि हे अर्जुन! जब तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी दल-दल से निकल जायगी तभी तुम सुने जाने वाले सब विषयों से वैराग्य को प्राप्त करोगे

> यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
> तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
> गीता २।५२।

मुमुक्षु व्यक्ति को मन का मोह दूर करने वाले यथार्थ वैराग्य साधन का नित्य अभ्यास करना चाहिये जिससे माया के कार्यों एवं इस नश्वर जगत से अवकाश मिल सके।

तस्मात्तत्साधनं नित्यमावेष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।
यतो मायाबिलासा हि निर्वृत्त परमश्नुते ॥

सामान्यतः वैराग्य के सात लक्षण होते हैं

(१) ब्रह्मानुभूति के अतिरिक्त अन्य समस्त भोग फीके प्रतीत होना ।
(२) विषयों में विभीषिका महान् भय और दुःख दिखाई देना ।
(३) ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी प्रिय न लगना ।
(४) विषयों के त्याग की प्रबल इच्छा जाग्रत होना ।
(५) विषयों का त्याग हो जाना ।
(६) विषयों में समबद् भाव होना ।
(७) भगवान की एक मात्र सत्ता का आभास होना ।

अतः साधक को पहले वैराग्य की भावना हृदय में धारण करनी चाहिये ।

निर्गुण सन्त-कवियों ने वैराग्य का तो उपदेश दिया है पर महत्वपूर्ण बात यह है कि वे जंगल में जाकर साधना करने का उपदेश नहीं देते हैं । वैराग्य से उनका अभिप्राय है माया और वासना से मन को पृथक रखना । संत कबीर के शब्दों में देखिये

बनह बसें का कीजिए, जे मन नहिं परिहरइ विकार ।[1]

कबीर की भांति सभी निर्गुण सन्त-कवियों ने वासना के परित्याग और मन के सुधीकरण पर बल दिया है । सन्त पलटू के मतानुसार सच्चे वैराग्य की प्राप्ति वासना के बीज के नष्ट होने पर ही होती है

बीज वासना को जरै तब छूटै संसार ।

सन्त दरिया साहब का तो यहाँ तक विश्वास है, कि साधक की सफलता मन की विजय पर ही आधारित है

मन के जीते जीतिया मन के हारे हार ।[2]

यदि मन विकृत है तो सहज वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है । इसी कारण निर्गुण सन्त-कवि दादू ने ज्ञान-खड्ग द्वारा मन विरमा' अर्थात मन के विकारो[3] को दूर करने का उपदेश दिया है । यह ज्ञान-खड्ग गुरु सत्संग से ही प्राप्त होता है

---

१ कबीर-ग्रन्थावली पृष्ठ १ ८ ।
२ संत दरिया साहब पृष्ठ १ ।
३ विकार आठ प्रकार के होते हैं
काम क्रोध लोभ मोह अहंकार कपट आशा तृष्णा ।

ज्ञान ब्रह्म गुरु देव का ता संग सदा सुजान ।
मन मिरगा मारै सदा ताका मीठा मांस ॥[1]

सन्तों में गरीबदास ने वैराग्य पर साङ्गोपांग विचार किया है। वैराग्य की परिभाषा देते हुए गरीबदास ने उसके आवश्यक-तत्वों और अनिवार्य-अंगों पर भी विचार किया है। कवि के ही शब्दों में वैराग्य की परिभाषा निम्नलिखित है

वैराग नाम है त्याग का पांच पचीसौं माहि ।
जब लग सब्द सरप है, तब लग त्यागी नाहिं ॥
वैराग नाम है त्याग का पांच पचीसौं संग ।
ऊपर की कंचल तजी अंतर विषय भुवंग ॥
अलल बतल तब तज गये, तब गये बाद बिरेहु ।
माहीं संसा सूल है, दुरलभ तजना येहु ॥
बाद कुही मत ज्ञान की नपान बरन परबस ।
सूई सुम आकास तें संसा सरप महत ॥[2]

इनमें से प्रथम साखी विशेष ध्यान देने योग्य है। कवि ने संक्षेप में तत्व की बात कह दी है। निम्नलिखित साखी में कवि ने अवध फकीरी या वास्तविक वैराग्य का लक्षण अंकित किया है।

चार पदारथ एक कर, सुरत निरत मन पौन ।
असल फकीरी जोग यहु, गगन मंडल कूं गौन ॥[3]

इसी प्रकार कवयित्री सहजोबाई ने भी 'सत वैराग्य जगत मिथ्या' शीर्षक के अन्तर्गत वैराग्य पर सविस्तार विचार प्रकट किया है।[4]

सन्तों ने अपने काव्य में संसार की अनित्यता मृगमरीचिका एवं तृष्णा के दुष्प्रभाव वासना के विनाशकारी तत्वों का बारम्बार उल्लेख किया है और इस प्रकार जनता के हृदय में वैराग्य भाव समुत्पन्न करने का प्रयत्न किया। सत्य तो यह है कि वैराग्य की भावना का प्रचार और प्रसार मध्य-युग की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। मध्ययुगीन जनता वासनाओं महत्वाकांक्षाओं और मृगमरीचिकाओं के पीछे इतनी दौड़ रही थी कि उसका कोई अन्त नहीं था। महत्वाकांक्षा कनक और कामिनी के पीछे मध्य-युग में हर प्रकार के दुराचार और भीषण अत्याचार हुये। पिता ने पुत्र का वध किया भाई ने भाई के प्रति विश्वासघात किया मित्र ने मित्रता की जड़ों को विष से सिंचित किया पत्नी ने पति के प्रति विद्रोह किया—ऐसी भौतिकता

१ दादू की बानी भाग १ पृष्ठ ११ ।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ २ ।१२,१४।
३ स० बा स भाग १ पृष्ठ २०१।१ ।
४ स बा स० भाग १ पृष्ठ १६२।६१ ।

संत-साहित्य की महान परम्पराएँ

साहित्य जीवन का पर्याय एवं प्रतिबिम्ब है। ये उभय एक दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं। जीवन और साहित्य दोनों का विकास एक दूसरे पर निर्भर है। जैसे जीवन महान परम्पराओं का अनुकरण करता हुआ कल्याण के पथ पर अग्रसर होकर पूर्णता को प्राप्त करता है उसी प्रकार साहित्य महान परम्पराओं के कल्याणकारी पथ का अनुसरण करता हुआ जन-कल्याण की भावना का सर्जन करता है। परम्पराएँ जीवन और समाज को समान रूप बल प्रदान करती हैं। परम्पराएं जन-जीवन की पथ प्रदर्शिका तथा विधान-व्यवस्थापिका होती हैं। जिस प्रकार परम्पराएँ जीवन के लिए शक्ति और प्रेरणा देने का काम करती हैं, उसी प्रकार परम्पराएं साहित्य के लिए प्रेरक शक्तियों का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। साहित्य एवं जीवन द्वारा परम्पराओं का जन्म भी होता है, और परिपालन भी होता है। संतों ने हमारे साहित्य की अनेक परम्पराओं को अपनी महत्वपूर्ण जन-कल्याणकारी रचनाओं के द्वारा बल प्रदान किया। निर्गुण सन्त-कवियों ने साहित्य की महान परम्पराओं को जीवन प्रदान किया। भूत की घटनाओं और वर्तमान के कठोर सत्यों को इन्होंने भविष्य से शृंखलाबद्ध कर दिया। उनके साहित्य में संस्कारगत रूढ़ियों साहित्यिक मान्यताओं और तत्कालीन परिस्थितियों का अद्भुत समन्वय एवं चित्रण मिलता है।

परम्परा भूत और वर्तमान के सोपानों को पार करती हुई भविष्य की ओर अग्रसर होती है। दूसरे शब्दों में वह अतीत से भविष्य की ओर प्रगति की मूलधारा है जो क्रमशः चली आ रही है और यही उसकी जीवन दायिनी शक्ति है।

संतों की परम्पराओं को समझने के पूर्व उनकी एक-दो सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कर देना आवश्यक है। निर्गुण कवि स्वभाव से ही बुद्धिवादी और क्रान्ति प्रिय संत थे। प्राचीन रूढ़ियों को ध्वस्त करके नवीन आदर्शों की स्थापना करना संतों को बहुत प्रिय था। उनका रूढ़ि-विरोध क्रान्ति की सीमा तक पहुँच गया था। साथ ही उनके निष्कपट व्यवहार ने उन्हें अत्यधिक लोक-प्रिय बना दिया है। ये सन्त सम्प्र

सत्यान्वेषक थे एवं परम्पराओं के विरोधी थे। फिर भी उन्होंने अभिनव परम्पराओं की स्थापना की। उन्होंने सत्य का अन्वेषण कोरे वाग्जाल पर ही नहीं किया है, वरन् अनुभवों की शिला पर सत्य की खोज के साथ-साथ धर्म के सामान्य तत्वों पर अधिक बल दिया। इन बातों को ध्यान में रखते हुये हम अब सन्त–साहित्य की महान परम्पराओं पर विचार करेंगे। सामान्यतया सन्त–साहित्य की मुख्य परम्पराएं निम्नलिखित हैं:—

(१) मानवतावाद
(२) धार्मिकता
(३) जातीयता
(४) प्रगतिशीलता
(५) शाश्वतता तथा
(६) सजीवता।

मानवतावाद

संत-साहित्य की सर्वप्रथम महान परम्परा 'मानवतावाद' है। मानवतावाद पर विचार करने के पूर्व उसकी परिभाषा पर विचार कर लेना आवश्यक होगा। मानवतावाद शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम सोलहवीं शताब्दी में हुआ। परन्तु इतिहास के पृष्ठों को देखने से ज्ञात होता है कि सोफिस्ट सर्व प्रथम मानवतावादी थे। उसने यह प्रतिपादित किया कि एक दूसरे के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार संस्कृति सभ्यता आदि जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक तत्व हैं। सोफिस्ट के अनन्तर ग्रीक-दार्शनिक एवं विचारकों मे सार्कटीज का उल्लेख किया है। सार्कटीज ने यह आवश्यक माना है कि मनुष्य को सर्वप्रथम अपने को समझना या जानना आवश्यक है। कारण कि आत्म विश्लेषण के बिना हम दूसरे के दु ख या कष्ट को नही समझ सकते हैं। जिस बात से हमे कष्ट होता है वही दूसरे के लिए भी कष्टदायक हो सकती है। जो बात हमारी वेदना का आधार है वही दूसरे के लिये भी करुणा बन सकती है। जो हमारे लिए आपत्तिजनक है वह उसी प्रकार दूसरे के लिए भी हो सकती है। अतः हमें पहले अपने आपको समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि मानव को आत्म-विश्लेषण कर लेना चाहिए। उसे स्व का प्रसार समस्त सृष्टि में करना चाहिए। दूसरे की आत्मा में उसे अपनी ही आत्मा की उपस्थिति की कल्पना करनी चाहिये। इस प्रकार मानवतावाद की प्रथम सीढ़ी है या प्रमुख आधार है आत्म विश्लेषण आत्म-विस्तार आत्म-विवेचन।[1] मानव समस्त शक्तियों का स्रोत है[2]। वह परिस्थितियों का निर्माण परिवर्तन एवं स्वरूप प्रदान करने में पूर्णतया सक्षम है। इसी प्रकार अन्य दार्शनिकों एवं विचारकों ने मानवतावाद के विषय में अपने विचारों को सविस्तार प्रकट किया सभी विचारकों

---

1 I know thyself —Socrates
2 M occupies th central place of the scheme of things

ने आत्म-विश्लेषण तथा 'स्व' के प्रसार पर बल दिया है। परन्तु सोफिस्ट की विचार धारा ही सबके चिन्तन की बिन्दु है।

भारतीय-दर्शन के इतिहास में मानवतावाद के चिन्तन और विश्लेषण का सर्वोत्तम समय था उपनिषद् काल।[1] जैसा ग्रीक दार्शनिकों ने आत्म-ज्ञान और आत्म-विश्लेषण पर जोर दिया है उसी प्रकार हमारे भारतीय-दार्शनिकों ने भी आत्म ज्ञान और आत्म-विश्लेषण पर बहुत जोर दिया है। आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य समझा जाता था। आत्म ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ विकास था। इसके बाद और कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता है। आत्म-ज्ञान के अनन्तर मनुष्य का परम-कर्तव्य समझा जाता है उस ब्रह्म का साक्षात्कार अथवा ज्ञान प्राप्त करना जो समस्त जगत का हेतु कारण या कर्त्ता है। ज्ञान की ज्योति से आलोकित हो जाने पर मानव स्वतः विकास और प्रसार को प्राप्त करता है। वह हीनताओं से ऊपर उठकर औदार्य की व्यापक भूमि में प्रवेश करता है।

इस प्रकार आत्म-ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये बड़े बड़े दार्शनिकों ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की और अपने विचारों के प्रसार के लिए अथक परिश्रम किया। सम्राटों और शासकों के दरबार में विद्वान एवं ज्ञानी पुरुष ज्ञान प्राप्ति की चर्चा करके मानवतावाद का उपदेश करते थे। उनके चिन्तन और चर्चा का विषय होता था ज्ञान एवं 'मानवतावादी-विचार।

इसमें सन्देह नहीं है कि वह मानवतावादी दृष्टिकोण जिसका प्रचार भारतीय दार्शनिकों ने समय-समय पर किया था एक बड़े भारी कल्याणकारी वातावरण के प्रचार में अत्यधिक सहायक हुआ। इस विचारधारा ने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि की जहाँ मानव हृदय से मानव के प्रति सहानुभूति का भाव प्रस्फुटित हो उठा और एक दूसरे को समझने में सहायता पहुँची। मानवतावाद के प्रचार में उपनिषद् साहित्य एवं तत्कालीन दार्शनिकों ने बड़ी सहायता प्रदान की। इस दृष्टि से उपनिषद् काल मानवतावाद के प्रचार के लिये सबसे उत्तम समय माना जाता है।

मानव की शाश्वत सुख की लालसा उसके अमृतत्व में ही सन्निहित रहती है। मानव के सुख का लक्ष्य या उद्देश्य शारीरिक सुख या भौतिक सम्पत्ति की प्राप्ति ही नहीं होती वरन् इसके अतिरिक्त कुछ और भी है जो मानव को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता है और वह है 'सत्य'। भौतिक-सम्पत्ति और भौतिक सुख से आनन्द से मानव का चित्त कभी न कभी उचट जाता है। परन्तु सत्य सिर्फ

---

1 The period of upanishada certainly the most glorious period of Indian Humanism

Humanism and Indian Thought

—Mr A Chakravarti—P [illegible]

सुन्दरम् के सान्निध्य और नैकट्य में रहकर मानव का मन कभी भी विकृत नहीं होता है। वास्तव में मानव-जीवन का परम उद्देश्य या लक्ष्य है चिर-सत्य की प्राप्ति करना। इस 'चिर-सत्य' की प्राप्ति आत्मोन्नति तथा आत्म परिष्कार के अभाव में सम्भव नहीं है। मानव की आध्यात्मिक उन्नति तभी हो सकती है जब समस्त जीवों पर समान स्नेह हो और जब सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति न रहे। तात्पर्य यह है कि मानव संकुचित भावनाओं से ऊपर उठकर ही 'बेहद' प्रदेश में प्रवेश कर सकता है। भारतीय दार्शनिकों ने बारम्बार 'आत्मवत सर्वभूतेषु य पश्यति स पंडित' का उपदेश दिया है। इसी प्रकार भारतीय-दार्शनिकों ने कहा है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामय। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुख भाग्भवेत।' हमारी चिन्तन-धारा सदैव से इस बात पर जोर देती रही है कि दूसरे को आत्मवत् समझना चाहिये। दूसरे के कष्टों व्यथाओं और दुःखों को अपनी अनुभूति बनाना चाहिये। इस उदार दृष्टिकोण ने भारतीय-जीवन के समस्त कलुषों को धोकर उसे निर्मलता प्रदान करने का प्रयत्न किया। कहना न होगा कि इस दृष्टि ने भारतीय जीवन में दिव्यता तथा अद्भुत आनन्द की सृष्टि एवं संचार किया और उसे उदात्त बनाने में अपूर्व योग प्रदान किया। इस सिद्धान्त से प्रेरित होकर भारतवर्ष के महान महाजनों तथा महात्माओं ने कर्तव्य-पथ पर अपना जीवन-यापन किया।

मानवतावाद का आधारभूत या मूल-सिद्धान्त है समस्त प्राणियों को 'आत्म' से भिन्न न समझना समस्त जीवों में दया भाव का समान रूप से प्रसार करना सबकी दुःख की अनुभूति को आत्मानुभूति बनाना। इसका प्रमुख कारण यह है कि सबका रचयिता एक ही है। एक ही अंश के सब अंशी हैं। फिर मानव मानव के बीच यह विरोध कैसा ? न कोई बड़ा है न कोई छोटा न कोई उच्च है न कोई नीच। सब में एक ही आत्मा का प्रसार है। सब एक ही कलाकार की कृतियां हैं। एक ही ईश्वर ने सबको जन्म दिया है। सब समान हैं। जाति-पांति का भेद भाव नहीं होना चाहिये। कर्म मानव के स्वरूप को बनाने बिगाड़ने वाला है। केवल कर्म से ही मनुष्य पूज्य भी बन सकता है। वैदिक-साहित्य में लिखा हुआ है

गर्दभी गर्भ संभूतो विशिष्ठोनाम महामुनि।
तपसा ब्राह्मणो जात तस्मात् जातिरकारणम्॥
चंडाली गर्भ सम्भूत पाराशर्नाम महामुनि।
तपसा ब्राह्मणो जात तस्मात् जातिरकारणम॥
धीवरी गर्भ सम्भूत पराशरो महामुनि।
तपसा ब्राह्मणो जात तस्मात् जातिरकारणम॥
अरण्यजन्यास्तु तपसोविशुद्ध व्यासो महामुनि।
तपसा ब्राह्मणो जात तस्मात् जातिरकारणम॥[1]

अर्थात् वशिष्ठ का जन्म एक गर्त की कन्या से हुआ था। कपिल का जन्म चांडाल स्त्री से हुआ था पराशर का जन्म श्वपाकी से हुआ था व्यास मुनि का जन्म एक मत्स्य-गन्धी स्त्री से हुआ। अपनी-अपनी साधना के कारण सभी मानवता के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार तपस्या साधना और कर्मों से मनुष्य ब्राह्मण बनता है जन्म और परिवार से नहीं।

जैनियों के मतानुसार एक अछूत यदि अपने चरित्र में उच्चकोटि का है सत्यवादी एवं महान विचार रखता है तो वह भी इतना पवित्र एवं आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च हो सकता है कि उसकी पूजा देवगण भी करते हैं।[1]

मानवतावादी विचारधारा से प्रेरित होकर हिन्दी के संत-कवियों ने भी जाति पाँति को निस्सार बताया है। सन्त दादू का कथन है

> न पहुँचे ते कहि गये तिनकी एकै बात।
> सबै सयाने एक मति तिनकी एकै बात॥

अर्थात् तत्व के वेत्ताओं में शरीर भेद होता हुआ भी दृष्टिभेद नहीं होता है। वे सब एक ही प्रकार के विचारों से ओतप्रोत और सुसम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सन्त कबीर ने भी अपने विचारों को प्रकट करते हुए कहा है कि —

> जाति न पूछो साध की पूछो उसका ज्ञान।
> मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान॥

तात्पर्य यही कि मानव की आत्मा को ऊँचे का प्रयास करना चाहिए। बाह्यावरण में न कोई उच्च होता है, न निम्न।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय मानवतावाद की पृष्ठभूमि उच्च आध्यात्मिकता ही है। यही कारण था कि विदेशियों के भीषण आक्रमणों से भी भारतीय योगियों की शान्ति भंग नहीं हुई। उनके यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, ध्यान धारणा और समाधि बिना किसी विघ्न-बाधा के चलते रहे और यदि विघ्न पड़े भी तो क्षणिक रूप से। वे बाह्य संसार को छोड़कर ध्यानावस्थित होकर आभ्यान्तरिक साधना में संलग्न रहे। आत्मा की स्वतंत्रता के आगे देश की स्वतंत्रता का महत्व उनके मन में न बैठ सका। अतः उन्होंने उसकी ओर ध्यान न दिया।

मध्य-युग में जब कि उत्तर पश्चिम से अनवरत रूप से आक्रमण हो रहे थे जब कि भारतीय-धर्म साहित्य एवं संस्कृति अत्याधिक संकटपूर्ण परिस्थितियों में श्वास ले रही थी और जब कि निराशा का तिमिर भारतीय-जनता को विनाश के गर्त की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर कर रही थी उसी समय सन्त-कवियों ने अपनी मधुरवाणी से जीवों को समता और एकता का उपदेश दिया। समता एकता

---

1 Humanism and Indian Thought

—A Chakravarti—Page 27

विश्वबन्धुत्व तथा औदार्य के ये संदेश भारतीय-जनता के प्रति महापुरुषों ने समय-समय पर उच्चारित किये और उनका प्रसार किया।

संत-साहित्य का मूल मंत्र है मानवतावाद । संतों की वाणियों का मूलाधार यही मानवतावाद है। कबीर से लेकर संत-साहित्य के अंतिम कवि चरनदास तक सभी ने जीवन की धारा को मानवतावादी दृष्टि से समलंकृत करने की चेष्टा की। संतों का मानवतावाद मनुष्य जाति तक ही सीमित न रहकर पशुपक्षी जीव-जन्तु तथा वनस्पति जगत तक प्रसारित है। युगप्रवर्तक रामानन्द से प्रेरित और अनुप्राणित होकर सन्त कबीरदास ने मानवतावादी विचार-धारा का प्रचार एवं प्रसार करने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं उन्होंने भारतीय चिन्तन-धारा में एक नवीन परिच्छेद प्रारम्भ किया जिसके द्वारा समानता की भावना को प्रसार मिला। कबीरदास ने एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जिस पर उनके अनन्तर आविर्भूत अन्य सन्त-नानक दादू सुन्दरदास मलूकदास चरनदास आदि ने चलकर समता का उपदेश भारतीय जनता को समय समय पर सुनाया। इनकी प्रेरणा से हिन्दी के ज्ञानाश्रयी भक्त कवियों की एक शाखा चल पड़ी। ये सन्त सभी जातियों के थे। इनकी मूल भावना थी 'हरि का भजे सो हरि का होई'। जाति पांति के भेद भाव से इन्हें मोह न था। इन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में ललकार कर कहा कि सभी एक ही ब्रह्म की कृतियां हैं। सभी एक ही कुम्हार की रचना हैं फिर 'को ब्राह्मन को सूदा'। भेद भाव तो मन का मैल है। उन्हों ने स्पष्ट रीति से कहा

साधो मन का मैला त्यागो।

तथा

ऊँच नीच सब मौरत बन्दे।
सब हैं उस मस्ता के बन्दे ॥[1]

हिन्दी के निर्गुण संत कवियों का लक्ष्य बड़ा ही व्यापक था। इन्होंने जीवों के निस्तार के लिए अवतारों के उपदेश दिए। मानव को कल्याण-कारी पथ पर अग्रसर करना ही इनका सबसे बड़ा लक्ष्य था। इन सन्तों के हृदय में व्यक्ति के हेतु सहानुभूति एवं सम्वेदना की भावना थी। वे संसार को सभी और प्रसन्न देखना चाहते थे। इसी कारण सन्त कवियों ने मानव जीवन के सभी पक्षों धार्मिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक को सुधारने की चेष्टा की। ये सन्त मानवता को सदैव ही शृंखलाओं से उन्मुक्त रखना चाहते थे और भविष्य में एक स्वस्थ एवं आशापूर्ण दृष्टिकोण के आकांक्षी थे। यह मानवतावादी दृष्टिकोण सन्तों के साहित्य में आन्तरीन है। एक भी ऐसा सन्त नहीं है जिसका दृष्टिकोण मानवतावादी विचारधारा से सम्पृक्त न रहा

१ हरि मन बानी की उमरा उत्थान।
— रामवी भाग गरायन पृष्ठ १।

ही। मानव के आध्यात्मिक और लौकिक जीवन को सुखी बनाने के हेतु, इन संत कवियों ने बारम्बार सन्मार्ग एवं कल्याणकारी पक्ष की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने पारमार्थिक सत्ता की एकता निरूपित करके यह प्रतिपादित किया कि मानव मानव में भेद नहीं है। सब प्राणी एक ही कलाकार की कृतियाँ हैं। हिन्दू और मुसलमानों ने अपनी-अपनी मिथ्या कल्पना के आधार पर ब्रह्म के सम्बन्ध में विविध प्रकार की निस्सार धारणाएं स्थापित कर ली हैं। माया भ्रम अथवा अज्ञान के कारण इस सत्य को नहीं देख पाते हैं। सत्य ही ब्रह्म है, और ब्रह्म ही सत्य है। उसमें द्वैत और भेद नहीं है। वह पूर्णतया अद्वैत अनाम अजात अमर और अनन्त है। संसार का कोई भी कार्य उसकी इच्छा के बिना नहीं सम्पादित होता है। वह सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ है। उस ब्रह्म को लेकर जो भेद भाव हिन्दू और मुसलमानों में चलते हैं, वे निरी मूढ़ता के द्योतक हैं। अज्ञान का विसर्जन करके मूढ़ता का परित्याग करके प्रेम सद्भावना और सहृदयता का प्रसार न केवल व्यक्तिगत जीवन के लिये वरदान है वरन् समाज के उत्थान और विकास के लिये भी नितान्त आवश्यक और उपयोगी है। सद्भावना के प्रसार से मनुष्य के जीवन में औदार्य स्नेह, करुणा प्रेम त्याग तथा विश्वबन्धुत्व की भावनाओं का स्वतः विकास हो जाता है जो मानव के लिये नितांत आवश्यक है। मनुष्य का स्वभाव श्रेय भी है प्रेय भी है। धीरवान व्यक्ति दोनों को पृथक्-पृथक् दृष्टि से देखते हैं। साधु श्रेय को ग्रहण करते हैं और असाधु प्रेय को

> श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
> तयो श्रेय आददानस्य साधु हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥[१]

सद्भावना और सहृदयता के प्रचार के लिये प्रेम के साथ ही व्यापक दृष्टिकोण एवं औदार्य धारण करने की बड़ी आवश्यकता है। मानवतावादी भावना सन्तों की सबसे बड़ी विशेषता है। कबीर जैसे उदार सन्त-कवि संसार में प्राणिमात्र को सुखी देखने के आकांक्षी थे। मलूकदास की साखियों में मानवतावाद की पराकाष्ठा उपलब्ध होती है। कवि संसार भर के दुःख कष्ट और दारिद्र्य को अपने सिर पर, इसलिये ले लेना चाहता है कि संसार का भार हलका हो जाय। इससे अधिक व्यापक तथा महत्वपूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण होगा भी क्या ? मलूकदास ने स्वतः कहा है कि

> जे दुखिया संसार में खोवो तिनका दुक्ख।
> दलिद्दर सौंपि मलूक को लोगन दीजै सुक्ख ॥[२]

सन्त मलूकदास जीवन के लिये दया और धर्म को आवश्यक तत्व मानते हैं। कारण कि दया समस्त धर्मों की आधारशिला है।

---

१ मनुष्य का धर्म ले रवीन्द्र नाथ टैगोर पृष्ठ २ ।
२ म बा स भाग १ पृष्ठ १ ४।

जथा धर्म हिरदे बस बोलै अमृत बैन ।
तेई ऊँचे जानिये जिनके नीचे नैन ॥[1]

मलूकदास के ये विचार एवं भावनाएँ बड़ी प्राचीन हैं। ये शाश्वत भावनाएँ हैं जो बिना अपवाद प्रायः सभी सन्तों के काव्य में उपलब्ध होती हैं। इसी भावना का प्रचार आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व निम्नलिखित शब्दों में हुआ था

सब्बे सत्ता सुखिता अवेरा होन्तु अब्यापज्झा होन्तु सुखी अत्तानं परिहरन्तु। सब्बे सत्ता दुक्खा पमचन्तु। सब्बे सत्ता मा यथालद्ध सम्पत्तितो विगच्छन्तु ।[2]

अर्थात् समस्त जीव सुखी हों निःशत्रु हों अवध्य हों सुखी होकर कालहरण करें। समस्त जीवन दुःख से मुक्त हों समस्त जीवन यथालब्ध सम्पत्ति से वंचित न हों।

मानवतावाद से ही प्रेरित होकर इन सन्त-कवियों ने संसार को भांति भांति के कल्याणकारी मार्ग प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। इनके मानवतावाद का केन्द्र बिन्दु है अद्वैत ब्रह्म। ब्रह्म अद्वैत है। वही सम्पूर्ण जगत का नियन्ता है। वही समस्त सृष्टि का विकास केन्द्र है। वही सबका रचयिता है। जब सभी एक ही ब्रह्म की कृतियां हैं तब फिर

अयं निजः परोवेति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

मनुष्य ही नहीं समस्त सृष्टि ही उसी के द्वारा विरचित है। उसकी सामर्थ्य अद्वितीय है।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वम कल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥[3]

ऐसा वह ब्रह्म एक ही है। वेदों ने भी कहा है

(१) एक मेवा द्वितीयम् (छान्दोग्य ६।२।१)।

(२) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद २।१।२२।४६)।

(३) एकं सन्तं बहुधा कल्पन्ति।

वह ब्रह्म सत्य ज्ञान स्वरूप एवं अनन्त है

(क) सत्यं ज्ञान अनन्तं ब्रह्म (तैत्ति २।१।१)

(ख) विशुद्ध केवलं ज्ञानं प्रत्यक सम्यगवस्थितम्।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशया ॥
(भागवत २।६।३६ ४)।

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ १ ४

२ मनुष्य का धर्म से रवीन्द्रनाथ टैगोर पृष्ठ ६५।

३ ऋग्वेद । १४ ।१ ।

उपनिषदों में कहा गया है कि एक ही ब्रह्म सब प्राणियों के भीतर छिपा हुआ है सब में व्याप्त है, सब जीवों के भीतर का अन्तरात्मा है। जो कुछ कार्य सृष्टि में हो रहा है उसका नियन्ता वही है। वह सब प्राणियों के भीतर बसा है। सब संसार के कार्यों का साक्षी रूप में देखने वाला चैतन्य केवल एक ब्रह्म है जिसका कोई जोड़ नहीं है और जो गुणों के दोष से रहित है

एकोदेव सर्वभूतेषुगूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
(श्वेता ६/११)

यह केवल ब्रह्म ही सन्तों का प्रतिपाद्य और साध्य है। सन्त कबीरदास के शब्दों में

पावक रूपी साइयां सब घट रह्या समाय।
चित चकमक लागै नहीं ता ते बुझि बुझि जाय॥[१]

दादू के शब्दों में तो वह सब घटों में निवास करता है।[२] मन जाति पाति मिथ्या है और हिन्दू मुसलमान एक हैं दोनों का ब्रह्म एक है कहकर इन सन्त कवियों ने मुसलमान हिन्दुओं के बीच के भेद भाव को मिटाने का प्रयत्न किया।

आध्यात्मिक-पक्ष में इन सन्तों ने निर्गुण-ब्रह्म को ही ग्रहण किया और उपासना के क्षेत्र में निर्गुण-ब्रह्म की प्रतिष्ठा करके तथा परमार्थ सिद्धि में वेदों-पुराणों तथा कुरान आदि की गौणता प्रदान करके इन सन्त कवियों ने एक ऐसी भूमिका प्रस्तुत की जिस पर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही समान भाव से खड़े हो सकते हैं। इस प्रमुख तत्व ने हिन्दू-मुसलमानों को अत्यधिक निकट लाकर खड़ा कर दिया। इसी भाव ने मानवतावादी विचारों को जन्म दिया।

मानवतावाद विषयक अपने विचारों के प्रसार के लिये सन्तों ने सप्त-महाव्रतों का उपदेश दिया जिनसे मानव का व्यक्तिगत तथा समाजगत जीवन सुखी बनता है। सप्त महाव्रतों का विवरण निम्नलिखित है

(१) सत्य
( ) अहिंसा
(३) ब्रह्मचर्य

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ३४।
२ सब घट माहै रमि रह्या बिरला बूझै कोई।
सोई बूझै राम को जो राम सनेही होई॥
स बा स भाग १ पृष्ठ ६।

(४) अस्वाद
(५) अस्तेय
(६) अपरिग्रह तथा
(७) अभय।

आचार्यों का कथन है कि सत्य ही ज्ञान है ब्रह्म है और संसार की वास्तविक गति है। संसार का कार्य सत्य पर ही चल रहा है। सत्य के अभाव मे सांसारिक कार्य नहीं चल सकते है। एक क्षण के लिए भी यदि सत्य अपना कार्य बन्द कर दे तो प्रलय हो जाय। यदि कोई मिथ्या आचरण करता है, तो सत्य आचारण करके दूसरा तत्काल ही सृष्टि की रक्षा करता है। संसार सत्य पर ही चल रहा है। भौतिक शक्तिया भी सत्य पर ही चल रही है। सत्य के बल पर ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से ही सूर्य तपता है सत्य से ही वायु प्रवाहित होती है सत्य मे ही सब स्थिर है। चाणक्य नीति' में कहा गया है —

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रवि।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम ॥

सन्तों ने भी सत्य के प्रति बड़ी श्रद्धा प्रकट की है। कबीरदास[1] दादू[2] गरीबदास[3] नगिया साहब[4] भीखा साहब चरनदास[6] मलूकदास[7] आदि सन्तों ने मानवतावादी भावनाओं के विकास और प्रसार के लिये सत्य को अनिवार्य तत्व माना है। सत्य-व्यवहार सत्य कर्म सत्य-वचन सत्य-अनुभूति जीवन को उदात्त बनाने में सहायक होती है और इस प्रकार मानव समाज सुखी और सम्पन्न बनता है। इसीलिये कबीर ने कहा था

साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है ताके हिरदै आप॥

गरीबदास के मत से सत्य मे पग हुये साधक सच्चे संत है। उनमें दोष कभी प्रवेश नही कर पाता है और वे ब्रह्म के प्रिय होकर ससार मे सद्गुणों को प्रकट करते है

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ८।१।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ ९४ १।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ २ ३।१।
तथा स बा स भाग १ पृष्ठ २ ३।११।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ २ ४।१।
५ भीखा साहब की बानी पृष्ठ ५ ।५।
६ स बा स० भाग १ पृष्ठ १८८।
७ मलूकदास की बानी पृष्ठ १७।

साचे सूरे संत हैं सरवाले अनुसार।
साच दोसत प्यारे नहीं एक नाम लीमार॥
सत सुहत मन बूगी का उर ज्ञान विवेक।
साच रूप साईं मिले पूरन ब्रह्म अलेख॥
सत सुहत संतोष मन माधीनी अधिकार।
दया धरम का उर बसे सो साईं दीदार॥[1]

सत्य की ही सर्वत्र विजय होती है। सत्य-मार्ग से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। ऋषियों का कथन है —

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येनपन्थाविततो देवयान।

इसी भाव की झलक हमें सन्तों के काव्य में स्थल-स्थल पर दृष्टिगत होती है।

दूसरा महाव्रत जिसका उपदेश सन्तों ने दिया वह है 'अहिंसा'। अहिंसा मानवता-वाद की प्राण-शक्ति है। जब तक हम हिंसा में लगे रहेंगे तब तक हम एक दूसरे के प्रति ममता की भावना की स्थापना कर ही नहीं सकते हैं। 'महाभारत' के वन-पर्व में उल्लेख हुआ है

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतांधर्मः सनातनः॥

अर्थात् मन कर्म वचन से सर्वभूत के साथ अद्रोह रखना ही सज्जनों का सनातन धर्म है। सामाजिकता नैतिकता और आध्यात्मिकता की दृष्टि से हिंसा का परित्याग होना परमावश्यक है। 'महाभारत' के अनुशासन पर्व में लिखा है।

अहिंसा परम धर्म है अहिंसा परम तप है अहिंसा परम सत्य है, अहिंसा से ही धर्म की उत्पत्ति होती है। अहिंसा परम संयम है अहिंसा परम दान है अहिंसा परम यज्ञ है अहिंसा परम फल है अहिंसा परम मित्र है। सब यज्ञों में दान किया जाय सब तीर्थों में स्नान किया जाय सब प्रकार के दानों का फल प्राप्त हो तो भी उसकी अहिंसा के साथ तुलना नहीं की जा सकती है'[2]। साथ ही यह भी कहा गया है कि जो

---

1 गरीबदास की बानी पृ० १२।११ ११।

2 अहिंसा परमो धर्मस्तथा हिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मं प्रवर्तते॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परमं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत् तुल्यमहिंसया॥ 'महाभारत' अनुशासन-पर्व।

व्यक्ति प्राणी मात्र पर दया करता है, मांस भक्षण नहीं करता किसी से कभी भी नहीं डरता वही दीर्घायु, आरोग्य तथा सुखी होता है।

मनुष्य सर्व भूतानामायुष्मान् [illegible] सुखी ।
मत्स्यमांसं [illegible] भावान् प्राप्ति नामिह ॥[1]

इस प्रकार सभी धर्म ग्रन्थों ने अहिंसा की महिमा गाई है। जैन एवं बौद्ध-धर्म तो अहिंसा का ही प्रधान रूप से प्रतिपादन करते हैं। इतिहास इसका साक्षी है। यह कहना असंगत न होगा कि अहिंसात्मक-प्रवृत्ति हिन्दू-धर्म एवं जीवन की एक महान एवं बहुमूल्य निधि है। बौद्ध-धर्म में अहिंसा व्रत को समस्त धर्मों से महान एवं उच्च माना गया है। "अहिंसा परमोधर्म" उसका मूल सिद्धान्त है।

निर्गुण सन्त-कवियों की अहिंसा भावना बड़ी व्यापक है। कबीरदास तो यहाँ तक कहते हैं कि

घट-घट में वह साँई रमता
कटुक वचन मत बोल रे ॥[2]

उसी प्रकार सन्त दादू का कथन है

जिस सूं बैरी ह्वै रह्या दूजा कोई नाहिं।
जिसके अंग थैं ऊपज्या सोई है सब माँहि ॥
काहे को दुख दीजिये घट-घट आतम राम।
दादू सब सन्तोषिये यह साधू का काम ॥
काहे को दुख दीजिये साँई है सब माँहि।
दादू एकै आतमा दूजा कोई नाँहि ॥[3]

मलूकदास के शब्दों में अहिंसा का महत्त्व पठनीय है। मलूकदास की अहिंसा तथा दया भावना का प्रसार जीव-जंतु, पशु-पक्षी तथा वनस्पति जगत तक हुआ है।

पीर सबन की एक सी मूरख जानत नाहिं।
काँटा चूभे पीर ह्वै गला काट कोउ खाय ॥
कुंजर चींटी पशु नर सब में साहिब एक।
काटै गला खुदाय का करै सूरमा लेख ॥[4]

---

१ महाभारत अनुशासन-पर्व ।

२ १९५९ में लखनऊ विश्वविद्यालय पत्रिका में प्रकाशित डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का निबन्ध 'सन्तों की अहिंसा भावना'।

३ १९५९ में लखनऊ विश्वविद्यालय पत्रिका में प्रकाशित डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित का निबन्ध 'सन्तों की अहिंसा भावना'।

४ म० बा० स० भाग १ पृष्ठ १ १।

इन सन्त कवियों ने जनता में भय की भावना को भी उत्पन्न करके अहिंसा-व्रत पालन करने का उपदेश किया है

> मांस-मांस सब एक है मुरगी हिरनी गाय।
> मांस देखि के खात है ते नर नरकहि जाय ॥[1]

तथा

> बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
> जे नर बकरी खात हैं तिनको कौन हवाल ॥

अहिंसा भावना से प्रेरित होकर नानक ने गाय और बकरी को एक ही प्रकार से अवध्य माना है

> क्या बकरी क्या गाय है क्या अपना जाया।
> सबका लोहू एक है साहिब फुरमाया।
> पीर पैगम्बर औलिया सब मरने आया।
> नाहक जीव न मारिये पोषन को काया ॥

सभी निर्गुण सन्त-कवियों ने अहिंसा व्रत धारण करने के उपदेश दिये जो कि अनेक धर्मों के प्रवर्तकों के भावों से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। अहिंसा के विषय में लिखते समय उनका अर्थ केवल 'वध न करना' 'जीव न मारना' 'हिंसा न करना' ही नहीं है वरन् उस संकुचित क्षेत्र से बाहर आकर कटु वचन तक बोलने को इन सन्त कवियों ने मना किया है। यही अहिंसा भावना हमें महात्मा गांधी में भी मिलती है।[2]

हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों के उस संघर्ष काल में जब कि राज्य प्राप्ति के लिए रुधिर की सरिताएं बहाई जा रही थी अहिंसा का उपदेश देकर सन्त-कवियों ने निराश जनता को मार्ग दिखाया। उन्होंने बताया कि यदि सद्भावना से प्रेरित होकर जीवों के साथ व्यवहार किया जाय तो उनकी आत्म-शक्ति जाग्रत हो सकती है जिससे वह अपेक्षित साहस तथा विश्वास सहित सामना किया करते हैं।

इसी प्रकार सन्तों ने ब्रह्मचर्य धारण करने का भी उपदेश दिया। ब्रह्मचर्य

---

१ कबीर दास के इसी भाव से मिलता हुए सन्त मलूकदास की यह साखी देखिये

> पीर सबन की एक सी मुरगी हिरनी गाय।
> आंख देखि ज खात हैं ते नर नरकहि जाय ॥

२ "Ahimsa is not the crude thing it has been made to appear not to hurt any living being or thing is no doubt a part of Ahimsa"

'Teaching by M. Gandhi —Page 404

जीवन के लिये बहुत आवश्यक है। ब्रह्मचर्य और तप के बल पर ही देवता मृत्यु को भी जीत लेते हैं —'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'। मनुष्य इन्द्रियों का चेरा होता है। इन्द्रियों की प्रचंड ज्वाला में जलता हुआ मानव उसी प्रकार नष्ट हो जाता है यथा दीपक की लौ पर पतंग नष्ट हो जाता है। वासना में संलग्न मानव कभी भी साधना और परमार्थ में दत्त-चित्त नहीं हो सकता है। सन्तों ने मन वचन कर्म से ब्रह्मचर्य पालन करने का उपदेश दिया है। संयम जीवन के लिये सबसे बड़ा बरदान और प्रेरक शक्ति है। सन्तों ने इसलिये मानवतावादी भावना के प्रसार के लिये ब्रह्मचर्य को उपयोगी माना है। सन्तों के इस प्रकार के उपदेश 'चेतावनी के अंग' में संग्रहीत हुये हैं। इसके अतिरिक्त 'पतिव्रता को अंग' में भी इन कवियों की संयम एवं ब्रह्मचर्य भावना की अभिव्यक्ति हुई है।

उपर्युक्त इन तीन महाव्रतों पर विचार कर लेने के बाद विचारणीय हैं, शेष चार महाव्रत। ये महाव्रत हैं सत्य अस्तेय अपरिग्रह तथा अभय। सन्तों ने इनके प्रति इसलिये महत्व स्थापित किया है कि ये गुण या व्रत औदार्य विनयशीलता और व्यापक भावनाओं का सर्जन करते हैं। इनके द्वारा मानव-मानव को समझने का प्रयत्न करता है और व्यापक भावनाओं को धारण करता है।

सन्तों ने मानव की हर प्रकार की कुप्रवृत्तियों की आलोचना की। उन्होंने अपने समय की जनता को बताया कि मनुष्य को एक दूसरे का शोषण नहीं करना चाहिये। सबको दीनता की भावना ग्रहण करके सच्चाई और ईमानदारी के साथ जीवन यापन करना चाहिये। कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि

> सबते लघुताई भली लघुता ते सब होय।
> जस दुतिया को चन्द्रमा सीस नवै सब कोय ॥[१]

सन्त गरीब दास ने भी इसी भाव पर जोर दिया है :

> सरग-नरक बांछे नहीं मोच्छ बन्ध से दूर।
> बड़ी गरीबी जगत में संत चरन रज धूर ॥[२]

सहजोबाई के शब्दों में

> पग छीटाउन गुन महा बिरण बड़ाई रम्यार।
> सहजो नन्हा हूजियों गुन के बचन सम्हार ॥[३]

चरनदास मलूकदास तथा अन्य सन्तों ने भी इसी प्रकार से दीनता ग्रहण करके जीवन-यापन करने का उपदेश दिया है। सच यह है कि यदि सभी संतोष

---

१ स ब स भाग १ पृष्ठ २१।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १८९।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ १६९।

और दीनता को ग्रहण कर ले तो संसार के समस्त अनाचार, दुराचार भ्रष्टाचार तथा संघर्ष समाप्त हो जायें और मानव-मानव बनकर जीवन यापन करने लगे। सन्तों के मानवतावाद का सन्तोष एवं दीनता अभिन्न अंग है। इन उपदेशों ने युग-युग से पीड़ित एवं निराश जनता के हृदय में आशा का संचार किया। निर्गुण सन्त कवियों ने अपने काव्य में संजोये हुए सरल भावों द्वारा भटकती हुई जनता का पथ-प्रदर्शन किया। पथभ्रष्ट को मार्ग दिखाई पड़ा और बाह्याडम्बर से दूर मानव एक दूसरे के दुःख एवं कष्ट की ओर ध्यान देने लगा। धीरे-धीरे जनता इस ओर आकर्षित हुई।

सन्त-कवियों का विचार था कि सद्गुण एवं नैतिक शक्ति बहुत ही प्रभावोत्पादक होती है। इस कारण इन कवियों ने मानव में मानसिक शक्ति बढ़ाकर उत्साह भरने की चेष्टा की। उनका विचार था कि मनुष्य में वह शक्ति है, कि वह अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर सकता है। ये ज्ञानी सन्त महात्मा नैतिकता से पूर्ण मानवतावाद की ओर ही अधिक ध्यान दे रहे थे। जिसके कारण जनता के दृष्टिकोण में औदार्य का समावेश हुआ। दर्शन के क्षेत्र में जो कटुता थी वह साहित्य में अधिक से अधिक उपालम्भ बनकर रह गई और मानवता की सतह पर आ गई। निर्गुण सन्त-कवियों की अभिव्यंजना विधि में कटुता बहुत कुछ मृदु हो गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय निर्गुण सन्त-कवियों ने मानवतावाद की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया। प्रेम अहिंसा सत्य शान्ति त्याग क्षमा दया सहनशीलता ही मानवतावाद के गुण हैं। इस पर सन्त-कवियों ने समय-समय पर प्रकाश डाला है

धार्मिकता

निर्गुण सन्त-साहित्य की द्वितीय महान परम्परा धार्मिकता' है। इनके सम्पूर्ण साहित्य की रचना ही धर्म को दृष्टि में रखकर हुई है। यह अवश्य है कि धर्म के क्षेत्र मे उन्होंने एक क्रांति उपस्थित कर दी। परन्तु फिर भी जिस कठोरता से रूढ़ियों का विरोध किया उसी दृढ़ता से उन्होंने बुद्धिवादी सिद्धान्तों की भी स्थापना की है। वे किसी भी बात को तभी स्वीकार करते थे जब वह उनकी बुद्धि के अनुभव की कसौटी पर खरी उतरती थी। सन्त-कवि सत्यान्वेषक थ। सन्तों का धर्म बड़ा व्यापक है। जिस प्रकार उनका ब्रह्म व्यापक और सब जाति-वर्णों का जन्मदाता है उसी प्रकार उनका धर्म भी व्यापक है। इनका धर्म सार्वभौमिक और युगों तक अभिन्न बना रहने वाला है। देश-काल की सीमाएं इन सन्तों के धर्म और उसके उदात्त रूप का स्पर्श नहीं कर पाती हैं। निर्गुण सन्तों का धर्म धनी-दीन बालक-वृद्ध नर-नारी सबके लिये समान रूप से उपयोगी और महत्वपूर्ण है। सन्तों के व्यापक धर्म का आधार मानव की शाश्वत सद्प्रवृत्तियां हैं। यही शाश्वत सद्प्रवृत्तियां जीवन को

उदात्त और समुन्नत बनाती है। सन्तों ने मानव जीवन को उन्नत और विकासशील बनाने के लिये निम्नलिखित प्रसंगों पर उपदेश दिये

(क) उदारता[1] (ङ) सहनशीलता[5]

(ख) दया[2] (च) अहिंसा[6]

(ग) क्षमा[3] (छ) धैर्य तथा

(घ) त्याग[4] (ज) सत्य[8]।

सन्तों की बानियों में बारम्बार इन्हीं बातों पर जोर दिया गया है। सन्तों ने औदार्य दया क्षमा त्याग सहनशीलता अहिंसा धैर्य और सत्य को मानव-जीवन और मानव प्रकृति के अविच्छिन्न अंग माने हैं। सन्तों के काव्य में इन विषयों पर स्वतन्त्र साखियों की रचना हुई है और प्रत्येक साखी उनकी सत्यानुभूति को पुष्ट प्रमाणित करने में समर्थ है।

सन्तों की धार्मिकता बाह्याचारों या बाह्याडम्बरों से पृथक और परे है। सन्तों की धार्मिकता में छुआ-छूत चन्दन-तिलक जप-माला जप-तप बांग नमाज और अजान आदि नहीं सन्निहित है। वरन् उनकी धार्मिकता व्यापक है शुद्ध है और उदात्त है। उनका संदेश है कि मानव को सहज-धर्म का परिपालन करना चाहिये। उसे सुरत्न की जननी मानव-जीवन को दूषित कर्म करके अपमानित नहीं करना चाहिये। यही सन्तों की धार्मिकता है यही उनका व्यापक-धर्म है।

दर्शन के विस्तृत सागर से उन्होंने सारभूत सिद्धान्त रूपी मोतियों को चुनकर एक ऐसा हार बनाया जो सभी के गले में डाला जा सकता था। जिसके लिये जाति-पाँति ऊँच-नीच का भेद भाव नहीं है। 'सन्तों के व्यापक-धर्म और उसका स्वरूप' वाले परिच्छेद में हम इसका विस्तृत वर्णन करेंगे।

---

१ सन्त-बानी-संग्रह भाग १ पृष्ठ ६३।८ ४१।२ ४ ६६।२ १ २।१ १२३।१।

२ स० बा० स० भाग १ पृष्ठ ३२ ६६ १ ४ १२४ १८८।

३ स० बा० स० भाग १ पृष्ठ ५ ।

४ संत-बानी-संग्रह भाग १ चेतावनी प्रकरणों में कवियों ने संचय माया कपट और वासनात्मक प्रवृत्तियों का परित्याग करके ब्रह्म में लीन रहने का उपदेश दिया है।

५ संत-बानी-संग्रह, भाग १ पृष्ठ ४६ ६३ ६६ १ २।

६ प्रस्तुत ग्रन्थ के 'सन्तों का व्यापक धर्म' में इस सम्बन्ध में अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

७ साधना के क्षेत्र में धैर्य की बड़ी उपयोगिता है। सन्तों ने 'अष्टांग-योग' साधना के धैर्य के महत्व पर जोर दिया है।

८ संत-बानी-संग्रह, भाग १ पृष्ठ ६४ १२४ १४८ १६२ २ ३।

जातीयता

संत-साहित्य की तृतीय महान् परम्परा जातीयता है। अपनी वाणी द्वारा सन्तों ने देश को एक महान् सांस्कृतिक चेतना में बांध दिया था। देश के प्रत्येक भाग में महान् सांस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप जातीयता का विकास हुआ। निर्गुण सन्त-कवियों ने उस समय की प्रचलित सभी भाषाओं में रचना की। उनकी भाषा में समस्त भाषाओं विभाषाओं और बोलियों का मधुर मिश्रण है। इन्होंने व्याकरण के नियमों की ओर भी ध्यान नहीं दिया। जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वे जनता के सम्मुख केवल अपने भावों की अभिव्यक्ति ही करना चाहते थे। काव्य रचना की ओर उनका ध्यान न था। इसमें संदेह नहीं कि उनकी लेखनी एवं मुख से निकले हुये शब्द हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि बन गये हैं। सन्तों की वाणी का प्रभाव जनता पर पड़ा। उनकी भाषा में पंजाबी [1] सिन्धी [2] गुजराती [3] ब्रज [4] अवधी [5] खड़ी बोली [6] आदि के उदाहरण मिलते हैं।

जातीयता का विकास सामन्ती श्रृंखलाओं के छिन्न-भिन्न हो जाने पर हुआ। ये सन्त-कवि जनता की मनोवृत्ति से भलीभांति परिचित थे। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि शासक-वर्ग की सभ्यता संस्कार और जातीयता का जनता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है वरन् सामन्ती जातीयता मानव के विकास में बाधक है। जनता की संस्कृति और जातीयता का सम्बन्ध सर्वथा दूसरे वर्ग से है। परन्तु संत-कवियों ने जातीयता के प्रचार के लिये रूढ़िवादी साधनों को दूर कर नवीन साधनों को अपनाया है। जातीयता का प्रसार इन सन्त-कवियों ने भाषा द्वारा किया है। भाषा को जातीयता का गौरवपूर्ण अंग जीवन और प्रगति माना। कबीर के शब्दों में भाषा का गौरव निम्नलिखित है

संस्कीरत है कूप जल भाषा बहता नीर।

कबीरदास मलूकदास सुन्दरदास चरनदास दरिया साहब सहजोबाई दयाबाई गरीबदास भीखा साहब पलटू साहब आदि ने जातीयता के विकास के लिये प्रयत्न किये। जीवन भर वे इसी बात का प्रयत्न करते रहे कि संकुचित क्षेत्र से निकल कर विस्तृत क्षेत्र में जनता जातीयता के अर्थ समझ सके। सन्त-कवि समस्त प्रकार की

---

१ दादू की बानी भाग २ पृष्ठ ४४।
२ दादू की बानी भाग २ पृष्ठ ३१।
३ दादू की बानी भाग २ पृष्ठ ३१।
४ स बा स भाग २ पृष्ठ १ ३।
५ स बा स भाग २ पृष्ठ १२१।
६ पलटू साहब की बानी भाग २ पृष्ठ ४२।

संकीर्णता के विरोधी थे। इसीलिये उन्होंने एक एसी बृहत्तर भावना का प्रतिपादन और स्थापना की जो जनता के बहुत निकट और जनता के लिये सर्वथा उपयोगी थी।

प्रगतिशीलता

सन्त साहित्य की चतुर्थ महान परम्परा है 'प्रगतिशीलता'। सामान्यतया प्रगतिशीलता का अर्थ होता है स्पन्दनशीलता उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर रहना। निर्गुण-काव्य रचना के पूर्व हिन्दी-साहित्य ने कई बार करवट बदली थी। प्रत्येक युग में साहित्य का नवीन रूप नवीन प्रकार से सम्मुख आया। निर्गुण सन्त कवि दार्शनिक सुधारकों से अत्यधिक प्रभावित थे। ये प्रभाव निम्नलिखित थे

१ धर्म और दर्शन के सुधार एवं संस्कार की प्रवृत्ति।
२ दार्शनिकता की विशेष अभिरुचि।
३ हिन्दुओं की शिखा और यज्ञोपवीत का त्याग।
४ शवों को दाह देने के स्थान पर उनकी समाधि बनाने की प्रवृत्ति।
५ वर्णाश्रम के प्रति अधिक कट्टर न होना।
६ भक्ति और वैराग्य की प्रवृत्ति।

इन में प्रथम दो प्रवृत्तियां सभी आचार्यों में पाई जाती है। तीसरी प्रवृत्ति का प्रवर्तन शंकराचार्य के अनुयायी साधु-सन्यासियों ने किया था। चौथी विशेषता का उदय शंकराचार्य के अनुयायी शैव परमहंसों में हुआ था। पांचवी प्रवृत्ति के दर्शन रामानुजाचार्य की पद्धति में होते है। भक्ति एवं वैराग्य के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द जी थे।

मध्य-युग में बहुत से सुधारवादी वर्तमान थे। जिनमें से अवधूत वैरागी लिंग मत साधु-वर्ग अत्यधिक प्रसिद्ध है। लिंगायत साधुओं ने ही सन्तों में समाज-सुधार का बीजारोपण किया। साथ ही दक्षिण के बसवार सन्तों का भी प्रभाव निर्गुण-कवियों पर पड़ा। उनकी वर्ण-व्यवस्था के प्रति उपेक्षा भक्ति-भावना की अतिरेकता विष्णु के विविध नामों के प्रति आस्था कीर्तन के प्रति आकर्षण पुस्तकीय ज्ञान की उपेक्षा अनुभव पर जोर रहस्य भावना का आरोप प्रेम और विरह की कोमल एवं मार्मिक अभिव्यक्ति आदि ने भी निर्गुण सन्त-कवियों की विचार-धारा को प्रभावित किया है।

दूसरे शब्दों मे हम इस प्रकार कह सकते है कि मध्य-युग के साधु-सम्प्रदायों और सन्तों ने निर्गुण काव्य-धारा के रूप को निखार दिया। निर्गुण-कवियों ने उनकी बातों को इस प्रकार आत्मसात् किया कि वे उनको अपनी ही प्रतीत होने लगी। समाज साहित्य धर्म सभी मे प्रगतिशील विचारों का समावेश कर युग-युग से पीड़ित एवं प्रताड़ित जनता का इन सन्त कवियों ने उद्धार किया। जिन विरुद्ध तत्त्वों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया जाग्रत हुई उनमें मुख्य तत्व ये है

(१) पुरोहितवाद[1] (२) वर्णाश्रम धर्म
(३) मूर्ति पूजा (४) धार्मिक अन्ध-विश्वास
(५) बाह्याडम्बर (६) पूजा विधि तथा
(७) पौराणिकता।

हिन्दू-धर्म के सामान्य विश्वास अपने मूल रूप में बड़े ही सात्विक थे। परन्तु मध्य युग तक आते-आते ये सात्विक विश्वास अन्ध-विश्वासों में परिणत हो गये थे और उनका प्रचार धर्म के सभी क्षेत्रों में था। मध्य-युगीन जनता के लिये ये विश्वास परम्परागत रूढ़ियों के रूप में ही बनकर रह गये थे। सन्तों की वाणी ने इन्हीं विकृत धर्मों का खण्डन करने में प्रवृत्त हुई। आपसी द्वेष की तामसी प्रवृत्ति को रोक कर, ये सन्त सद् धर्म की प्रतिष्ठा में कटिबद्ध हो गये। उन्होंने रक्तपात भौतिकता और प्रतिकार भावना के विरुद्ध उपदेश दिये। संध्या वंदना पंच महायज्ञ बलि श्राद्ध षोडश संस्कार विविध प्रकार के व्रत तीर्थ छौका-छीत सम्बन्धी आचारों का खण्डन किया जो कि केवल परम्परागत ही रह गये थे।

संत-साहित्य प्रगतिशीलता का प्रतीक है। प्रत्येक दृष्टि से संत-साहित्य प्रगतिशीलता के रंग में अनुरंजित है। काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग—उभय पक्षों में संत-कवि पूर्णतया प्रगतिशील हैं। क्या भाषा क्या भाव क्या रस क्या छंद हर दृष्टि से उन्होंने ऐसे प्रयोग किये जो उनके युग की मान्यताओं को पुष्टता प्रदान करते हुए, भविष्य के लिये मानदंड बन गये। सन्तों ने जीवन को तो प्रगतिशील दृष्टि से देखा ही था परन्तु जीवन को समुन्नत बनानेवाले धर्म जीवन को औचित्य की ओर अग्रसर करनेवाले साहित्य या काव्य को भी उन्होंने बड़े ही प्रगतिशील दृष्टिकोण से देखा।

शाश्वतता

सन्त-साहित्य की प्रथम महान् परम्परा है 'शाश्वतता'। सहज-काव्य अपने स्वाभाविक सौन्दर्य तथा सरस अभिव्यक्ति के कारण मन को अत्यधिक प्रभावित करता है। इस प्रकार का काव्य कृत्रिम कल्पना से विच्छिन्न होने के कारण अमर और चिरन्तन प्रभाव होता है। सन्तों के सहज काव्य में ये विशेषतायें पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हैं। सन्त-काव्य में मानव जीवन की अनेक शाश्वत प्रवृत्तियों का बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रण हुआ है। युग-युगसे मनुष्य प्रेम क्षमा दया विश्वबन्धुत्व और उदारता में विश्वास करता चला आ रहा है। मनुष्य सदैव से उदात्त वृत्तियोंमें युक्त रहा है। हीन भावों से हटकर हमारा मन स्वतः शान्तिमय वातावरण में रमना चाहता है। सन्तों के काव्य में मनुष्य की इन्हीं जन्मजात और शाश्वत प्रवृत्तियों पर जोर दिया गया है। मानव समाज के सर्वतोमुख वातावरण का परिष्कार करके आध्यात्मिक वातावरण

---

१ पुरोहित वर्ग उस समय तक ब्राह्मण वर्ग का पर्यायवाची हो गया था।

में सन्तोष प्राप्त करता है। सन्तों ने अभ्यास की प्रतिष्ठा के लिये बार-बार उपदेश दिया है। आध्यात्म का विषय शाश्वत और चिरन्तन है इसी कारण सन्त-साहित्य शाश्वत-साहित्य है। यह अपनी इस विशेषता के कारण सर्वत्र अभिनव और प्रभावशाली बना रहेगा। सन्त-साहित्य में मानव की सहज सार्वभौमिक सार्वकालिक धार्मिक सामाजिक एवं नैतिक भावों एवं विश्वासों की अभिव्यक्ति बड़ी सुन्दर शैली में मिलती है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक मनुष्य की जितनी उदात्त प्रवृत्तियां रही हैं उन सबकी सन्त-साहित्य में अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में हुई है। इससे स्पष्ट है कि सन्तों की दृष्टि साहित्य को अधिक बनाने की ओर नहीं रही है वरन् उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिये वे प्रयत्नशील रहे हैं। इसीलिये उच्चवर्ग का इतना विरोध होने पर भी और साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ आचार्यों द्वारा उपेक्षित रहने पर भी यह साहित्य भारतीय जनता के हृदयों में फूल-फल रहा है। सन्त-साहित्य की रचना किसी स्वार्थभाव से प्रेरित होकर नहीं की गई थी। उनकी रचनाएँ 'स्वान्तः सुखाय' और 'बहुजनहिताय' हुई थी। इसीलिये इन रचनाओं में मानव-जीवन के हित की भावना अप्रत्यक्षतः से प्रवाहित होती हुई शताब्दियों से जनता को सही मार्ग पर अग्रसर कर रही है। सत्य अमर है और सत्यानुभूत को प्रस्तुत करनेवाला साहित्य भी अमरत्व प्राप्त कराता है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य समाज के कुछ व्यक्ति सर्वत्र हीन-वृत्तियों में संलग्न रहेंगे। उन्हें पथ प्रदर्शन करने के लिए इस साहित्य की उपयोगिता सर्वत्र बनी रहेगी।

सजीवता

'सजीवता' सन्त-साहित्य की षष्ठ महान परम्परा है। सन्तों के प्रति यह आरोप लगाया जाता है कि वे पलायनवादी थे और उन्होंने भारतीय-जनता को पलायनवाद का हर प्रकार से पाठ पढ़ाया। जिसके फलस्वरूप भारतीय-जनता अकर्मण्य बनती गई। लेकिन तथ्य इसके विरुद्ध है। सन्तों ने अपने युग की निराश जनता को आशा का प्रकाश दिखाया। उन्होंने भग्न हृदयों में उत्साह का संचार किया। जीवन को उन्होंने जीने योग्य बनाया और इस प्रकार से उन्होंने उदात्त एवं सात्विक जीवन का उपदेश देकर साहित्य के क्षेत्र में नवीन परम्पराओं को स्थापित किया। निर्गुण सन्तों के काव्य में एक अलौकिक चेतना एवं सजीवता है जिसकी आधारशिला आध्यात्मिक प्रणय की प्रतिष्ठा आत्मानुभूतिजन्य माधुर्य साधनात्मक रहस्यवाद और प्रतिभा आदि है। इन्हीं तत्वों ने सन्तों के काव्य में सजीवता एवं माधुर्य का समावेश करके उसे रुचिर बना दिया है। इस साहित्य को पढ़कर निराशाजनक समस्त भावनाएँ स्वतः विच्छिन्न हो जाती हैं और जीवन उन्नति तथा उत्साह की नई दिशा में अग्रसर हो जाता है। सन्तों की प्राणशक्ति नैतिक बल साधनात्मक क्षमता सब कुछ उनके साहित्य में पाठकों को प्रेरणा देने के लिये विद्यमान है।

———

सन्तों का व्यापक धर्म और उसका रूप

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ धारण करना या पालन करना होता है। धर्म संसार के समस्त जीवों के कल्याण का कारण है। 'वैशेषिक शास्त्र' के रचयिता कणाद मुनि के अनुसार जिसके द्वारा लोक और परलोक दोनों में सुख मिले वही धर्म है

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जितने भी सत्कर्म हमें या दूसरे को सुख देते हैं वे सब धर्म के अन्तर्गत आते हैं। मनु जी के अनुसार धर्म के दस लक्षण होते हैं। ये लक्षण निम्नलिखित श्लोक में उल्लिखित हुये हैं

धृतिः क्षमा दमो स्तेयं शौच मिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् जिस मानव में धैर्य हो क्षमा हो जो विषयों में अनुरक्त न हो जो दूसरे की वस्तु को लोष्ठवत समझता हो जो बाह्य एवं आभ्यांतरिक रूप से स्वच्छ हो जो सत्यवादी सत्यमानी और सत्यकारी हो जो क्रोध के संस्पर्श से परे हो वही व्यक्ति धार्मिक है। अतः स्पष्ट है कि ये सब धर्म के आवश्यक तत्व हैं। इस शरीर से मन (प्राण) पंछी के उड़ जाने के अनन्तर जितने भी भौतिक ऐश्वर्य बंधु-बान्धव का सम्पर्क और वैभव होते हैं वे सब यहीं छूट कर विलग हो जाते हैं यदि कोई भी साथ देता है तो अर्जित पुण्य सुकृत और धर्म की मात्रा। मनुजी का कथन है कि

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठ लोष्ठ समं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

धर्म नित्य है शाश्वत है और सांसारिक सुख-दुःख अनित्य है। अतः सुख और भोग के हेतु धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये। जीव जिसके साथ धर्म का सम्बंध है वह भी नित्य है और उसके जितने हेतु हैं वे सब अनित्य हैं। अतः धर्म का परित्याग किसी कारण भी नहीं करना चाहिये।

न जातु कामान्न भयान्न लोभात् ।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये ।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

(मनु भगवान) ।

मनु जी के मत से धर्म को नष्ट करने वाला स्वत नष्ट हो जाता है। धर्म की रक्षा करने वाले की धर्म भी रक्षा करता है। इसीलिये धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिये। उसकी रक्षा करने वाला मनुष्य धन्य है और समाज के लिये वरदान है। भगवान मनु के अनुसार।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतो वधीत् ॥

भगवान श्री कृष्ण ने 'गीता' में कहा है कि अपना धर्म चाहे जितना हीन हो और दूसरे का चाहे जितना महान् हो परन्तु अपने धर्म म मर जाना श्रेयस्कर है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

मृत्यु आंधी के समान अनिश्चित और तीव्र गति से मानव पर आक्रमण करती है। मनुष्य के धर्माचरण का कोई निश्चित समय नहीं है और मृत्यु उसकी प्रतीक्षा भी नहीं करती है। एक प्रकार से मनुष्य सदैव मृत्यु के मुख में रहता है। अतः उसे चाहिये कि वह धर्म में रत रहे।

न धर्म कालः पुरुषस्यनिश्चितो ।
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते ॥
सदा हो धर्मस्य क्रियैवशोभना ।
सदा नरो मृत्यु मुखेऽभिवर्तते ॥

धर्म ही मानव का पुष्ट आधार है। धर्म ही जीवन है और धर्म ही मृत्यु के अनन्तर मानव के साथ जाता है।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एको नु भुङ्क्ते सुकृत मेक एव च दुष्कृतम् ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमंक्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥

(मनुस्मृति ४।२३९ २४२) ।

वेद धर्म के मूल हैं 'वेदो खिलो धर्म मूलम्' । समाज संस्कृति नीति और व्यक्ति इसी धर्म के अंग हैं । इन सभी का प्रेरक धर्म ही है । समाज और संस्कृति के विकसित होने से बहुत पूर्व धर्म अपने अस्तित्व के द्वारा समाज को सद्-असद् कल्याण एवं चिरन्तन सत्य की ओर मानव को उन्मुख करता आया है । समाज को स्वस्थ रूप एवं उन्नत अवस्था प्रदान करने में धर्म ने सदैव से ही महत्वपूर्ण कार्य किया है । धर्म में पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास होना आवश्यक है ।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि धर्म से किसी भी कारण से विमुख नहीं होना चाहिये । धर्म सामाजिक-जीवन को भी समुन्नत बना देता है । सामाजिक जीवन की रीतियां परम्पराएं और आचार इसी धर्म पर आश्रित हैं । धार्मिक-जीवन का प्रकाश सामाजिक-जीवन के घोर अन्धकार को विनष्ट करने का लक्ष्य लेकर प्राचीन काल से चला आ रहा है । धर्म के तत्वों का प्रयोग सामाजिक-जीवन को विकसित करने के हेतु सर्वथा एवं सर्वदा अपेक्षित है । इसी से समाज कल्याण-पथ पर अग्रसर होता है । धर्म सदैव ही इस बात की प्रेरणा देता है कि अपना कर्तव्य करो संसार में आसक्ति न हो ।

धर्म का स्वरूप है 'परोपकार. पुण्याय । परस्पर एक दूसरे का उपकार ही उन्नति का कारण होता है । भगवान व्यास ने स्पष्ट शब्दों में कहा है 'जो कुछ अपने प्रतिकूल हो उसका दूसरों के प्रति आचरण नहीं करना चाहिये ।'[1]

'गीता' 'मनुस्मृति' तथा नीति-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म के स्वरूप आवश्यक-तत्व और महत्व पर विचार धारा का अध्ययन करेंगे । सन्तों के शिरोमणि कबीरदास की दृष्टि में धर्म की आधार-शिला दया भाव है । दया और धर्म एक दूसरे के पूरक और पर्याय हैं । उसी प्रकार क्षमाशीलता मानव का दैवी गुण है

जहां दया तहां धर्म है जहां लोभ तहां पाप ।
जहां क्रोध तहां काल है, जहां क्षमा तहां आप ।।

कबीर की भांति संत मलूकदास भी दया को धर्म का पर्याय मानते हैं ।

दया धर्म हिरदै बसै बोलै अमृत बैन ।
तेई ऊंचे जानिये जिनके नीचे नैन ।।

सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म में पूर्णानुरक्ति ही सबसे बड़ा धर्म है । जिसने ब्रह्म में पूर्णतया अनुराग स्थापित कर लिया है वह पतिव्रता नारी के समान समादरित है । ब्रह्म की अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम धर्म है । सुन्दरदास के शब्दों में ।

सुन्दर जिन पतिव्रत लियै तिन कीये सब धर्म ।

सुन्दरदास के मत से ब्रह्म का नाम समस्त धर्मों का सार तत्व है

---

१ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् (महाभारत) ।

सकल सिरोमनि नाम है सब धरमन के माहि ।
अनन्य भक्त वह जानिये सुमिरन भूलै नाहि ।

संत गरीबदास का कथन है कि मानव को सुशोभित करने वाले दो गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं और वे हैं 'दया' एवं धर्म । जो दया और धर्म में रत है उससे ब्रह्म दूर नहीं है

दया धर्म दो मुकुट हैं बुद्धि विवेक विचार ।
हरदम हाजिर बूझिये सौदा त्यारंत्यार ।

संत गरीबदास शील सन्तोष विवेक, सद्बुद्धि दया और दृढ़मति धर्म के आवश्यक तत्व मानते है

शील संतोष विवेक बुधि दया धर्म इक तार ।
बिन बिहूंचे पावै नहीं साहिब का दीदार ॥
शील सन्तोष विवेक बुध दया धर्म इक तार ।
अकल यकीन ईमान रख यही वस्तु निज सार ॥

वही साईं के दीदार का अधिकारी है जो दया धर्म से सम्पन्न है । गरीबदास जी का कथन है कि

सत सुकृत सन्तोष सर आधीनी अधिकार ।
दया धम का घर बसै सो साईं दीदार ॥

सन्तों की दृष्टि में धर्म की परिभाषा और स्वरूप क्या है यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है । सन्तों की धर्म विषयक धारणा बड़ी व्यापक और उदार है । सन्तों का दृष्टिकोण संकीर्णता से परे था । वे अपने युग के सबसे बड़े क्रान्तिकारी और सुधारक थे । रूढ़ियों ─ परम्पराओं की समस्त शृंखलाओं का ध्वंस करके उन्होंने नवीन आदर्शों अभिनव मान्यताओं नये-नये प्रतिमानों एवं मान-दंडों की स्थापना की । उनकी दृष्टि सदैव व्यापक समाज की ओर केन्द्रीभूत रहती थी । वे व्यष्टि और समष्टि के समान रूप से शुभचिन्तक थे । इसीलिये शोषण अनाचार दुराचार और भ्रष्टाचार के आधार पर निष्ठित समाज में आवश्यक सुधार करके उसे रहने योग्य या कल्याणकारी वरदान प्राप्य बनाने के लिये उन्होंने अथक परिश्रम किया । सन्तों ने अपने युग समाज और धर्म के समस्त दोषों को दूर करके नवीन आदर्शों की स्थापना करने का प्रयत्न किया और इस दृष्टि से वे सफलीभूत भी हुये । प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में वर्णित राजनैतिक सामाजिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तेरहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक का समय चतुर्दिक विनाश का युग था । इस समय मानवता का हर प्रकार से अपकर्ष हो गया था । समाज भ्रष्टाचार का केन्द्र-बिन्दु बन गया था । धर्म बाह्याचार बाह्याडम्बर और दुराचार के प्रसार का साधन बन गया था । हिन्दू और मुसलमान धर्म

के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ होकर 'लकीर के फकीर' हो रहे थे। उनमें विवेक बुद्धि का पूर्णतया अभाव था। मूर्तिपूजा बलि बन्धन माला जप तप काया कष्ट नमाज रोजा आदि ने धर्म के सत्य-स्वरूप को अपने तामसिक रूप में आच्छादित कर रखा था। इसीलिये यह नितान्त आवश्यक था कि जनता को धर्म के वास्तविक रूप से परिचित कराया जाय। जनता का धर्म के सहज सरल और वास्तविक रूप से परिचित कराने का यह कार्य हिन्दी के सन्त कवियों द्वारा सम्पन्न हुआ। इन्होंने प्राचीन रूढ़ियों को विनष्ट करके नई परम्पराओं और मान्यताओं को जन्म दिया। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि ब्रह्म की सत्ता मन्दिर, मस्जिद और शिवालय तक ही नहीं सीमित है। वह निःसीम है और संसार के कण-कण में व्याप्त है। उस खोजने के लिये काशी काबा केदारनाथ जाने की आवश्यकता नहीं है। वह तो आत्मा में ही रमा हुआ है। इसीलिये आत्मा को पहिचानने की आवश्यकता है। जिसने आत्मा को जान लिया है, उसने सब कुछ जान लिया है। ब्रह्म सब जीवों में रमा है अतः मनुष्य को किसी के प्रति द्रोह या हिंसा करना युक्तिसंगत नहीं है। कुटिलता हिंसा प्रतिकार और विद्रोह की भावना का परित्याग करके मानव को दया भावना को अंगीकार करना चाहिये। दया सब धर्मों का सार या मूल है। कबीर ने स्वतः कहा है 'जहाँ दया तहाँ धर्म है जहाँ लोभ तहाँ पाप'। मलूकदास की दया भावना का प्रसार तो वनस्पति जगत तक हुआ है। मलूकदास ने कहा

> हरी डारि न तोड़िये लागै छूरा बान।
> दास मलूका यों कहैं अपना सा जिव जान॥

तथा

> सब पानी की चूपरी एक दया अम सार।
> जिन पर-आतम चीन्हिया ते ही उतरे पार॥

इस प्रकार व्यक्ति समाज जीवन जगत और पारमार्थिक दृष्टि से मानव के लिये दया का बड़ा महत्त्व है। दया सब धर्मों का मूल समस्त भावनाओं का सारतत्व है। इसी प्रकार सन्तों ने सत्य दया उदारता क्षमा विश्वबन्धुत्व अहिंसा आदि का बारम्बार उपदेश दिया। सन्तों ने जीवन को चतुर्दिक समुन्नत बनाने के लिये जीवन के लिये आवश्यक और सद्गुणों का उपदेश दिया। सन्तों की दृष्टि में धर्म खान-पान की शुद्धता स्वच्छता बन्धन और माला तक ही नहीं सीमित है। वरन् धर्म की सीमाएं धर्म की परिभाषा तथा धर्म की आत्मा बड़ी विशाल है। धर्म संकीर्णता कट्टता हीनता और निम्न कोटि की भावनाओं से बहुत-बहुत ऊपर है। धर्म का जो व्यापक रूप सन्तों द्वारा प्रतिपादित हुआ है वह देशकाल और समाज की सीमाओं से परे और ऊपर है। वह सभी वर्ग धर्म के लिये उपयोगी है। सन्तों के व्यापक-धर्म के आवश्यक-तत्त्व है —

(१) प्रेम
(२) समदृष्टि
(३) सेवा-भाव
(४) संसार से विरक्ति
(५) सद्गुरु वन्दना
(६) नाम
(७) सत्य
(८) अहिंसा तथा
(९) क्षमा दया औदार्य आदि

इन समस्त गुणों और विशेषताओं को लेकर सन्तों ने एक ऐसे व्यापक-धर्म का प्रसार एवं प्रचार किया जो बृहत्तर मानवता के लिये नितान्त आवश्यक ही नहीं अनिवार्य था। कबीर ने अनुभव के आधार पर कहा कि परम्परागत धर्म और पूजा पाठ नितान्त भ्रमाच्छादित है पंडित और मौलवी माया के चेरे हैं।

तीरथ व्रत करि जग मुआ, जूड़ पानी न्हाय।
सत् नाम जाने बिना काल ग्रसन जुग जाय॥
पंडित और मसालची दोनों सूझै नाहिं।
औरन को करैं चाँदना आप अंधेरे माहिं॥

तथा

पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियन का सा खेल।
जब लगि पिउ परिचय नहीं तब लगि संशय मेल॥

वह बुद्धिमान विवेकवान और ज्ञानवान वह है जो इस प्रकार के गुड़ियन का सा खेल' में न लगे और सम्य-धर्म में अनुरक्त होकर मानवता के बृहत्तर आसन पर प्रतिष्ठित होकर वैभव की ओर अग्रसर हो। जब तक मानव प्रेम दया समता सत्य निष्कामता अहिंसा क्षमा विश्वबन्धुत्व औदार्य और समदृष्टि में अनुरक्त नहीं होता तब तक वह निरा पशु ही बना रहेगा। मनुष्यता ही मनुष्य की जननी है। अतः इस प्रकार की उदात्त भावनाओं को हृदय में धारण करके मनुष्य न केवल स्वतः सुखी होगा वरन् अखिल समाज को लाभान्वित और प्रकाशित करेगा। जीवन वही है जिससे समाज उन्नत हो सके मनुष्य वही है जो अपने व्यक्तित्व के माध्यम से दूसरों को सही मार्ग पर अग्रसर कर सके। तभी उसका जीवन सार्थक होगा। इसीलिये सन्तों ने व्यापक-धर्म का उपदेश देकर अपने युग और समाज का पथ प्रदर्शन किया।

सन्तों के व्यापक धर्म का सर्वप्रथम सिद्धान्त या आवश्यक तत्व है 'प्रेम'। प्रेम हृदय जगत का व्यापार है। प्रेम हृदय से होता है। अतः मस्तिष्क से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। हृदय जगत के इस उदात्त व्यापार में कोई तर्क-वितर्क जोर-दबाव

नहीं है। प्रेम हृदय मे होता है अत इसके लिये किसी का विवश भी नहीं किया जा सकता है। प्रेम का साध्य होता है प्रेम और कुछ नहीं। प्रेम में प्रेमास्तिकता होती है। इसीलिय प्रसिद्ध बाउल कवि मदन ने कहा था

प्रेमेर मोल प्रेमेर बांधा मारे सुख मारे दुख।
प्रेमेर रसिक या दिरे बान्धा प्रेम पियासा प्रेम मुख॥

सुप्रसिद्ध सूफी कवि शाहफरीद ने प्रेम की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा था कि मखमुल सम्मे समका पीरी मुनी कञ्च में। सच्चा प्रेम कामनारहित होता है। प्रेम का लक्ष्य स्वत प्रेम है। प्रेम जगत में ऊँच-नीच धनी निर्धन महान्-क्षुद्र का भाव नहीं है। इसीलिये प्रेम में स्वार्थहीनता और उत्सर्ग आवश्यक माना गया है। धर्मशास्त्र में ब्रह्म प्राप्ति के तीन साधन कर्म ज्ञान एवं योग मान्य हुए हैं। परन्तु नारद मुनि ने उपर्युक्त तीनो साधनों की तुलना में प्रेम-भक्ति को श्रेष्ठ और महान् माना है। नारद मुनि का कथन है कि सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्यो प्यधिकतरा। श्रीमद् भागवत्[१] श्री मद्भगवत गीता[२] और रामचरितमानस[३] में भी प्रेम का माहात्म्य वर्णित हुआ है।

हिन्दी के निर्गुण सन्त कवियो ने प्रेम को जीवन की उच्चतम और बड़ी ही उदात्त अनुभूति माना है। सन्तो की दृष्टि मे प्रेम धर्म का मुख्य अंग है। कबीर ने स्पष्ट शब्दो म कहा पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय। ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय। कबीर का दृढ़ विश्वास था कि प्रेम का मार्ग अत्यन्त सकरा है। उसमे दो भावना के लिय अवकाश नहीं है। कबीर ने कहा है प्रेम गली

---

१ न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्य श्रद्धयात्मा प्रिय सताम्।
भक्ति पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥ (११।१४।२०।२१)

२ नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न च यज्ञा।
शक्य एवं विधो द्रष्टु दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ (११।५३।५४)

३ जो अस भगति जानि परिहरही। केवल ज्ञान हेतु श्रम करही॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहि पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहि आनि उपाई॥
ते सठ महा सिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहि जड़ करनी॥
उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम।
राम कृपा नहि करहि तसि जसि निष्केवल प्रेम॥

मति साँकरी तामें दो न समाय प्रेम के मार्ग में अहं के लिए कोई अवकाश नहीं होता है। कबीर के शब्दों में :

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुइँ धरै तब पैठै घर माहिं॥

प्रेम पवित्र भावना है इसमें व्यापार नहीं चलता है कबीर के मत से

प्रेम बिकता मैं सुना माथा साटे हाट।
पूछत बिलम्ब न कीजिए, तत छिन दीजै काट॥

प्रेम के आवेश में लौकिक बाह्याचार बह जाते हैं। सुन्दरदास ने इस भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहा

न लाज तीन लोक की न वेद को कह्यो करै।
न संक भूत प्रेत की न देव यक्ष ते डरै।
सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और की सुन्दर प्रेम लच्छना॥

इसी प्रकार प्रेम के व्यापक एवं चमत्कारी प्रभाव का अनुभव कबीर ने भी किया था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा

जहाँ प्रेम तहाँ नेम नहिं तहाँ न बुधि ब्यौहार।
प्रेम मगन जब मन भया कौन गिने तिथि वार॥

सहजो बाई ने प्रेम दीवानी होने के बाद जाति वर्ग वर्ण आदि कृत्रिमता से पूर्ण भावों को सदैव के लिये बिसार दिया। सहजोबाई के शब्दों में

प्रेम दिवाने जो भये जाति बरन गई छूट।
सहजो जग बौरा कहै लोग गए सब छूटि॥

तथा

प्रेम दिवाने जो भये नेम धरम गयो खोय।
सहजो नर-नारी हँसे वा मन आनन्द होय॥

दादू दयाल ने प्रेम को इतना अगाध कर पान कर लिया था कि उन्हें मुक्ति की भी कामना शेष नहीं रह गई।

दादू प्याला राम का कोई प्रेम अघाइ।
मतवाला दीदार का मांगै मुक्ति बलाइ॥

सन्तों ने प्रेम का आदर्श चकोर और मीन माना है। उन्होंने बारम्बार प्रेम के इन आदर्शों का उल्लेख किया है। सन्त दादू ने इश्क या प्रेम को ब्रह्म का ही रूप माना है। दादू का कथन है कि

इश्क मलह की जाति है इश्क मलह का रंग।
इश्क मलह औजूद है इश्क मलह का संग[१] ॥

हिन्दी साहित्य के सन्त-कवियों तथा सूफियों का प्रेमादर्श बड़े ही उच्चकोटि का माना जाता है। इनके प्रेम में अनुभूति की गहराई और विस्तार है भावनाओं में तीव्रता है। यद्यपि इनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक एवं अभिव्यंजना शैली लौकिक प्रेम की सूचना देती है तथापि इनका प्रेम आध्यात्मिक है। सभी सन्तों और साधकों के हृदय में प्रेम लहरें मारता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

कबीर ने तो बारम्बार अपने को राम की बहुरिया बताया है और उस दिव्य संयोग की कामना की है जहां ममत्व एवं परत्व की भावना विलीन हो जाती है और साधक की आत्मा कहने लगती है कि मैं ही तू है और तू ही मैं हूं। कबीर की भांति अन्य सन्त-कवियों में भी कान्ताभाव की भक्ति उपलब्ध होती है। सभी ने परब्रह्म को अपना पति होने की कल्पना की है।

ऐसे सांई की मैं बलहरियां री।
ए सखि सब रंग रत मातिउ
देखि रहिउ अनुहरियां री॥

(जगजीवन साहब)

तथा

इक पिय मोरे मन मान्यो पतिव्रत ठान्यो हो।
अवरो को इन्द्र समान तौ तृन करि जान्यो हो॥[२]

इसी प्रकार दरिया साहब[३] तथा मलूकदास[४] ने भी परब्रह्म के पति होने की कल्पना की है। चरनदास ने प्रेम की महत्ता का गान विस्तार से किया है। उनका कथन है कि प्रेम बराबर जोग ना प्रेम बराबर ज्ञान इसका कारण वह बताते हैं कि प्रेम भक्ति बिन साधिबो सब ही थोथा ज्ञान। संत दादू ने भी वेद-पुराण की निन्दा करके प्रेम की महत्ता का गान किया है।

दादू पाती प्रेम की बिरला बांचै कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढ़ै प्रेम बिना क्या होइ॥

---

१ दादू के कथन से साम्य रखनेवाली साखियाँ
इसक बसै पिया के अंग। इसक रहै पिया के संग॥
प्रेम बसत पिया के चित। इसक अखंड हमेसा नित॥
इसक दिखावे पार के पार। इसक अखड भर बाजार॥

२ स बा स भाग २ पृष्ठ ११४/१।

३ स बा स भाग २ पृष्ठ ११७/१।

४ स बा स भाग २, पृष्ठ ११४/२।

५ मलूक दास की बानी प्रेम को अंग में।

समदृष्टि ग्रहण करना चाहिये। समदृष्टि विश्वबन्धुत्व की प्रथम] सीढ़ी या भूमिका है। जीवन विडम्बनाओं और विषमताओं का पर्याय है। इस संसार में विषमता का बलय साम्राज्य प्रत्येक पग पर विद्यमान है। इस विरोधी परिस्थितियों में मनुष्य को चाहिये कि समभाव से व्यवहार करे इतना ही नहीं उन समस्त विरोधी शक्तियों में समन्वय सस्थापित करके इस प्रकार से व्यवहार करना चाहिये जिससे भेदभाव के समस्त दोष मि जायें और मनुष्य को समदृष्टिवान् होकर सर्वत्र विचरना चाहिये। सुविधा के लिये जिन सिद्धान्तों का लेकर जाति वर्ण धर्म और आश्रमों का निर्माण किया गया था वे सब आज अभिशाप बनते जा रहे हैं। इसलिये सन्तों ने कहा 'जाति पाँति पूछै ना कोई हरि का भजै सो हरि का होई। जब साधना के क्षेत्र में इतनी स्वच्छन्दता है तो फिर भेदभाव क्या है? मानव समाज एक ही ब्रह्म द्वारा विनिर्मित है। ब्रह्म समस्त सृष्टि का रचयिता है फिर कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र" कौन धनी और कौन निर्धन। मानव-जीवन की जड़ें उसी ब्रह्म में समाहित है। इसी लिये सन्तों ने समदृष्टिवान बनने का उपदेश दिया। समदृष्टि धारण करने से मानव शैतन्य प्राप्त करता है। समदृष्टि धारण करते ही समस्त भ्रम और संशय मूल विहीन हो जाते है। समस्त ससार एक ही ब्रह्ममय सर्वत्र दृष्टिगत होने लगता है। इसलिये समदृष्टि को धारण करने का अभिप्राय है जीवन को उन्नत और दिव्य-भावनाओं से युक्त करना :

समदृष्टी सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखो तहँ एक ही साहिब का दीदार॥[1]

इसी प्रकार अन्य सन्त कवियों ने जीवन मे समता के भाव को अपनाने का उप-देश दिया और जनता के मध्य एक दिव्य युग को प्रसारित करने का प्रयत्न किया।

सेवा भाव

सन्तो के व्यापक धर्म का एक और आवश्यक अंग है सेवा भाव। मानव जीवन मुख्यतया स्वार्थ या 'स्व' के दायरे मे सीमित रहता है। परन्तु जीवन को स्व' से हटाकर परोपकार एव परसेवा मे नियोजित करना परम आवश्यक है। स्वार्थ के लिए तो पशु भी अपना जीवनयापन करते है। परन्तु परोपकाराय सतां विभूतयः। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा था कि

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(रामचरित मानस)

मानव-जीवन जिस समय 'स्व' की हीन सीमा को पार कर परोपकार परसेवा

---

[1] स बा स भाग १ पृष्ठ ११।

में अनुरक्त होता है, उसी समय उसकी धार्मिकता है। अतः सन्तों ने बारम्बार परोपकार और परसेवा की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। परसेवा का मूल है दया। अतः दया को हृदय में धारण करना परम आवश्यक है। प्रस्तुत परिच्छेद के 'दया' उपशीर्षक में इस विषय पर विचार प्रकट किये गये हैं। अतः यहाँ पुनरुक्ति अपेक्षित नहीं है।

संसार से विरक्ति

संसार से विरक्त और निर्लिप्त रहने का उपदेश सन्तों ने बारम्बार दिया। उनके व्यापक धर्म का यह मूल-मंत्र था कि जीवन क्षणभंगुर है। संसार बालू की भित्ति के सदृश अस्थिर और विनाशशील है। जीवन तीतर की परछाईं के समान क्षुद्र और अस्त है। इन परिस्थितियों में जीवन से बहुत अनुराग स्थापित करना भयंकर भ्रम है। संसार और माया का कोई भरोसा नहीं है फिर भी मानव उन्हीं में अनुरक्त रहता है। इस विषादमयी परिस्थिति से अवकाश ग्रहण करके मानव को चाहिये कि वह परमार्थ और ब्रह्म की साधना में अनुरक्त हो। तभी मनुष्य का कल्याण हो सकता है। सन्तों ने उपदेश दिया कि संसार में मनुष्य को उसी प्रकार रहना चाहिये जिस प्रकार कमल जलराशि से जीवन ग्रहण करता हुआ भी उससे पृथक और परे रहता है। हमारे संत कवियों ने बारम्बार जीवन की क्षण भंगुरता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है और यह कहा कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है। फिर इस मानव तन से अच्छे कार्य क्यों न किये जायें। कबीरदास जी का कथन है

> मनुष जन्म दुर्लभ अहै होय न बारम्बार।
> तरवर से पत्ता झरै बहुरि न लागै डार ॥[1]

इस कारण इस संसार में रहते हुये भी व्यक्ति को उसी ब्रह्म का ध्यान रखना चाहिये :

> ज्यों तिरिया पीहर बसै सुरति रहै पिय माहिं।
> ऐसे जन जग में रहैं हरि को भूलै नाहिं ॥

माया-मोह को त्याग कर केवल अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिय।

> जब घट मोह समाइया सबै भया अंधियार।
> निर्मोह ज्ञान बिचारि के कोई साधू उतरे पार ॥[2]

संसार में किस प्रकार रहना चाहिये इसके लिये सन्तों ने बताया कि

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ १३।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १४।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ १४।

दूलन दास ने तो प्रेम को धर्म से भी श्रेष्ठ माना है।

> जप्य दान तप तीर्थ व्रत धर्म जो दूलन दास।
> भक्ति मातरित तप सबै भक्ति न केहु की पास ॥

परन्तु इस प्रेम मार्ग पर चलना सरल नहीं है। प्रेम की साधना में बलिदान की आवश्यकता होती है। त्याग एवं बलिदान ही प्रेम का उद्दीपक है। जिस साधक में त्याग की भावना नहीं है वह प्रेम पथ पर बढ़ ही नहीं सकता है। कबीर ने प्रेम के क्षेत्र में अवतरित होने वालों से कहा है —

> प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
> राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय ॥

कबीर दास जी की ये चेतावनियाँ हमें प्रेम-मार्ग की दुरूहता का ज्ञान कराती हैं। कबीरदास जी ने इस दुरूह पथ पर अग्रसर होने वाले आकांक्षी साधकों को संकटों की ओर संकेत करने की चेष्टा की है। दूलन दास के मतानुसार

> दूलन कृपा तें पाइये भक्ति न होती ख्याल।
> काहू पाई सहज ही कोउ ढूंढ़त फिरत बिहाल। [1]

इस प्रेम में त्याग का बहुत बड़ा स्थान है। कैवल्योपनिषद् में भी उल्लेख है

> "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"।

कर्म से नहीं प्रजा से नहीं धन से नहीं त्याग से कोई-कोई अमृतत्व को प्राप्त होते हैं

निर्गुण सन्त कवियों ने भी बताया कि भगवान की प्राप्ति के लिये त्याग आवश्यक है। यह त्याग केवल सांसारिक सुख एवं ऐश्वर्य तक ही सीमित नहीं है वरन् अहम् भावना को भी त्याग देना चाहिए। अहम् भाव और प्रेम एक ही शरीर में नहीं रह सकते हैं।

> पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।
> एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान ॥

प्रेम के उन्माद में वैदिक कर्म एवं लौकिक बाह्याडम्बर स्वतः ही बह जाते हैं। आत्मा पर प्रेम का उन्माद छा जाता है। उस उन्माद में तन मन धन किसी की भी सुधि नहीं रहती है। विश्व तुच्छ प्रतीत होने लगता है। सांसारिक व्यवहार एवं लोकाचार सब व्यर्थ जान पड़ने लगते हैं। साधक का मन सदैव आराध्य में निमज्जित रहता है। उसके नेत्र संसार की प्रत्येक वस्तु में उसी ब्रह्म की छवि देखते हैं। इन्द्रियाँ अपना कार्य भूल जाती हैं। मधुर प्रेम की दिव्य-ज्योति में तन्मय हो कर वे इतनी आतुर हो जाती हैं, कि अपना कार्य भूल जाती हैं। प्रेम की इसी स्थिति की अनुभूति

---

[1] स ब स भाग १ पृष्ठ १६७/२।

होने पर रहस्यवादी सेंट मार्टिन ने कहा था कि 'मैंने उन फूलों का सु
करते थे और उन ध्वनियों क दर्शा का आत्मसम्मान थी ।[1]

मलूक दास ने भी भाव को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है ।

प्रेम पियाला पीवते बिसरे सब साथी ।
आठ पहर यो झूमते ज्यों माता हाथी ॥
उन की नजर न आवते कोई राजा रंक ।
बन्धन तोड़े मोह के फिरते हैं निश्शंक ॥[2]

प्रेम का मादक प्रभाव बढ़ जाने पर लौकिक एवं वैदिक बन्धन ढीले पड़ जाते हैं । सुन्दर दास की कविता म भी इसी प्रकार की भावनाओं की व्यंजना हुई है —

लागी प्रीति पियार सों सांची ।
प्रबहूं प्रेम मगन होइ नाची ॥

इसी प्रकार चरनदास जी का अनुभव है ।

बुधि बुधि सब गई खोइ
री मैं इस्क दिवानी ।[3]

प्रेम रस का आस्वादन करने के पश्चात इन साधकों की वासनायें नष्ट हो गई । उनके पूरे शरीर के अंग प्रत्यंग म प्रेम का भाव जाग्रत हो उठा और वैदिक रूढ़ियों एवं बाह्याडम्बरों की इन निर्गुण सन्त-कवियों ने की खासकर निन्दा की है । इन कवियों ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रेमी के लिये सांसारिक बन्धन कोई महत्व नहीं रखते हैं । प्रेम और नियम जप तथा तप आदि एक ही स्थान पर नहीं ठहर सकते हैं । पलटू साहब म भी प्रेम के उन्माद के अनन्तर, कर्म और जनेऊ को छोड़ फेंकने का भाव इन पंक्तियों मे मिलता है

करम जनेऊ तोड़ि के सरव किया व्यवहार ।
देहि गोविन्द गोविन्द मिले भूक दिया ससार ॥[4]

समदृष्टि

सन्तों के व्यापक-धर्म का एक और आवश्यक तत्व है समदृष्टि । मनुष्य को

---

१ *I heard flowers that sounded and I saw notes that Shone*
Mysticism—E Underhill
12th Ed -P 7

२ मलूक दास की बानी पृष्ठ १ ।

३ चरनदास की बानी पृष्ठ १७

४ स बा स० भाग १ पृष्ठ २१२।६ ।

समदृष्टि ग्रहण करना चाहिये । समदृष्टि विश्वबन्धुत्व की प्रथम] सीढ़ी या भूमिका है। जीवन विषमताओं और विषमताओं का पर्याय है । इस संसार में विषमता का अक्षय साम्राज्य प्रत्येक पग पर विद्यमान है। इन विरोधी परिस्थितियों में मनुष्य को चाहिये कि समभाव से व्यवहार करे इतना ही नहीं उसे समस्त विरोधी शक्तियों में समन्वय संस्थापित करके इस प्रकार से व्यवहार करना चाहिये जिससे भेदभाव के समस्त दोष मि जायें और मनुष्य को समदृष्टिवान् होकर सर्वत्र विचरना चाहिये। सुविधा के लिये जिन सिद्धान्तों को लेकर जाति धर्म वर्ण और आश्रमों का निर्माण किया गया था वे सब आज अभिशाप बनते जा रहे हैं। इसलिये सन्तों ने कहा 'जाति पाँति पूछै ना कोई हरि का भजै सो हरि का होई। जब साधना के क्षेत्र में इतनी स्वच्छन्दता है तो फिर भेदभाव क्या है ? मानव समाज एक ही ब्रह्म द्वारा विनिर्मित है। ब्रह्म समस्त सृष्टि का रचयिता है फिर कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र' कौन धनी और कौन निर्धन। मानव-जीवन की जड़ें उसी ब्रह्म में समाहित हैं। इसी ।लये सन्तों ने समदृष्टिवान बनने का उपदेश दिया। समदृष्टि धारण करने से मानव शैतल्य प्राप्त करता है। समदृष्टि धारण करते ही समस्त भ्रम और संशय मूल विहीन हो जाते हैं। समस्त संसार एक ही ब्रह्ममय सर्वत्र दृष्टिगत होने लगता है। इसलिये समदृष्टि को धारण करने का अभिप्राय है जीवन को उन्नत और दिव्य भावनाओं से युक्त करना

समदृष्टी सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखो तहँ एक ही साहिब का दीदार ॥[1]

इसी प्रकार अन्य सन्त कवियों ने जीवन में समता के भाव को अपनाने का उपदेश दिया और जनता के मध्य एक दिव्य युग को प्रवाहित करने का प्रयत्न किया।

सेवा भाव

सन्तो के व्यापक धर्म का एक और आवश्यक अंग है 'सेवा भाव । मानव जीवन मुख्यतया स्वार्थ या 'स्व के दायरे में सीमित रहता है। परन्तु जीवन को 'स्व' से हटाकर परोपकार एवं परसेवा में नियोजित करना परम आवश्यक है। स्वार्थ के लिये तो पशु भी अपना जीवनयापन करते हैं। परन्तु परोपकाराय सतां विभूतयः । इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा था कि

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
(रामचरित मानस)

मानव-जीवन जिस समय स्व की हीन सीमा को पार कर परोपकार परसेवा

स बा स भाग १ पृष्ठ ११।

में अनुरक्त होता है, उसी समय उसकी सार्थकता है। अतः सन्तों ने बारम्बार परोपकार और परसेवा की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। परसेवा का मूल है दया। अतः दया को हृदय में धारण करना परम आवश्यक है। प्रस्तुत परिच्छेद में 'दया' उपशीर्षक में इस विषय पर विचार प्रकट किये गये हैं। अतः यहाँ पुनरुक्ति अपेक्षित नहीं है।

संसार से विरक्ति

संसार से विरक्त और निर्लिप्त रहने का उपदेश सन्तों ने बारम्बार दिया। उनके व्यापक धर्म का यह मूल-मंत्र था कि जीवन क्षणभंगुर है। संसार बालू की भित्ति के सदृश अस्थिर और विनाशशील है। जीवन तीतर की परछाई के समान क्षुद्र और अस्त है। इन परिस्थितियों में जीवन से बहुत अनुराग स्थापित करना भयंकर भूल है। संसार और माया का कोई भरोसा नहीं है फिर भी मानव उन्हीं में अनुरक्त रहता है। इस विषादमयी परिस्थिति से अवकाश ग्रहण करके मानव को चाहिये कि वह परमार्थ और ब्रह्म की साधना में अनुरक्त हो। तभी मनुष्य का कल्याण हो सकता है। सन्तों ने उपदेश दिया कि संसार में मनुष्य को उसी प्रकार रहना चाहिये जिस प्रकार कमल जलराशि से जीवन ग्रहण करता हुआ भी उससे पृथक और परे रहता है। हमारे संत कवियों ने बारम्बार जीवन की क्षण भंगुरता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है और यह कहा कि मनुष्य जन्म दुर्लभ है। फिर इस मानव तन से अच्छे कार्य क्यों न किये जायें। कबीरदास जी का कथन है :

> मनुष जन्म दुर्लभ अहै होय न बारम्बार।
> तरवर से पत्ता झरै बहुरि न लागै डार॥[1]

इस कारण इस संसार में रहते हुये भी व्यक्ति को उसी ब्रह्म का ध्यान रखना चाहिये :

> ज्यों तिरिया पीहर बसै सुरति रहै पिय माहि।
> ऐसे जन जग में रहैं हरि को भूलें नाहि॥

माया-मोह का त्याग कर केवल अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए।

> जब घट मोह समाइया सबै भया अँधियार।
> निर्मोह ज्ञान बिचारि के कोई साधू उतरे पार॥[1]

संसार में किस प्रकार रहना चाहिये इसके लिए सन्तों ने बताया कि

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ १३।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १८।
१ स बा स भाग १ पृष्ठ १८।

भवसागर में यों रहे ज्यों जल कमल निरास ।
मनुवां वहां ले राखिये जहां नहीं जम काल ।।[1]

परन्तु इन आदर्शों को सामने रख कर विरले ही उस प्रेमी तक पहुंच पाते हैं

लखने को सबही चले सासतर बांचि अनेक ।
साहिब आपे आपने बूझेगा कोई एक ।।[2]

यह तो अनुभव ज्ञान की बात है

लिखा लिखी की है नहीं देखा देखी की बात ।
दुलहा दुलहिन मिल गये फीकी पड़ी बरात ।।[3]

सतगुरु-वन्दना

सन्तों के व्यापक-धर्म में सतगुरु का बड़ा विशिष्ट स्थान है। सतगुरु ही साधक के जगत में सबसे बड़ा द्रष्टा और सृष्टा है। उसके पथ-प्रदर्शन के बिना कुछ भी सम्भव सुलभ या सरल नहीं है। गुरु गोविन्द से भी श्रेष्ठ और शक्तिशाली है। कबीर ने स्पष्ट रूप से कहा है 'गुरु बड़ गोविन्द ते मन में देखु विचार' हरि सुमिरैं सो वार है गुरु सुमिरैं सो पार। कबीर के समान ही तुलसीदास भी इस मत के पोषक थे गुरु ही ब्रह्मा है वही विष्णु है और वही महेश है। वास्तव में गुरु की गति अगम और अपार है :

गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु है गुरु शंकर गुरु साध ।
तुलसी गुरु गोविन्द बड़, गुरुमत अगम अगाध ।।

चरनदास के मत से गुरु की समता करने की क्षमता न मनुष्य में है और न देवताओं में। उसका नाम स्मरण करते ही समस्त पातक विनष्ट हो जाते हैं। और जीवन कल्याणकारी तत्व से समन्वित हो जाता है।

गुरु समान तिहूं लोक में और न दीसै कोय ।
नाम लिये पातक नसें ध्यान किये हरि होय ।।

गरीबदास के मत से सद्गुरु 'पूरन ब्रह्म' है वह अनेक है वह अनन्त है।

सतगुरु पूरन ब्रह्म है सतगुरु आप अलेख ।
सतगुरु रमता राम है, यामें मीन न मेख ।।

निर्गुण सन्त-कवियों ने जग में गुरु की महिमा का गान बहुत किया है। उनके मतानुसार उस ब्रह्म को प्राप्त करने में सतगुरु ही सहायता पहुंचाते हैं। सन्तों ने

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ३ ।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ ३ ।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ ४४।

उस गृह को जहां गुरु की सेवा नहीं होती है श्मशान के समान शून्य और अपवित्र माना है।

साध सेवा जा घर नाहीं सतगुरु पूजा नाहिं।
सो घर मरघट सारिखा भूत बसै ता माहिं॥

नाम

सन्तों ने नाम का बड़ा गुणगान किया है। नाम-महिमा वर्णन की परम्परा का परिपालन प्राय सभी सन्त कवियों ने किया है। कबीर से लेकर छोटे से छोटे सन्त कवि ने नाम का वर्णन अपने व्यापक रूप मे किया है। कबीर,[1] दरिया ई [2] चरनदास[3] सहजोबाई [4] गरीबदास [5] पलटू साहब [6] सुन्दरदास [7] आदि ने भी भांति भांति से अपनी साखियो मे नाम का गुणगान किया है। सुन्दरदास ने नाम को समस्त कर्म कांड और धर्मों से श्रेष्ठ माना है।

नाम बराबर तोलिया तुलै न कोई धर्म।

सुन्दरदास की भांति चरनदास ने भी नाम को समस्त धर्मों में श्रेष्ठ माना है

सकल शिरोमन नाम है सब धरमन के माहिं।
अनन्य भक्ति वह जानिये सुमिरन भूलै नाहिं॥

सन्त कबीरदास के मतानुसार नाम ही आदि और मूल वस्तु है। समस्त वेद और ग्रन्थ उसी से उत्पन्न हुए हैं। बिना नाम का ध्यान किये हुए कितने ही सांसारिक प्राणी भवजल मे डूबकर नष्ट हो गए हैं।

आदि नाम सब मूल है और मन्त्र सब डार।
कहै कबीर निज नाम बिनु, बूडि मुआ ससार॥

सन्तों का बड़ा नाम रूप जाति और वर्ण से परे है वह सकल एवं अगोचर है। उसकी शक्ति एवं रचना मानव के अनुमान एवं विचार से भी उच्च एवं विस्तृत है। सन्तों ने परब्रह्म को अलख अगोह अवनामय राम हरि निरंजन खुदा करीम रहीम आदि नामों से सम्बोधित किया है जिससे कि हिन्दू एवं मुसलमानों के हृदयों

---

१ क बा स भाग १ पृष्ठ ४६।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ १२१ १२२।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ १५४ १५६।
४ स बा स भाग १ पृष्ठ १६५ १६ ।
५ स बा स भाग १ पृष्ठ १ ८ १८६।
६ स बा स भाग १ पृष्ठ २१४।
७ स बा स भाग १ पृष्ठ १ ७-१०८।

से परब्रह्म का एकत्व स्थापित हो जाय। जिस प्रकार निराकार होते हुए भी ब्रह्म संसार में सर्वदा व्याप्त है उसी प्रकार 'राम' प्रत्येक घर में सर्वत्र तथा सर्वदा व्याप्त है। गरीबदास के शब्दों में—

> अगम अगाध भूमि है जहाँ नाम का दीप।
> एक पलक बिछुरै नहीं रहता नैनों बीच ॥[1]

सभी सन्त-कवियों ने नाम की अत्यधिक महिमा गाई है। इसी नाम की महिमा गाते हुये मानव उस परब्रह्म के दर्शन कर पाता है। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। भगवत् प्रेम में भरा मानव सत्य दया सेवा परोपकार, अहिंसा त्याग आदि की ओर ध्यान देता है। यही वास्तविक धर्म है। निर्गुण-सन्त कवियों ने इसी व्यापक धर्म का रूप हमारे समक्ष रखा है।

सत्य

सत्य सन्तों के व्यापक-धर्म का एक आवश्यक अंग है। सत्य को इन सन्त-कवियों ने ब्रह्म का ही स्वरूप माना है। कबीर दास के मतानुसार सत्य ही परम तप परम पुण्य और स्वयं परब्रह्म का प्रतीक है।

> साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
> जाके हिरदे साँच है ताके हिरदे आप॥

उपनिषदों में भी बारम्बार यही कहा गया है कि सत्य से श्रेष्ठ ज्ञान एवं धर्म इस संसार मे नहीं है झूठ के समान अन्य पाप नहीं है। अतः सत्य का आचरण ही एक मात्र कल्याणकारी तत्व है:

> नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
> नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्॥

निर्गुण सन्त-कवियों ने ब्रह्म तक पहुँचने या एकात्मकता संस्थापित करने के अनेक मार्ग बताये हैं जिनमें सुगम एवं दुर्गम दोनों ही पथ हैं यदि कार्य सुगम पथ पर चलने से सिद्ध हो जाये तो दुरूह पथ पर चलने की आवश्यकता ही क्या है? सरल मार्ग पर अग्रसर होने से साधना अधिकाधिक लोकप्रिय होगी। इन संत-कवियों ने बताया कि जब सत्य एवं ब्रह्म पर्याय ही है, फिर वाह्याडम्बरों की क्या आवश्यकता है?

सत्य की महत्ता को सन्त दादू ने भी स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दिया 'जाके हिरदै साँच है, ता हिरदै गुरु आप' तथा

> साँचा नाव अलाह का सोई सति कर जाणि।
> निहचल करि ले बंदगी दादू सो परवाणि॥[2]

---

1 स बा स भाग १ पृष्ठ १८४ ७।
2 स बा स भाग १ पृष्ठ ७११।

गरीबदास के मतानुसार भी सत्य ही ब्रह्म है

साँचे का सुमिरन करो झूठे तजो जंजाल।
साँचा साहिब आप है झूठ कपट सब काल ॥[1]

तथा

सत्य सुकृत अब अल्लागी जा पर ज्ञान विवेक।
साच रूप साईं मिले पूरन ब्रह्म अलेख ॥[2]

ब्रह्म स्वतः सत्य है और सत्य प्रिय है। जीवन में सत्य का व्यवहार करने वाला मानव इस सदाचार या आचरण मात्र से ब्रह्म के निकट पहुंच जाता है

साईं से साँचा रहो साईं साँच सुहाय।
भावै लम्बे केस रखु, भावै घोट मुँडाय ॥[3]

तथा

लेखा देना सहज है जो दिल साँचा होय।
साँई के दरबार में पल्ला न पकरे कोय ॥

(कबीर)

उस समय के बाह्याडम्बरों से पीड़ित जनता को कबीर ने सत्य का अनुभव कराया। पंडित मुल्ला एवं काजी जो कि जनता शोषण में तत्पर रहते हैं उनके अभिशाप सत्यवादी व्यक्ति के लिये कुछ भी नहीं कर सकते हैं

साँचे श्राप न लागई साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिले साँचे माँहि समाय ॥[४]

जब सत्य ब्रह्म के सदृश ही महान् एवं पवित्र है तो सत्य का सेवी कभी भीम शापों से ग्रसित नहीं हो सकता है। गरीबदास के मत से सत्य का व्यवहार करने वाला स्वयं ब्रह्म के सदृश है। जब हम सत्य को ब्रह्म का पर्याय ही मान लेते हैं फिर सत्य को आत्मसात करने वाला स्वयं ब्रह्म का स्वरूप कहलाने का अधिकारी है।

सत्त सुकृत अब अल्लागी ज्ञान उर ज्ञान विवेक।
साच रूप साईं मिले पूरन ब्रह्म अलेख ॥[६]

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ २ ३।१।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ २ ३।११।
३ स बा स भाग १ पृष्ठ ४९।२।
४ ० बा स भाग १ पृष्ठ ४९।७।
५ स बा स भाग १ पृष्ठ ४६।४।
६ गरीबदास की बानी पृष्ठ ६२।

सत्य प्रेम का संसार में बड़ा महत्व है। भीखा साहब ने सत्यवादी व्यक्ति को ही सन्त माना है।[1] सत्य में सभी गुण सभी कर्म सभी धर्म सभी विशेषताएँ सहज रूप में ही रहती है। सत्य ही अन्धकार में प्रकाश देता है। वह आलोक और ज्योति का पुंज है। जब सत्यवादी व्यक्ति का सम्पर्क सत्यवादी से होता है तभी अत्यधिक स्नेह बढ़ता है

साँच को साँचा मिलै अधिका बढ़ै सनेहु।
झूठे को साँचा मिले तड़दे टूटै नेहु॥[2]
(कबीर)

इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और ब्रह्म का अन्तर केवल कल्पित ही है। संत दादू साँच के लिये कहते है

साँचे का साहिब धनी समरथ सिरजनहार।
पाखंड की यहु पिरथमी परपंच का संसार॥[3]

गरीबदास के मतानुसार साँच रूप साहब जिनके हृदय मे बसे हुये है उनके दर्शन मात्र से ही तीर्थों के समान पुण्य प्राप्त होता है।

साँच जिनके घट बसै झूठे कपट नाहि भ्रम।
तिनका दरसन न्हान है वह परसी फिर धम॥

सत्य के इस मधुर स्वाद का रसास्वादन करने वाले हमारे निर्गुण सन्त-कवियों ने बारम्बार सत्य बोलने की चेतावनी दी है।

झूठा सब संसार है साँचा है सो एक।
पार ब्रह्म सत्य ब्रह्म पर तज बसुधा की टेक॥[4]

इस क्षणभंगुर संसार मे केवल राम के रूप मे सत्य एवं उसका नाम ही अमर है। इसी सत्य का अनुकरण कर मानव उस ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इस कारण सन्त-कवियों ने धर्म का अर्थ सत्य अथवा ईश्वर की प्राप्ति ही बताया है।

धर्म मे व्याप्त विकारों तथा बाह्याडम्बरों की निन्दा करके ही इन निर्गुण सन्त कवियों ने पथ भ्रष्ट एवं सत्पथ च्युत जनता को धर्म के राजमार्ग पर लाना चाहा। धर्म और साधना मे इन कवियो को व्यर्थ के बाह्याचार स्वीकार नही थे। उनके मतानुसार साधना तो अत्यन्त प्रिय विषय है। साधना के मध्य मे कोई भी विरोधी

---

१ सत्य नहीं एक नाम को कोई सन्त सयाने
भीखा साहब की बानी पृष्ठ २ १।

२ स बा स भाग १ पृष्ठ ८० ६।

३ स बा स भाग १ पृष्ठ १४१।

४ गरीबदास की बानी पृष्ठ २६।१२।

भावनाएँ नहीं होनी चाहिये। इस सत्य से हमारे निर्गुण सन्त-कवि परिचित थे। इसी कारण उन्होंने श्रम एवं साधना के सहज पथ को ग्रहण करने के लिये अपनी समकालीन जनता को उपदेश दिया। सन्त कबीरदास जी ने जनता को बताया कि साधना दुरहता से रहित और सुगम होनी चाहिये। सहज-पथ ही सत्य पथ है जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

सहज सहज सब को कहै सहज न चीन्है कोइ।
जिन्ह सहजै विषया तजी सहज कहीजै सोइ॥

इस प्रकार मन की आसक्ति विषयों में न होने देनी चाहिए। निर्गुण सन्तों पर भारतीय गृहस्थ-आश्रम व्यवस्था का भी प्रभाव पड़ा था। भारतीय गृहस्थ की ऐसी एक भी नित्य या नैमित्तिक क्रिया नहीं होती थी जिसमें लोक-हित के साथ ही साथ परलोक-हित का अंश न रहता हो। शरीर की क्षणभंगुरता तथा आत्मा की नित्यता का ध्यान सदा उनके हृदय-पटल पर अंकित रहता है। यम नियम के पालन द्वारा वे अपने जीवन को अपरिग्रहशील बनाकर न्यूनातिन्यून सामग्रियों से जीवन-यापन का नित्य अभ्यास करते-करते अन्त में ममता तथा अहं से शून्य होकर संसार और भौतिक शरीर का त्याग सुखपूर्वक करते थे। ऐसे गृहस्थ जिस प्रकार दूसरों के द्रव्य पर सदृष्य दृष्टि रख सकते हैं। परन्तु देश-काल की परिस्थितियों ने भारतीय जनता के इस महान् आदर्श को भी आच्छादित कर दिया। सन्तों को शीतल और पवित्र वाणी ने जनता के हृदय में जमी हुई गहरी निराशा को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने भी उपदेश देकर भारतीय जनता को यह बताने का प्रयत्न किया कि गृहस्थ को किस प्रकार जीवन यापन करना चाहिये

जो मानुष गृह धर्म युत राखै सील विचार।
गुरुमुख बानी साधु संग मन बच सेवा सार॥
सिरही सैवे साधु को साधू सुमिरै नाम।
या मैं धोखा कछु नहीं सरै दोऊ को काम॥[1]

(कबीर)

इस प्रकार साधु एवं गृहस्थ दोनों का ही कार्य पूर्ण हो जाता है। सन्तों ने पतिव्रता स्त्री को भी पूजनीय माना है। स्त्री को उस ब्रह्म की प्राप्ति अपने पति में ही हो सकती है। पतिव्रता स्त्री के लिये कबीर दास जी कहते हैं

कबीर रेख सिंदूर अरु काजर दिया न जाय।
नैनन प्रीतम मिलि रहा दूजा कहाँ समाय॥

---

१ स बा स भाग १ पृष्ठ ४६।१३।
२ स बा स भाग १ पृष्ठ ४१।१४।

इसी प्रकार अन्य सन्त-कवियों ने भी स्त्री का धर्म पति की सेवा बताया है। सुन्दर दास तो स्पष्ट शब्दों मे कहते हैं

सुन्दर जिन पतिव्रत लिये
तिन कीये सब धर्म

धर्म का वास्तविक अर्थ यही है कि प्रत्येक इस संसार में अपने कार्य को पूर्णतया करे परन्तु उसमें आसक्ति न हो और न फल की ही कामना करे।

इन सन्तों के युग मे हिन्दू एवं मुसलमान दो धर्म प्रचलित थे। परन्तु दोनों ही धर्मों मे हिंसावृत्ति समाविष्ट हो गई थी। इसी कारण अहिंसा की ओर भी इन सन्त कवियो ने ध्यान दिया। सन्त कबीरदास जी अहिंसा के प्रबल पक्षपाती थे। उन्होंने लिखा भी है।

कबीर खाखा खाइ का
मांगें मिस्या खुदाइ।

मीरो मुल्लों यों कह्या
किनि फुरमाई पाय ॥

कबीर ने मुसलमानो की क्रूरता एवं हिंसा के कारण उन्हें फटकारा

दिन भर रोजा रहत है राति हनत है गाय।
यह खून वह बंदगी कैसे खुशी खुदाय।

तथा

अपनी देखि करत नहिं अहमक कहत हमारे बड़न किया।
उसका खून तुम्हारी गर्दन जिन तुमको उपदेश दिया॥

इसी प्रकार उन्होंने हिन्दू योगियों से भी पूछा कि कब 'मारन बन्दूक चलाया'। इन स्पष्ट शब्दो द्वारा उन्होंने हिंसा न करने का उपदेश दिया। साथ ही साथ हिंसा मे प्रवृत्त प्राणियों को कुछ भय भी दिखाया कि

बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात है तिनका कौन हवाल॥

इन्हीं व्यंग्यपूर्ण दिशा म सन्त कवियो ने उस काल की जनता की मनोवृत्ति और धर्म के आडम्बरपूर्ण पक्ष का चित्रण किया है। साथ ही साथ दोनों ही धर्मावलम्बियो के हृदयस्थ भेदभाव की संकीर्णता को भी दूर करने का प्रयत्न किया। तत्कालीन जनता के हृदय मे व्याप्त असंतोष तथा प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति के विरुद्ध सन्तो ने सन्तोष एवं क्षमा का ही उपदेश दिया। क्षमाभाव को उन्होंने परब्रह्म का रूप बताते हुए कहा जहाँ छिमा तहँ आप।

विजेता-धर्म के अत्याचारो से पीड़ित जनता को भी धैर्य रखने का उपदेश संतों ने

सांस्कृतिक सामञ्जस्य

'संस्कृति' शब्द संस्कृत व्याकरणानुसार सम् (उत्तम) उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। इसका सरल अर्थ है उत्तम कृति अर्थात् वह इन्द्रिय प्राण मन बुद्धि आदि की सम्यक् चेष्टायें। इनमें लौकिक पारलौकिक धार्मिक आध्यात्मिक आर्थिक राजनैतिक सभी प्रकार के अभ्युदय उन्नति के अनुकूल चेष्टायें आ जाती हैं। वैसे तो देहादि की सभी अच्छी सम्यक् चेष्टायें ही संस्कृति कही जाती है। इसकी सीमायें एक ओर धर्म के क्षेत्र को स्पर्श करती हैं तथा दूसरी ओर साहित्य पर भी प्रभाव डालती हैं।

संस्कृत एवं संस्कार' शब्द अत्यन्त प्राचीन हैं तथा बहुधा प्रयुक्त हैं। इन उभय शब्दों की तुलना में 'संस्कृति' शब्द अपेक्षाकृत नवीन है। अधिकतर आंग्ल भाषा के 'कल्चर' शब्द का परिचय कराने के लिये 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु सत्य यह है कि इस भाषा के प्रस्तुत शब्द का भी अर्थ निश्चित नहीं है। तथ्य यह है कि 'कल्चर' और 'संस्कृति' शब्दों का अर्थ एक ही नहीं है। परन्तु फिर भी उनके भावार्थ मे बहुत कुछ साम्य है। दोनों की आत्मा में बहुत साम्य और सामंजस्य है। वास्तव मे प्राकृतिक विधान के अनुरूप संस्कार की हुई पद्धति ही संस्कृति है। संस्कृति आधुनिक-युग का अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। पाश्चात्य विद्वानों के मत से 'संस्कृति' उस सामाजिक देन को कहते हैं जिसके अनुसार मानव अपने जीवन को आधारित करता है और जिसकी नींव पर समाज सभ्यता की दिशा मे अग्रसर होता है। मानव और समाज की विशेषताएं उसके स्वभावानुरूप उसके अलग-अलग धर्म विश्वास मान्यताएं कला-कौशल रीति-नीति यह सब कुछ संस्कृति के अन्तर्गत आ जाते हैं। पूर्व के विद्वान संस्कृति के आभ्यान्तरिक तत्वों पर विशेष ध्यान देते हैं। इन विद्वानो के अनुसार संस्कृति का सम्बन्ध संस्कारों से है। वे विद्वान संस्कारों के समाहार को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति व्यक्तिगत और समष्टिगत भी होती है। किसी समाज जाति या राष्ट्र के [illegible] व्यक्तियों ने उत्थान और विश्व

संस्कारों के पुंज का नाम उस समाज जाति और राष्ट्र की संस्कृति है। सी पी रामास्वामी अय्यर का मत है कि संस्कृति जीवन का एक दृष्टिकोण है।[1] संस्कृति का विकास समष्टिगत अनुभवों से होता है।

'संस्कृति' किसी देश या जाति की आत्मा है। इससे उनके उन संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है या विशिष्ट मानव-समूह के उन उदात्त गुणों का सूचित करती है जो मानव-जाति म सर्वत्र पाये जाने पर भी उस समूह की विशिष्टता प्रकट करते हैं, और जिन पर उनके जीवन म अधिक भार दिया जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते है कि संस्कृति सभ्यता स भिन्न एक गुण है। सभ्यता वह वस्तु है जो हमारे पास है और संस्कृति वह गुण है जो हम में व्याप्त है। इस कारण सभ्यता से अधिक समय तक रहने वाली संस्कृति ही होती है क्योंकि सभ्यता की सामग्रियाँ टूट फूट कर विनष्ट हो जाती हैं पर संस्कृति का विनाश सरलता से नहीं हो सकता। अनेक शताब्दियों तक एक समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते रहते-सहते पढ़ते लिखते राज-कार्य चलाते एवं धर्म-कार्य करते हैं उन सभी कार्यों में उनकी संस्कृति की झलक मिलती है। यहाँ तक उठने-बैठने पहनने-ओढ़ने घूमने-फिरने एवं रोने हंसने तक में हमारी संस्कृति की झलक मिलती है। यद्यपि हमारा केवल एक ही कार्य हमारी संस्कृति का पर्याय नहीं बन सकता है। यथार्थ में संस्कृति जीवन का एक ढंग है और यह ढंग शताब्दियों से एकत्र होकर समाज मे निहित रहता है। जिस समाज म हम जन्म लेते हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति होती है। इसी कारण 'संस्कृति' हमारे जीवन मे व्याप्त है। संस्कृति और सभ्यता में भेद देखें तो हम कह सकते हैं कि संस्कृति मनुष्य के अखिल जीवन को संस्कारित करती है और सभ्यता स केवल बाह्याचार लक्षित होता है। संस्कृति जीवनव्यापिनी चेतना है सभ्यता शरीर पर धारण किये गए आभूषण। इसी दृष्टि से यूरोपादि देशों के सुधारों को 'संस्कृति' न कह कर *सभ्यता कहा जाता है। संस्कृति के उपकरण हमारे पुस्तकालय संग्रहालय सिनेमा-गृह ही नहीं होते* वरन् हमारे राजनैतिक एवं आर्थिक संगठन भी होते हैं क्योंकि उन पर भी हमारी रुचि और चरित्र की छाप लगी होती है। निष्कर्ष यह है कि सभ्यता

---

१ संस्कृति की अन्य परिभाषाएं देखिये

(क) एक बड़े लेखक का कथन है

संसार भर मे जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गई हैं उनसे अपने आपको परिचित कराना संस्कृति है।

(ख) संस्कृति सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है।

(ग) संस्कृति मन आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है।

'संस्कृति के चार अध्याय' की भूमिका

लेखक जवाहरलाल नेहरू।

की अपेक्षा संस्कृति सूक्ष्म वस्तु है यह सभ्यता में उसी प्रकार व्याप्त है जैसे पुष्पों में सुगन्ध।

भारतीय-संस्कृति का मुख्य आधार आध्यात्मिकता है। ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय-संस्कृति की प्रथम विशेषता है स्वतन्त्र विचार-पद्धति या अभय मनोवृत्ति। भारतीय-संस्कृति की द्वितीय विशेषता है सहिष्णुता एवं औदार्य। इस देश मे हर प्रकार के विचारक समुत्पन्न हुये। कोई ईश्वरवादी था कोई अनीश्वरवादी परन्तु आदर्शों की रक्षा के लिये इस देश में कभी रक्तपात नहीं हुआ। यहाँ जीवन तर्क और बौद्धिकता के माध्यम से सदैव व्यतीत हुआ था। भारतीय संस्कृति की तृतीय विशेषता या चिह्न क्रम या ऋतु है अर्थात् घटनाएँ अचानक नहीं होती वरन् नियमानुसार एक व्यवस्था के अनुसार होती हैं उनमें एक स्वामित्व या निरन्तरता रहती है वे क्रमानुसार होती रहती हैं। आश्रम वर्ण भेद कर्मफल के सिद्धान्त इसी विशेषता के अन्तर्गत आते हैं। संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है, जब भी दो देश वाणिज्य-व्यापार या शत्रुता एवं मित्रता के कारण आपस में मिलते हैं तब उनकी संस्कृतियाँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। जो संस्कृति केवल देना ही जानती है पर लेना नहीं जानती वह एक न एक दिन अवश्य ही पतन के गर्त में जा गिरेगी। इसके विपरीत जिस संस्कृति रूपी सरिता में विभिन्न जलवाली सरितायें आकर मिलती हैं उसमें सदैव ही स्वच्छ जल हिलोरें लेता है। किन्हीं दो नवीन संस्कृतियों के मिलते ही उनके संघर्ष से एक नवीन धारा ही फूट निकलती है। आदान प्रदान की यह प्रक्रिया संस्कृति का जीवन है इसी के सहारे वह जीवित रहती है।

संस्कृति समष्टिगत समान अनुभवों से उत्पन्न होती है। एक ही जलवायु में पले एक ही प्रकार के गिरि, निर्झर नदी सागर को देखने वाले एक ही प्रकार के राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक सुख दुख भोगे हुये लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक सा ही हो जाता है। साहित्य इन्हीं अन्तस्तल मे झंकृत होने वाले तारों की स्वर-लहरी को आत्मसात् कर लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगों की अनुभूतियाँ एक सी होंगी उनमें भाव भव भी एक सा ही होगा। यही कारण है कि निर्गुण-भक्ति-शाखा के सर्वश्रेष्ठ संतकवि कबीरदास निम्न जाति के होते हुये भी लोकप्रिय हो गये। समान अनुभूति धार्मिक भावों में भी समता उत्पन्न कर देती है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दू-संस्कृति के सम्पर्क मे आते ही इस्लामी कट्टरता दूर होने लगी और हिन्दुओं का भी ध्यान बाह्याडम्बरों से हटकर मानव-मात्र की सेवा की ओर गया। अब हम हिन्दू-संस्कृति की ओर दृष्टिपात करेंगे।

हिन्दू-संस्कृति ने अपने को धर्म वाङ्मय चित्रकला एवं मूर्तिकला के रूप मे व्यक्त किया है। समय-समय पर इसके स्वरूप में परिवर्तन अवश्य होते गये। अशोक-कालीन संस्कृति गुप्त कालीन संस्कृति से भिन्न थी। मुगल-काल में संस्कृति ने दूसरा ही रंग दिखाया। उस समय तो उत्तर भारत और दक्षिण-भारत की संस्कृति में ही

अन्तर हो गया। फिर भी इन देश-कालानुगत भेदों के रहते हुए भी इसमें कुछ तो विशेषता है ही जिसने भेद में भी अभेद को बनाये रक्खा। यह विशेषता इसकी प्रधान कार्य-धारा से आई है। यही वह गुण है जो इसको अन्य संस्कृतियों से भिन्नता प्रदान करता है और जो भारत का मानव के लिए सन्देश है। यदि इसे एक शब्द में व्यक्त करना चाहें तो वह शब्द है 'आध्यात्मिकता'।

आध्यात्मिक-भाव का विश्लेषण करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि इसमें मुख्य रा तीन विचारों का सम्मिश्रण है

[१] अद्वैत-भावना
[२] कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त
[३] योग पर विश्वास

अद्वैत भावना

इस देश में द्वैतवादी दार्शनिक भी हुए हैं। मध्वादि सम्प्रदाय के भक्तों ने मोक्ष-भावना में द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। परन्तु श्रोताओं ने उनके शब्दों को खींच खांच कर अद्वैत-भाव की ही पुष्टि की है। विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत और अद्वैतवादों में जो सूक्ष्म भेद हैं, उसकी ओर सामान्य जनता की सरल बुद्धि ने ध्यान नहीं दिया उसने उन सबमें सीधा-सादा अद्वैत भाव जीवात्मा और परमात्मा का तात्विक अभेद मात्र पकड़ लिया।

अद्वैत भाव का परिणाम कट्टरपन का अभाव है जिसे इस संस्कृति की विशेषता कहा जा सकता है। हिन्दुओं के रग-रग में यह बात समा गई है :

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

इस कारण दूसरे धर्म को सर्वथा मिथ्या मानना या दूसरे की उपासना-शैली को नरक में जाने वाली बताना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही हो गया। क्रोध की बात तो दूसरी है पर साधारणतया उसका हाथ दूसरों के देवालयों को ढहाने के लिये उठता ही नहीं है। इसी कारण वह सुगमता से अपने उपास्यों की सूची में वृद्धि कर लेता है। साथ ही वह परधर्मावलम्बियों के साथ भी उदारता का भाव रखता है।

अद्वैत भाव का ही द्वितीय परिणाम अहिंसा-भाव और दया है। जब सभी प्राणी अपने ही रूपान्तर हैं तब कौन किससे द्वेष करे? कौन किसका अहित करे? राग द्वेषजनित स्वार्थ के वशीभूत होकर हिन्दू भी बुरे कार्य कर बैठता है पर साधारणतया उसकी प्रवृत्ति स्वरक्षणात्मक होती है। मोहवश या अज्ञानवश वह निर्दयता भी करता है परन्तु प्रायशः जीव-दया तिर्यक प्राणियों के प्रति सम्वेदना उसको अधिक रुचती है।

कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त

भारतीय जनता की कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर अटल विश्वास है। इस

विश्वास से उसमें अपूर्व शक्ति आ गई है। वह भले ही विपत्तियों से कातर हो जाय फिर भी दुःख उसको अधिक विचलित नहीं करते। वह सोचकर ही वह शान्त हो जाता है कि यह पूर्वजन्म के फल हैं।

योग पर विश्वास

योग पर भी हिन्दू-संस्कृति विश्वास करती है। योग को साधारण शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि आत्म साक्षात्कार की साधना का नाम 'योग' है। भजन ध्यान इत्यादि इसके पर्याय शब्द प्रचलित हैं। हिन्दुओं की ऐसी धारणा है कि जिन्हीं उपायों से इसी जीवन में ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है और मनुष्य अपने को देवोपम बना सकता है।

इन तीन बातों को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति के यह मूल तत्व हैं।[1] इस लोक में रहते हुए भी दृष्टि 'परलोक' को ही ढूंढती है। उनके सम्मुख राम कृष्ण के चरित्र हैं जिन्होंने राजकार्य के साथ ज्ञान-वैराग्य को सफलता से मिला दिया था। अतएव भारतीय-संस्कृति की आधार-शिला यह आत्म-साक्षात्कार या आध्यात्मिकता ही है। योगिराज श्री अरविन्द के शब्दों में देखिये

---

१ श्री भारत-धर्म-महामण्डल के एक महात्मा ने भारतीय-संस्कृति के सोलह मूलाधार माने हैं

(१) धर्मानुकूल शारीरिक (व्यापार रूपी) सदाचार

(२) सद्विचार

(३) वर्ण-धर्म

(४) आर्य नारियों में सतीत्व का प्राधान्य

(५) आश्रम धर्म

(६) दैव जगत पर विश्वास

(७) देवताओं के अवतार पर विश्वास

( ) हिन्दू धर्म की उपासना पद्धति पर विश्वास (योग मूलक और भक्ति मूलक)

(९) सर्वव्यापी भगवान की उपासना

(१) शुद्धाशुद्ध एवं स्पर्शास्पर्श विवेक

(११) यज्ञ महायज्ञों पर विश्वास

(१२) वेद स्मृति पुराण आदि पर विश्वास

(१३) कर्म पर विश्वास

(१४) पुनर्जन्म पर विश्वास

(१५) निर्गुण एवं सगुण उपासना विधियों पर विश्वास तथा

(१६) जीव की कैवल्य प्राप्ति।

संस्कृति अपने साधारणतः समझे जाने वाले अर्थों में मार्गदर्शक ज्योति नहीं हो सकती और न यह हमारे समस्त जीवन और कर्म के नियामक एवं समन्वयकारी सिद्धान्त का पता ही पा सकती है। संस्कृति का अगर भगवान की प्राप्ति करनी है तो उसे आध्यात्मिक संस्कृति बनना होगा। बौद्धिक सौन्दर्योपासक नैतिक एवं व्यावहारिक विकास की अपेक्षा अधिक उच्च कोटि की वस्तु बनना होगा इस प्रकार आदर्श व्यक्ति तथा आदर्श समाज का विकास करने और मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को भगवान से ऊँचा उठा ले जाने का ठीक मार्ग यही प्रतीत होता कि समस्त जीवन को धर्ममय बनाकर सब कार्य धार्मिक भावना के अनुसार चलाये जायें।[1] धर्म का अर्थ स्वधार्मिता में नहीं वरन् आध्यात्मिकता के पर्यायवाची रूप में लिया गया है।

भारतीय-संस्कृति की तुलना अश्वत्थ वृक्ष से की गई है, जिसकी नीव स्वर्ग में है, और शाखाएँ पृथ्वी की ओर हैं। क्योंकि इसी प्रकार भारतीय-संस्कृति भी आध्यात्मिकता के द्वारा (जिसके लिए पुरुषार्थ बाहर से प्राप्त होता है) जीवन के अन्तरिक्ष को भेदकर उसके अनन्त रहस्यों को जानने के लिए प्रयत्नशील रही है।

इतिहास के विगत पृष्ठों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समयानुसार भारतीय-संस्कृति में परिवर्तन होते गये। हम भारतीय-संस्कृति को संकुचित दृष्टि से नहीं देख सकते हैं क्योंकि वह मानव संस्कृति है। उस समय जब भारतीय-समाज के क्षितिज पर संकटों के बादल मंडरा रहे थे जनता का जीवन विषाद और शोषण की व्यापक गाथा बन रही थी तब भी भारतीय-संस्कृति का प्रभाव इस्लाम पर पड़ा और नवीन आदर्श हमारे सम्मुख आये। अपनी सहिष्णुता के कारण ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सभी प्रकार के मत चले और फले-फूले परन्तु अधिक प्रबल और संघर्षमय विरोध कभी भी नहीं हुये। भारतवर्ष के इतिहास में जब कभी कट्टरता और कटुता की भावना के दर्शन हुए, वह युग सांस्कृतिक ह्रास का समय था। प्रायः यह सांस्कृतिक ह्रास आक्रमणकारियों की कटुता और कठोरता के फलस्वरूप भी समुपस्थित हो जाता था। भारतीय-जीवन में उदारता की भावना प्रमुख रही है। उपनिषदों में लिखा है कि

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

भारतीय-संस्कृति की मुख्य विशेषता रही है सामंजस्य की भावना। इसी कारण कभी भी हमारी संस्कृति में उच्छृङ्खलता नहीं आ सकी। मध्य-युग में जब कि इस्लाम की पताका चारों ओर फहरा रही थी शासक-वर्ग हिन्दुओं को घृणा की दृष्टि से देख रहे थे उस समय भी भारतीय-संस्कृति ने अपनी आधारशिला को सुरक्षित रखते हुये इस्लाम को भी अपने में मिला लिया और उसकी सभ्यता को भी स्थान दिया गया। विचारकों द्वारा भक्ति ज्ञान और कर्म का पूर्ण समन्वय स्थापित किया गया। सत्यं शिवं सुन्दरम् का सामञ्जस्य किया गया।

---

१ भारतीय संस्कृति मोहनलाल विद्यार्थी प्रथम भाग पृष्ठ १९

मध्य-काल में हिन्दू और इस्लामी-संस्कृतियों का सामञ्जस्य किस सीमा तक हुआ इस विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं।[1] कुछ विद्वान इस पक्ष में हैं कि नवीन संस्कृति का हिन्दू धर्म पर मौलिक प्रभाव पड़ा और कुछ लोगों की यह धारणा है कि हिन्दू धर्म ने इस्लाम से बहुत अधिक नहीं लिया वरन् इसके विपरीत उसने इस्लाम पर अपनी छाप लगा दी। ई. बी. हैवेल के शब्दों में :

इस्लाम ने भारत के राजनैतिक केन्द्रों पर अधिकार कर लिया उसकी सेनाओं को नियंत्रित किया किन्तु फिर भी उसने अपनी सबसे प्रिय वस्तु मानसिक साम्राज्य को हाथ से नहीं जाने दिया और उसकी आत्मा ने कभी घुटने नहीं टेके। उसने यह भी सिखा है कि वीर अभागी फिरोज की माता की भाँति भारत ने अपने शरीर को विजेताओं के अर्पण कर दिया जिससे उसके गर्भ से एक नया इस्लाम जन्म ले सके। वास्तव में उसने जो कुछ युद्ध-क्षेत्र में खो दिया था उसे अपने आध्यात्मिक अस्त्रों द्वारा पुनः प्राप्त कर लिया।

इन दो सांस्कृतिक-धाराओं का मिलन हमें कला स्थापत्य धर्म एवं साहित्य में देखने को मिलता है। यह संस्कृति न शुद्ध हिन्दू है और न शुद्ध मुस्लिम अपितु उन दोनों का सुन्दर समन्वय है। कला किसी जाति की आत्मा का सच्चा दर्शन कराती है। मुगलों से पूर्व मुसलमानों ने हिन्दुओं की हर वस्तु को नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा की थी परन्तु मुगलों ने उस संस्कृति को आत्मसात् किया। उसका संरक्षण किया और उसे एक नवीन रूप में ही प्रदान किया। इसका सबसे अधिक श्रेय[2] अकबर को

---

१ इस विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद' सांस्कृतिक परिस्थितियाँ' में सविस्तार विचार प्रकट किये गये हैं। विस्तार भय से यहाँ पुनरुक्ति नहीं की जा रही है।

2 Akbar's rtist looked back to no struggling primitives behind them but to th finished ohievement supreme in this kind of the Iranianasters and his patronag would have resulted in loss of alu h.d t not been for the example and oppor tunities it gave fo revivals of the indegenous school of iranian art in loo l centres Th Hindu element after his death ame to infilterat more and more of th Moughal School whil outside the capitol provinoial Rajas encouraged rtists give push to ancient native traditions The whole Moughal Sohool effects Akbar political aspirations, its aim is to fuse the Iranian The Mohammadan with th Hindu Style'

Akbar—Page 76

—By Lauranoe Benyon

ही है। अकबर के बनवाये मकबरे किले सड़कें पुल मस्जिदें आदि सभी इस बात के प्रमाण हैं कि वह भारत ईरान तथा अरब के सर्वोत्तम सिद्धान्तों कलाओं एवं कृतियों में समन्वय स्थापित कर देना चाहता था।[1] जहाँगीर तथा शाहजहाँ भी शिल्पकला के क्षेत्र में सफल थे।

अहमदाबाद तथा बनारस के कमखाब पर मुसलमानों की रुचि का प्रभाव है। नर्मों के कढ़ाव एवं कटाव पर दोनों ही संस्कृतियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस सांस्कृतिक समन्वय का प्रभाव चित्रकला पर भी पड़ा और ईरानी कला भावों एवं कल्पनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने लगी। इसका श्रेय भारतीय-संस्कृति को ही है। राजपूत एवं मुगल दोनों की ही चित्र कला पर इन समन्वय की छाप है।

जो कला 'मुगल कलम' के नाम से विख्यात है वह यथार्थ रूप में भारतीय चित्र शैली पर ही आधारित थी। अकबर से पूर्व मुगलों की राजसभा में ईरानी चित्रशैली प्रचलित थी। कारण कि शेरशाह से पराजित होने के पश्चात् हुमायूँ भागकर ईरान के बादशाह की शरण में गया था और दस वर्ष तक वह उनका अतिथि बनकर वहां रहा था वहीं पर हुमायूँ ने ईरानी चित्रकला की ओर ध्यान दिया और भारत में पुन राज्य प्राप्ति के पश्चात् उसने ईरान के दो चित्रकारों मीर सईद अली और अब्द समद को भारत बुलाया। इन दोनों चित्रकारों ने ईरानी शैली का प्रचार भारत में किया। ये ईरानी चित्र मुगलों की तूलिका के चित्र न थे कारण कि मुगलों की तूलिका तो शुद्ध भारतीय थी। जिसके जन्म का श्रेय अकबर ऐसे सहृदय एवं भारतीय-कला प्रेमी सम्राट को मिलता है। अकबरी चित्रों के अधिकांश चित्र भारतीय एवं प्राचीन ब्राह्मण धर्म से सम्बद्ध हैं। अकबर के चित्रकारों म कुछ को छोड़ कर सब भारतीय चित्रकार ही थे।

१५वी शताब्दी म ईरानी चित्रकला ने तैमूर वशीय राजाओं के आश्रय म खूब उन्नति की। अकबर ने भी बेहजाद के शिष्यों को भारत बुलाया और उन्ही कलाकारों ने भारतीय कला का मिश्रण कर मुगल-चित्रकला का प्रारम्भ किया। अकबर के काल मे वपन किये हुये बीज जहाँगीर के काल म पुष्पित एव पल्लवित हुए और मुगल कुतुबखाना चित्रो का आगार बन गया। जहाँगीर म अकबर जैसी मर्मज्ञता नही थी फिर भी प्रकृति प्रमी होने के कारण उसके युग के चित्रों मे प्रकृति निरीक्षण उच्च कोटि का है। शाहजहा के काल में भी उच्च कोटि के चित्रकार एवं कलाकार थे और ये सब शाही शान का अंग बन चुके थे।

औरंगजेब के काल मे कला का अस्त हो गया। धार्मिक कट्टरता के कारण उसके

---

१ विशेष विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का 'सांस्कृतिक परिस्थितियाँ' प्रथम परिच्छेद में देखिये।

२ बाबर ने अपनी आत्मकथा मे 'बेहजाद को ससार का सबसे बड़ा चित्रकार बताया है।

भेद ही नष्ट हो गये थे। उनसे कला के प्रति उपेक्षा भाव प्रदर्शित किये जिससे कलाकार दिल्ली छोड़कर इधर-उधर जाने पर विवश हो गये। मुगल कला का उद्भव विकास और ह्रास केवल दो सौ (२) वर्षों में ही पूरा हो गया। धर्म एवं साधना के क्षेत्र में सांस्कृतिक सम्पर्क का प्रथम प्रभाव निर्गुण सन्त कवियों के काव्य में दृष्टिगत होता है। इन सन्तों ने समाज धर्म सभ्यता एवं संस्कृतिगत समस्त भेदों को मिटाकर नये आदर्शों की स्थापना की। इन नये आदर्शों के वटवृक्ष रूपी छाया में बैठकर हिन्दू एवं मुसलमान दोनों जातियों ने भेदभाव सताप और विनाशकारी प्रभाव को पूर्णतया बिसार दिया। समाज एवं धर्म के ठेकेदारों ने विष के जिन बीजों का वपन करके प्रतिकार प्रतिहिंसा एवं प्रतिशोध की जो होली रूप की थी उसे पूर्ण रूप से शीतल कर देने का श्रेय सन्तों को ही है। उन्होंने जीवन के लिये उपयोगी तत्वों एवं मनोवृत्तियों का उपदेश दिया। इस प्रकार के सन्तों में कबीरदास रैदास नानक दादू दयाल मलूकदास सुन्दरदास धरनीदास जगजीवन साहब यारी साहब दरिया एवं दूलनदास बुल्ला साहब चरनदास बुल्लेशाह सहजोबाई दयाबाई गरीबदास भीखा साहब पलटू साहब और तुलसी साहब प्रमुख हैं। इनमें हिन्दू मुसलमान अन्त्यज कुलीन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र भी थे। इन्होंने जीवन के एक एक सत्य रूप को जनता के समक्ष समुपस्थित किया जो बड़ा स्पृहणीय बड़ा मनोरम बड़ा चित्ताकर्षक और बड़ा सुरम्य था। इससे हिन्दू एवं मुसलमानों के संस्कृति का समन्वित रूप अभिव्यक्त हुआ। इस संस्कृति में कोई विषमता नहीं थी। इस संस्कृति में औदार्य सद्भावना सहनशीलता और सौहार्द की प्रधानता थी। निर्गुण सन्त कवियों के उपदेशों में सूफीमत के कई तत्व थे। सन्तों के समान ही सूफी कवि भी समन्वित संस्कृति के स्वरूप के प्रतिपादक थे। पवित्र सूफी काव्य-धारा के प्रवाह में योगदान देने वाला में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। इन कवियों ने सत्य प्रेम की कथा को लेकर जीवन की कोमल भावनाओं और उज्ज्वल पक्ष को जनता के समक्ष समुपस्थित किया। उन्होंने हिन्दू जीवन की कथाओं को लेकर मसनवी शैली में प्रस्तुत किया और अपने साहित्य एवं विचारधाराओं के द्वारा समस्त विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न किया। इन्होंने विषमताओं से भरे जीवन को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया जहाँ न कटुता थी न विषमता थी न संघर्ष था न वैमनस्य था और न उच्छृंखलता थी। ऐसे मुसलमान सूफी कवियों में उल्लेखनीय थे कुतुबन मंझन जायसी उसमान आलम नूरमुहम्मद कासिम शाह ख्वाजा अहमद शेख रहीम कवि नसीर आदि। मुसलमान सूफी कवियों की भाँति ही कुछ उदारमना भावुक हिन्दू सूफी-कवि हुए जिन्होंने आदि प्रेम की मधुर भावनाओं का परित्याग करके सद्भावना का बीज बोया। इस कोटि के कवियों में दुखहरनदास नेवाजदास जीवनलाल नागर [illegible] को। कवि कवर सुखदेव सिंह का उल्लेख [illegible] व राजा आदि। इन कवियों ने [illegible] मसनवी की शैली विचारधारा

तथा मायावर्त का अनुसरण किया और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के मध्यस्थ कटुता को सदैव के लिये समाप्त करने का प्रयत्न किया।

हिन्दू एवं मुसलमान-धर्म के एक दूसरे से प्रभावित होने पर सत्यपीर नामक देवता की पूजा प्रचलित हो गई जिसे हिन्दू एवं मुसलमान समान दृष्टि से पूज्य मानते थे। अकबर से पूर्व मुस्लिम शासकों ने धर्म के क्षेत्र में सांस्कृतिक-सामञ्जस्य की ओर अधिक ध्यान न दिया। मुख्यत: धर्म के क्षेत्र में सांस्कृतिक-सामंजस्य का कार्य सन्त विचारकों ने ही किया। इस कारण सामञ्जस्य केन्द्र से अधिक प्रान्तों में हुआ। विभिन्न प्रान्तों के राजाओं में भी कई ऐसे थे जिन्होंने हिन्दू धर्म एवं हिन्दू सन्तों का बड़ा सम्मान किया।

बाबर से लेकर शाहजहाँ तक यह धार्मिक-सामञ्जस्य या सहिष्णुता का भाव तीव्र गति से अनवरत प्रवाहित होता रहा जिसके फलस्वरूप सभी धर्मों में शांति बनी रही। परन्तु औरंगजेब की कट्टरता ने इस परम्परा को भंग कर दिया। उसके युग में धार्मिक सहिष्णुता पर गहरे आघात किये गये। इतिहास के पृष्ठों पर धर्म के नाम पर होने वाले रक्तपातों के छींटें पड़ गये जो कभी भी धुल नहीं सकते हैं।

परन्तु फिर भी हम यह देखते हैं कि मध्य-युग साहित्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में निर्माणकारी युग था जिसके परिणाम मुगलकाल में एकत्र किये गये थे। मुगलों ने धार्मिक सहिष्णुता की विवेकपूर्ण नीति को अपनाया। बाबर ने अपने प्रिय पुत्र हुमायूँ को जो वसीयतनामा दिया था उसके कुछ अंश को देखिये ऐ मेरे बेटे! भारत में भिन्न-भिन्न एवं विपरीत धर्मों के मानने वाले लोग हैं। ईश्वर को धन्यवाद है कि बादशाहों के बादशाह ने तेरे हाथ में इस देश का शासन सौंपा है इसलिये तेरे लिये यह उचित होगा

(१) तू अपने मस्तिष्क को धार्मिक पक्षपात से कभी प्रभावित न होने देना और इस देश के सभी विचारों के लोगों की धार्मिक प्रथाओं एवं मान्यताओं का उचित सम्मान करते हुए निष्पक्ष न्याय करना।

(२) विशेषतः गोवध से अपने को दूर रखना।

(३) किसी भी सम्प्रदाय के पूजापाठ के स्थानों को कभी भी नष्ट मत करना।[१]

इतिहास हमें यह स्पष्ट रूप से बता देता है कि हुमायूँ ने सतर्कतापूर्वक इस नीति का अनुकरण भी किया और कालिंजर का हिन्दू राजा प्रथम बार साम्राज्य का एक सामन्त बनाया गया। अकबर के समय में तो इस नीति का अक्षरशः पालन किया गया।

---

१ बाबर के इस वसीयतनामे की एक प्रतिलिपि भोपाल सरकार के राजकीय पुस्तकालय में रखी है।

२ (अ) उदाहरणार्थ अकबर ने मनोहर, जगन्नाथ बीरबल, होलराय टोडरमल, राजा भगवानदास, राजा मानसिंह, नरहरि, गंग तथा अन्य हिन्दू विद्वानों को संरक्षण दे रखा था।

(ब) मुकुन्द महेश जगन हरिवंश आदि हिन्दू चित्रकारों का भी संरक्षण किया था।

संस्कृत के अनेकानेक ग्रन्थों के अनुवाद भी मुगल शासकों द्वारा कराये गये। 'महाभारत' का अनुवाद नकीब खाँ अब्दुल कादिर हाजी फैजी तथा अन्य विद्वानों ने मिलकर किया हाजी इब्राहीम ने अथर्ववेद का फैजी ने 'लीलावती' का अब्दुल कादिर ने 'रामायण' का अनुवाद किया। फारसी ग्रन्थों में 'नल दमयन्ती' का भी अनुवाद हुआ।

आलम जमाल कादिर मुबारक रहीम जैसे कई मुसलमानों ने भी भारतीय विषयों पर अपनी पुस्तकें लिखी। इनमें सबसे प्रसिद्ध रहीम ही हैं। इन्होंने हिन्दी भाषा में ही अपनी कविता लिखी है। साथ ही यह फारसी अरबी तथा संस्कृत के पूर्ण विद्वान थे।[1]

इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि मुसलमान भारत भूमि की सन्तान हो गये थे परन्तु औरंगजेब ने इस चक्र को विपरीत दिशा में घुमा दिया जिससे उस युग की राजनीतिक सामाजिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को बहुत ही बड़ा धक्का लगा था। फिर भी हमारे निर्गुण सन्त कवियों ने इस स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया। उत्तर में इसी की प्रतिक्रियास्वरूप सिक्ख-धर्म की उन्नति हो रही थी। इसके अग्र धाता गुरु नानक हुये। आपने अपनी तपस्या भक्ति और ज्ञान के प्रभाव से हिन्दू संस्कृति को एक ही धारा में प्रवाहित होने दिया और इस प्रवाह को रोकने वाले स्वयं ही प्रवाह में बह गये। उस समय की दशा का वर्णन स्वयं गुरु ने इस प्रकार किया है

> कलि काती राजे कसाई धर्म पंखकर उड़ि रया।
> कूड़ अमावस सच्च चन्द्रमा दीसे नहीं कहिं चढ़िया॥

इस प्रकार उस समय की जो अवस्था थी उसको सुधारने का श्रेय निर्गुण सन्त कवियों को ही जाता है। ज्ञानाश्रयी-शाखा के इन सन्त-कवियों ने हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों के सामञ्जस्य में बहुत योगदान दिया है। सन्त कबीर की विचारधारा देखिये

> हिन्दू कहूं तो है नहीं
> मुसलमान भी नाहिं॥
> पांच तत्व का पूतला
> गैबी खेलै माहिं॥

गुरु नानक ने भी इसी विचार की पुष्टि की है

> बन्दे एक खुदाय है हिन्दू मुसलमान।
> दावा राम रसूल कर लड़दे बेईमान॥

---

[1] विशेष विवरण के लिये देखिये इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक परिस्थितियाँ परिच्छेद।

संत-काव्य में लोक-संस्कृति

सन्त-काव्य में लोक-संस्कृति का स्वरूप क्या है? इससे पूर्व 'संस्कृति' से क्या अभिप्राय है यह जान लेना अधिक समीचीन होगा। 'संस्कृति' का कोषार्थ 'सम्यक् कृति' है। परन्तु इस शब्द का एक और तर्कसंगत अर्थ निकलता है और वह है 'संभूय कृति'। दोनों ही अर्थ उचित है। मानव को व्यक्तिगत 'सम्यक् कृति' में संलग्न और संघशः 'संभूयकृति' में अनुरक्त रहना चाहिए। इससे संस्कृति विकासोन्मुख होती है। मानव जीवन के दो पक्ष होते हैं—एक व्यक्तिगत और दूसरा समाजगत दोनों पक्षों का ध्येय 'सम्यक्कृति' की ओर होना वांछनीय है। 'संस्कार' और संस्कृति दोनों में अभिन्न सम्बन्ध है। क्योंकि संस्कृति का मुख्य ध्येय विभिन्न संस्कारों द्वारा व्यक्ति की प्रतिभा और योग्यता का पूर्ण विकास करना है। कर्तव्यों के प्रति वैयक्तिक एवं सामाजिक आवश्यकता के कारण संस्कृति में प्राञ्जलता आती है। कृतज्ञता-परिपालन से संस्कृति में मधुरिमा का परिवर्द्धन होता है। सबकी संस्कृति एक ही हो ऐसा नहीं है। गुण प्रभाव प्रतिभा आचार-विचार की दृष्टि से प्रत्येक संस्कृति में अपनी न्यारी छाप होती है।

'संस्कृति' और 'सभ्यता' के अन्तर का भी समझ लेना औचित्यपूर्ण है, जिसे आंग्ल भाषा में 'कल्चर' कहते हैं वह संस्कृति है तथा जिसे 'सिविलाइजेशन' कहते हैं वह सभ्यता है। स्वरूप एवं गुणादि की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। पद्धति रीति-रिवाज व्यवहार संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। सांसारिक सुख एवं ऐश्वर्य सभ्यता के अन्तर्गत आते हैं। संस्कृति अन्तःकरण है और सभ्यता शरीर। संस्कृति सभ्यता द्वारा प्रकाश में आती है। संस्कृति वह साधन जिसमें समाज के विचार रहते हैं मानव-जीवन की गूढ़तम समस्याओं से अवगत होने के लिए हमें संस्कृति का अध्ययन करना पड़ता है। संस्कृति की व्यापकता भी कम नहीं है। वह सभ्यता से अधिक मूल्यवान है। वह सभ्यता के आवरण में छिपी हुई मूल्यवान धातु है, जिसका प्रकाश छुपाये नहीं छिपता। संस्कृति में परिवर्तन होता है परन्तु उसकी मौलिकता के

साथ नहीं जितनी शीघ्रता के साथ सभ्यता में हुआ करता है। नये सम्पर्क एवं अभियानों के फलस्वरूप संस्कृति मे परिवर्तन होता है। संस्कृति को बुद्धिसात् करने में श्रम-विशेष की अपेक्षा होती है। परन्तु सभ्यता को जब चाहो तब ग्रहण किया जा सकता है। संस्कृति का अनुकरण दुस्तर होता है जबकि सभ्यता का अनुकरण सहज एवं सरल होता है। सभ्यता का सम्बन्ध समाज से अधिक है। सभ्यता' शब्द का ही शाब्दिक अर्थ सभा में बैठने की योग्यता' है, संस्कृति समाज की आत्मा और प्राण-शक्ति होती है।

लोक-संस्कृति

'संस्कृति' की व्यापक स्थिति एवं स्वरूप की जानकारी के साथ-साथ संस्कृति की विशेषताओं तथा सभ्यता और संस्कृति के भेद-विभेदो एवं दोनों मे दृष्टिगत होने वाले दूरत्व पर प्रकाश डालने के पश्चात् 'लोक-संस्कृति' का अध्ययन कर लेना उचित होगा। सर्वप्रथम 'लोक' शब्द विचारणीय है। विभिन्न ग्रन्थ एवं काव्य ग्रन्थों मे लोक' के विभिन्न अर्थ प्रचलित हुए है। उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग इहलोक एवं परलोक दो अर्थों मे हुआ है। निरुक्ति मे लोक शब्द का प्रयोग पृथ्वी अंतरिक्ष एवं द्युलोक के अर्थ में हुआ है। पौराणिक काल मे लोक' शब्द का प्रयोग भूलोक भुवर्लोक स्वर्गलोक महर्लोक जनलोक तपलोक और सत्यलोक के अर्थ मे हुआ। पौराणिक काल के अनन्तर इस शब्द का प्रयोग अतल नितल वितल गभस्तिमान तल सुतल और पाताल के अर्थ मे किया गया। आज इस शब्द का प्रयोग जन जनता या सर्वसाधारण के अर्थ में हो रहा है। हिमालय की गोद में बसे हुए छोटे-छोटे जन पदो से लेकर कुमारी अन्तरीप तक प्रसारित व्यापक जनसमूह या मानव समाज-लोक है। भारतीय लोक-जीवन का इतिहास बड़ा प्राचीन और सुदीर्घ है। भारतवासियों से किया गया चिन्तन-कार्य रहन-सहन एवं कर्तव्य रीति रिवाज एवं व्यवहार सभी इस लोक-जीवन के अभिन्न अंग है।

लोक-जीवन के प्रांगण में संस्कृति का विटप पल्लवित पुष्पित एवं फलित होता है। लोक-जीवन एवं लोक-संस्कृति का चोली-दामन का साथ है। किसी भी राष्ट्र की संस्कृति या इतिहास के बहुमूल्य अंगो मे से लोक-संस्कृति ही प्रमुख है। लोक-संस्कृति की पुण्य सरिता का प्रवाह अजस्र है। इसका स्रोत जीवन है लोक-संस्कृति या लोक-राष्ट्र का इसे अमर रूप मानना चाहिए। लोकसंस्कृति के साथ लोक-इतिहास की गौरवमान घटनाओं और अमस्त व्यक्तित्वों का विस्तृत इतिहास मानव-समाज के स्मृति-पटल पर सदैव सुरक्षित रहता है। लोक के सम्बन्ध मे डा वासुदेव शरण अग्रवाल का निम्नलिखित कथन पठनीय होगा। 'हमारी कृषि अर्थसम्पत्ति ज्ञान, साहित्य कला के नाना रूप भाषाएं और शब्दों के भण्डार जीवन के आनन्दमय पर्वोत्सव नृत्य संगीत कथा-वार्ताएँ आचार-विचार सभी कुछ भारतीय लोक मे ओतप्रोत है। लोक की पुण्य सलिला भागीरथी युग-युग से बह रही है उसके

ओजस्वी प्रवाह में हमारी संस्कृति के मेघदम पूर्व-युगों में बरसते रहे हैं, सम्प्रति बरस रहे हैं और आग भी उनकी सहस्र धारायें लोक-जीवन की भागीरथी को आव बनाती रहेंगी। लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है उसमें भूत भविष्य वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक ही राष्ट्र का अमर स्वरूप है। लोक के कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक लोक की धात्री सर्वभूत-माता पृथ्वी और लोक का व्यक्त रूप मानव यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म शास्त्र है। इनका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार और निर्माण का नवीन रूप है। लोक पृथ्वी मानव इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है। लोक का अध्ययन बुद्धि का कुतूहल नहीं है। इसे एक और नया शास्त्र कहकर नहीं टाला जा सकता है। लोक-सम्पर्क के बिना सब शास्त्र अपूर्ण हैं। लोक का अमृत निस्यन्द जिस शास्त्र में नहीं उपलब्ध होता है, वह कितना भी पण्डिताऊ हो निष्प्राण रहता है।

लोक समस्त प्रकार के ज्ञान का स्रोत है। लोक-हित लोक-भावना लोक प्रवृत्ति और लोक चिन्तन की भावना से विहीन कला या साहित्य बुद्धि चमत्कार या कला-कौशल का प्रसारमात्र है। साहित्य या कला वही सराहनीय है जो लोक-जीवन को सींच सके उसे पल्लवित एवं पुष्पित होने में सहायता प्रदान कर सके तथा मानवता के विकास में योगदान दे सके। लोक-संस्कृति के उन्नयन में वही साहित्यकार या कलाकार सफल सिद्ध हो सकता है जो संवेदनशील हो तथा संवेदनात्मक दृष्टिकोण को अपनाता हो। वेदव्यास ने अपनी शत साहस्री संहिता में एक स्थान पर लिखा है कि—

'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः'

अर्थात् जो व्यक्ति लोक को स्वतः अपने चक्षुओं से देखता है वही उसे सम्यक रूप से देखता है। तत्व की बात यह है कि प्रत्यक्ष दर्शन ही समस्त दर्शन का रहस्य है। यह सभी साहित्य एवं कलाओं के लिए अपेक्षित है। लोक अनेकानेक प्रकार से हमारे चारो ओर प्रसारित है जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में उल्लेख हुआ है —

बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः।
क एतद् अस्य पुनरीहितो अयात॥
जै० उ० ब्रा० १।२

लोक-संस्कृति का पल्लवन नगरो की अपेक्षा ग्रामों में ही विशेष हुआ है। किसी भी देश की स्थिति उस देश के लोक पर निर्भर होती है। लोक-संस्कृति के सच्चे रक्षक और प्रतिष्ठापक वे ग्रामीण होते हैं जो सभ्यता के प्रतीक और कृत्रिमता के केन्द्र शहरों से दूर बहुत दूर प्रकृति की शरण में पले हुए देहातों में निवास करते है। ये ही भारतीय लोक-संस्कृति के जीवित एवं जाग्रत प्रहरी हैं।

समन्वय का माध्यम

लोक-संस्कृति समन्वय का सर्वोत्कृष्ट माध्यम है। विरोधी एवं विभिन्न धार्मिक राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक विचारधाराओं की समन्वयकारी शक्ति यही लोक-संस्कृति हुआ करती है। भारत की लोक-संस्कृति ने जो भी विदेशी एवं अवैदिक शक मग पारसीक यवन अंग्रेज आये उन्हें हर प्रकार से अपना लिया। भारतीय संस्कृति को अनेक बार भीषण संघर्षों और दुर्धर्ष आक्रमणों का सामना करना पड़ा कभी यह संकट में पड़ी और कभी विनाशप्राय स्थिति में पड़ गयी परन्तु फिर भी देश की लोक संस्कृति इस परिस्थिति से दूर रही। संक्षेप में लोक-संस्कृति में प्राणद शक्ति एवं समन्वय के अनन्त स्रोत है। लोक-संस्कृति के दस मूल तत्व माने गये हैं—

१ भिन्नता में एकता।
२ बाह्यरूप में परिवर्तन परन्तु तात्त्विक स्थिरता।
३ मानवता एवं सहिष्णुता।
४ प्रकृति से अभिन्न सम्बन्ध।
५ सत्य परिपालन।
६ विद्या और कला की उन्नति।
७ आध्यात्मिक विकास।
८ तत्त्वज्ञों का समय-समय पर आविर्भाव।
९ ज्ञान की पिपासा।
१० प्रजा-पालक शासन।

लोक-साहित्य

लोक-साहित्य लोक-संस्कृति का अभिन्न अंग है। साधारणत साहित्य की दो कोटियाँ होती हैं। प्रथम कोटि का साहित्य वह है, जिसकी रचना शिष्ट समुदाय के लिए होती है। यह कलात्मक बुद्धि के चमत्कार से युक्त और अभिव्यंजना तथा कला की शोभा से मिश्रित साहित्य होता है। इसका हेतु होता है शिक्षित समुदाय। द्वितीय कोटि का साहित्य लोक-साहित्य है। इसका केन्द्र-बिन्दु जनता या लोक होता है। इसकी रचना बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय होती है। सादगी एवं सरलता से युक्त यह साहित्य जनता के धरातल पर सर्वेव प्रवाहित रहता है। इस साहित्य की विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

१ भावुकता　　　　३ उदारता
२ कोमलता　　　　४ अकृत्रिमता

एक ही भगवान् राम की कथा को लेकर दो महाकवियों—गो तुलसीदास तथा आचार्य केशवदास ने काव्य की रचना की। परन्तु 'रामचरितमानस' लोक-साहित्य का

आदर्श बन गया और 'रामचन्द्रिका प्रथम कोटि के साहित्य में परिगणित होती है। सन्तों का साहित्य लोक-साहित्य है।

सन्तों के काव्य का केन्द्रबिन्दु या हेतु समाज जनसाधारण या लोक है। मानव जीवन के धार्मिक एवं सामाजिक पक्षों पर सन्त-साहित्य मे व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। किसी भी देश के सन्त-साहित्य पर दृष्टिपात करने से विदित हो जाता है कि सन्तो के काव्य का विषय जनसाधारण रहा है। क्योंकि जनसाधारण ही लोक का प्राण और सर्वस्व माना जाता है। सन्तों के साहित्य का वर्ण्य विषय दो भागों मे विभाजित है।

(क) आध्यात्मिक १—क्रियात्मक इसका वर्ण्य विषय निराकार ब्रह्म नाम स्मरण भक्ति विरह पातिव्रत्य प्रेम विश्वास सत्सग उपदेश शील क्षमा दया तप त्याग सन्तोष धीरज दीनता विवेक और गुरुदेव हैं।

२—आलोचनात्मक—इसका वर्ण्य विषय क्रोध काम मोह, माया मान कपट कनक कामिनी मद्य मिथ्याहार तीर्थव्रत दुर्जन तथा कुसंग आदि हैं।

(ख) सामाजिक १—क्रियात्मक समदृष्टि समता उदारता एकता विश्व बन्धुत्व सच्चरित्रता।

२—आलोचनात्मक जाति पाँति बाह्याचार भेद भाव वेदावली।

केन्द्रबिन्दु—जनसाधारण

इस समस्त वर्ण्य-विषय का केन्द्रबिन्दु जनसाधारण है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सन्तों के काव्य का हेतु मानव-समाज का वह व्यक्ति है जो युग-युग से शोषित और उपेक्षित है। वह नयी सभ्यता और कृत्रिमता से दूर जनपदों में सादगी का जीवन व्यतीत कर रहा है। वह सरलता और सादगी मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखता है। ऐसे मनुष्य को साहित्य का हेतु बनाकर सन्तों ने अपने काव्य साहित्य की रचना की।

सन्तों का काव्य लोक के उस बहुत बड़े अंश के लिए लिखा गया है जो पण्डित पण्डा मुल्ला मौलवी द्वारा चिरकाल से अज्ञान के कारण शोषित है। समाज ने उसे अन्त्यज अस्पृश्य अछूत और संस्कारविहीन कहकर उसके लिए ज्ञान के प्रकाश से आलोकित भवन 'पाठशालाओं' के द्वार और साधना के मार्ग अवरुद्ध कर रखे हैं। संतों ने लोक के इस भारी समूह के लिए काव्य की रचना की। सन्तों के इस साहित्य में प्रबोध और जागृति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। सन्त-साहित्य का अपना निजी स्थान है। इस साहित्य ने १३वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक भारतीय जनता को ज्ञान ऐक्य सद्भावना औदार्य और विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया और इस प्रकार तत्कालीन कुव्यवस्था भेद भाव अवहिष्णुता आदि को दूर करने या उसके प्रभाव को कम करने में बड़ा योग प्रदान किया।

लोक-सस्कृति—दर्पण

सन्तों का साहित्य जीवन का प्रतीक और पर्याय है जीवन को गतिशीलता प्रदान

करने की सन्त-साहित्य में असीम सामर्थ्य है। स न्त-साहित्य में उस साधना को वांछ नीय बताया गया है, जिसका सम्पर्क न तो शोषकों से है और न विनाशकारी तत्वों स ही। मानवता का सच्चा पथप्रदर्शन सन्त-साहित्य में प्राप्त होता है। गर्हित जीवन को कल्याण-मार्ग पर अग्रसर करने के लिए इस साहित्य में अदम्य शक्ति है। माया वासना भेदभाव और तत्वों म सलग्न रहने वाल प्राणियों को झकझोर करके चेतन शील और जाग्रत करने की पूर्ण सामर्थ्य इस साहित्य में विद्यमान है। इस साहित्य की उपयोगिता सर्वयुगीन है। इसका महत्व शाश्वत एवं अजस्र है क्योंकि इसकी छोटी से छोटी वाणी म जीवन की पुकार और कर्तव्य की महानता अन्तर्निहित है।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मीला कोय
जो दिल खोजा आपना मुझसे बुरा न कोय ॥

पढ़कर कौन प्रभावित हुए बिना न रहेगा।

सन्तों का साहित्य मध्ययुगीन लोक-संस्कृति का सच्चा दर्पण है। साहित्य समाज का दर्पण होता है यह उक्ति सत-साहित्य के लिए बहुत ही उपयुक्त और सही है। *सन्त-साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने पर मध्ययुगीन समाज की गति-विधि रीति* नीति आदान प्रदान विश्वास-आस्था साधना और उपासना प्रेय और श्रेय दायित्व निर्वाह और उपेक्षा आदि विषय में ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस साहित्य के अवलो कन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्ययुग में सर्वत्र असमानता व्याप्त थी अस मानता का अभिशाप उपलब्धि और वितरण मे समान रूप से दुःखदायी था। साधना कितनी विकृत हो गई थी मानवता का कितना पतन हो गया था समाज कितना भ्रष्ट हो गया था और जीवन कितना विषम था यह इस साहित्य से भलीभाँति प्रकट हो जाता है। संत कवियों ने अपने समाज की सभी प्रचलित दुर्वृत्तियों का अनावरण किया तथा लोगों को सावधान रहने का संकेत प्रदान किया। इस अर्थ में संत कवि अपने युग के जाग्रत प्रहरी और चेतन कलाकार थे।

जनसाधारण का पथ प्रदीप

सन्तकाव्य के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध मे सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण बात यह है कि इन उदारचेता मनस्वियो ने हिन्दी के वीरगाथाकालीन कवियों की कुभावनाएं सुलाने वाली और संघर्ष समुत्पन्न करने वाली परम्पराओं को तिलाञ्जलि देकर ऐसे विषय को ग्रहण किया जिसका सम्बन्ध जनता और लोक से था। सन्तों ने जीवन का सर्वा- ङ्गीण विश्लेषण किया है। उन्होंने जीवन के सभी पक्षों को लिया। एक मनुष्य के सामाजिक धार्मिक और पारिवारिक कर्तव्य क्या है आदर्श मनुष्य का स्वरूप क्या है, आदर्श साधक को कैसा होना चाहिए, जीवन का प्रेय और श्रेय क्या है मानव मानव में क्या सम्बन्ध है चरित्र और रहनी की क्या परिभाषा है इन पक्षो पर सन्तों ने पर्याप्त विस्तार के साथ विचार प्रकट किया। सच बात यह है कि दरबारी कवियों

की भाँति इन्होंने अपनी प्रतिभा का विकास और प्रसार लक्षणग्रन्थों नायिकाभेद अलंकार वाद तथा शब्दों की कलाबाजी तक ही नहीं सीमित रखा वरन् इन्होंने लोक-जीवन या जन-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए हर प्रकार से प्रयत्न किया और आगे बढ़कर रास्ता दिखाया। इनके काव्य में तुलसीदास जैसी प्रबन्ध-पटुता सू जैसा माधुर्य केशवदास जैसा आचार्यत्व मतिराम और बिहारी जैसा प्रेम और रोमांस नन्ददास जैसा शब्द-संयम देव का-सा लालित्य नहीं है, फिर भी इनके काव्य में व्यक्त लोक तत्व लोक-हितैषी भावना लोक-कल्याणकारी स्वर ने इनके साहित्य को तेरहवीं शताब्दी से लेकर आज तक जीवन लोक-प्रियता और स्थायित्व प्रदान किया है। संतों का साहित्य मार्ग या राजपथ पर लगे 'लैम्प पोस्ट' के समान है जो धनी-निर्धन बालक-वृद्ध कुलीन और अन्त्यज सभी का मार्ग आलोकित करता रहता है, सभी को उनके गंतव्य की ओर इंगित करता रहता है।

लोकभाषा के पोषक

सन्तों ने अपने काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम लोकभाषा को बनाया है। संस्कृत में रचना करना उन्हें अभिप्रेत न लगा क्योंकि उनकी दृष्टि जनसाधारण पर केन्द्रित थी लोकभाषा की उपयोगिता का जो स्वर सम्वत् १६३१ में गो तुलसीदास के कंठ से 'का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँच। काम जो आवै कामरी का लै करै कमाच' के रूप मे प्रस्फुटित हुआ था वह बहुत पहले कबीरदास के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त हुआ था— 'संस्कीरत है कूपजल भाषा बहता नीर'। युग-युग से संस्कृत अरबी और फारसी में भावाभिव्यक्ति के आदर्श मे क्रान्ति उपस्थित करके सन्तों ने लोक-भाषा मे लोकहित की भावना को चेतावनियों और उपदेशों के रूप में अभिव्यक्त *किया था। सन्त कवि मनोविज्ञान के कुशल पारखी थे वे जानते थे कि जन-सेवक* मुल्लाओं तथा ब्राह्मणों की पैतृक एवं परम्परागत भाषाओं में व्यक्त भावों का न प्रसार होगा न समादर, इसीलिए लोकधर्म का प्रचार उन्होंने जनता की भाषा में किया।

सन्तों ने जनसाधारण के जीवन से सम्बद्ध उपादानों को अपने काव्य में प्रश्रय दिया। सन्तों की अप्रस्तुत योजना लोक-तत्वों या लोक-संस्कृति के बहुत सन्निकट है। उनकी प्रतीक योजना जन-जीवन से ग्रहण की गयी है। चरखा सूप झीनी चदरिया बाढ़ी कुम्हार रंगरेज रहटा ब्याध मधुकर कोठरी चोर पनिहारिन बदरिया डोलनहार ध्वजा मछली पंछी चोर हाथी पतंग दीपक वेश्या चन्दन अगिया वैद्य दीपक हंसा कहार धूत महतारी सूरमा जुआ आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जो जन *जीवन या लोक-जीवन और समाज से ग्रहण किये गये हैं परन्तु फिर भी वे प्रतीकों* के रूप में बेजोड़ सिद्ध होते हैं। इनके द्वारा जो शब्द-चित्र या भाव व्यक्त किये गये हैं वे बड़े ही प्रभावशाली और मनोरंजक हैं। सन्त कवि रूपकों के विधान मे बड़े कुशल और चतुर थे। उनके रूपक और अन्योक्तियाँ लोक-तत्वों या लोक-संस्कृति के आधार पर नियोजित हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनकी अप्रस्तुत योजना

जितनी जन-जीवन के निकट है उतनी ही यथार्थ और प्रभावशाली है। कबीर की निम्नलिखित अप्रस्तुत योजना किसे प्रभावित नहीं करती है —

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो।
चन्दन काठ के बनल खटोलना
तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो री सखी मोरी मांग सँवारो
दुलहा मोसे रूठल हो।
आये जमराज पलंग चढ़ि बैठे,
नैनन आँसु टूटल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन
चहुँ दिसि धू-धू उठल हो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
जग से नाता छूटल हो॥

सन्तों की अप्रस्तुत योजना को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर एक और पद उद्धृत करना ठीक होगा। यह पद कबीर का है। इस पद की प्रतीक योजना और अप्रस्तुत विधान बड़ा मार्मिक है —

आइ गवनवा की सारी
अबहू उमिरि मोरी बारी।
साज समाज पिया लै आए
और कहरिया चारी।
बम्हना बेदरदी अचरा पकरि कै,
जोरत गँठिया हमारी।
बिधि गति बाम कछु समझ परत ना
बैरी भई महतारी।
रोय-रोय अँखियाँ मोर पोंछत
घरवा से देत निकारी।
गवन कराय पिया लै चाले
इत उत बाट निहारी।
छूटत गाँव नगर से नाता
छूटत महल अटारी।
नदिया किनारे बलम मोर रसिया
दीन्ह घूँघट पट टारी।
थर थर तन काँपन लागे
काहु न देख हमारी।

कहै कबीर सुनो भाई साधो
यह पद लेहु विचारी।
अबके फगवा बहुरि नहिं अवना
करि ले भेंट अँकवारी।

भावुकता के गहन अम्बुधि में डुबाने वाला यह पद मार्मिकता की दृष्टि से बेजोड़ है। सन्तों ने जो कुछ भी लिखा वह स्वानुभूतिमूलक रहा है। उनकी कला 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' की त्रिवेणी बन पड़ी है।

आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई।
नहीं तो राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

लेकर सन्तों की कला कभी नहीं चली। जन-हित सन्तों की कला का प्रमुख उद्देश्य रहा है। लौकिक और पारलौकिक हित की कामना—चाहना—सन्तों को ही शोभनीय हो सकती है।

उदात्त भावनाओं के कवि

सन्त लोकधर्म के प्रतिपादक थे। लोकधर्म की संस्थापना उनका मंतव्य रहा है। धर्म के क्षेत्र में उन्होंने बहुत बड़ी क्रान्ति की। युग-युग से चली आने वाली बाह्याचारों से आच्छादित स्वार्थ से अभिलिप्त वासनाओं से जकड़ी हुई और शोषण की परमदात्री धार्मिक परम्पराओं की सन्तों ने खुलकर निन्दा की। वे पण्डितों तथा मौलवियों द्वारा प्रतिपादित परम्पराओं और धार्मिक विश्वासों के कटु निन्दक थे। सन्तों का लोक-धर्म संकीर्ण नहीं प्रत्युत बहुत ही व्यापक किन्तु सहज रहा है। उसमें अनेक माला तसबीह तिलक चन्दन तप जप तीर्थ व्रत तथा अन्य बाह्याचारों की कोई आवश्यकता नहीं है। सन्तों का व्यापक लोक धर्म हृदय की उदात्त भावनाओं पर अवलम्बित है। कबीर के मत से दया ही धर्म का मूल है —

जहाँ दया तहाँ धर्म है जहाँ लोभ तहाँ पाप।
जहाँ क्रोध तहाँ काल है जहाँ छिमा तहाँ आप॥

× × ×

क्षमा धर्म हिरदे बसे बोलै अमृत बैन।
तेई ऊँचे जानिये जिनके नीचे नैन॥

सुन्दरदास जी भी सहज भक्ति को ही धर्म का सारांश मानते हैं।

सुन्दर द्विज पतिव्रत लिये
निस दीये सब धर्म।
सकल शिरोमनि नाम है
सब धरमन के मांहि।

प्रमत्य भक्त बहु जानिये
सुमिरन सूझे नाहि ॥

गरीबदास द्वारा प्रस्तुत 'धर्म' की परिभाषा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

सील संतोष विवेक बुधि
दया धर्म इक तार।
बिन निहचै पावै नहीं
साहिब का दीदार ॥
सील संतोष विवेक बुधि
दया धर्म इकतार।
अकल यकीन इमान रख
नहीं वस्तु मिल सार ॥

स्पष्ट है कि गरीबदास का लोक-धर्म शील सन्तोष विवेक सद्बुद्धि दया ईमान दृढ़मति पर ही आधारित है। संतों के व्यापक लोक-धर्म के आधार निम्नलिखित गुण या तत्व हैं —

(१) प्रेम (२) समदृष्टि (३) सेवाभाव (४) संसार और स्वार्थ से विरक्ति (५) सद्गुरुस्मरणा (६) नाम (७) सत्य (८) अहिंसा (९) क्षमा दया तथा औदार्य (१) सहिष्णुता।

संतों का लोक-धर्म

संतों का लोक-धर्म मानव-धर्म का पर्याय है। संतों की दृष्टि में ब्रह्म और निर्वाण तीर्थ व्रत संयोजक में नहीं है। वरन् सत्यता और सतनाम में है। कबीर ने अनुभव के आधार पर कहा कि परम्परागत धर्म पूजा पाठ नितांत भ्रमाच्छादित है और वे पण्डित और मौलवी निरे माया के चेरे हैं —

तीरथ व्रत करि जग मुआ
डूबे पानी न्हाय।
सतनाम जाने बिना,
काल ग्रसन जुग जाय ॥
पण्डित और मसलिपी
दोनों सूझे नाहि ॥
औरन को करे चांदनी
आप अंधेरे माहि ॥

तथा—

पूजा सेवा नेम व्रत गुड़ियन का सा खेल।
जब लगि पिउ परिचय नहीं तब लगि संशय मेल ॥

कबीर ने सत्य ही कहा था कि—

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं तहाँ न बुधि ब्योहार।
प्रेम मगन जब मन भया कौन गिने तिथि-वार ॥

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सन्तों की धर्म विषयक धारणा और परिभाषा बड़ी ही क्रांतिकारी और सरल है। सन्तों का धर्म प्रेम समदृष्टि और उदारता के आधार पर निर्मित सामान्य लोकधर्म है। इसके परिपालन के लिए न तीर्थाटन की आवश्यकता है न व्रत करने की ही आवश्यकता है। जीवन को सहज सरस और निर्मल बनाना इस लोक-धर्म का प्रयोजन है।

सन्तों की साधना अन्त बुधि पर बल देती है। उनकी साधना अन्तर-साधना है। सरस सहज और लोकगम्य होने के कारण सन्तों की साधना का रूप लोकमय बन गया है। सन्तकवि दादू की निम्नलिखित पंक्तियों में अन्तःसाधना को सर्वोपरि सिद्ध किया गया है। लेखनी का जादू कितना हृदयस्पर्शी है। देखिए—

भाई रे घर ही में घर पाया,
सहज समाइ रह्यो ता माहीं
सत् गुरु खोज बताया।
ता घर काजि सबै फिर आया
आपे आप लखाया॥
खोलि कपाट महल के दीन्हें
थिर स्थान दिखाया॥
भय-भेद भर्म सब भागा
साँच सोई मन लागा॥
पिवपन तहां जहाँ नहिं कबहू
देख्या तब मैं सोई॥
ताही सो मेरा मन लागा
और न दूजा कोई॥
आदि अनन्त सोइ घर पाया
रह मन अनत न जाई॥
दादू एकै रंगे रंग लागा
तामें रहा समाई॥

महात्मा कबीर बाह्याचार की अपेक्षा सहज समाधि को ही अधिक उपादेय सिद्ध करते हैं —

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन तें जागी
दिन दिन अधिक चली।

जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा,
जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत
पूजौं और न देवा।
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन
खावौं पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं
भाव मिटावौं दूजा।
आँख न मूँदौं कान न रूँधौं
तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैनन पहिचानौं हँसि-हँसि
सुन्दर रूप निहारौं।
सबद निरन्तर से मन लागा,
मलिन वासना त्यागी।
उठत-बैठत कबहुँ नहिं छूटे
ऐसी तारी लागी।
कहु कबीर यह उनमुनि रहनी
सो परगट करि गाई।
दुःख सुख से कोई परे
परमपद तेहि पद रहा समाई॥

सन्तों की कला और उनके प्रभावशाली उपदेशों ने १३वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक की जनता के जीवन में अभूतिक परिवर्तन समुपस्थित कर दिया। कोरी चमार, जुलाहा किसानों मजदूरों के लिए इसी प्रकार के धर्म की आवश्यकता थी। 'पातंजल योगसूत्र' 'गोरक्ष संहिता' 'घेरण्ड संहिता' आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित योग साधना और ज्ञान की अशिक्षित जनता के लिए क्या उपयोगिता हो सकती थी? अशिक्षित जनता के लिए सहज-समाधि नाम जप सत्य-भाषण उदारता एवं सहिष्णुता का आदर्श सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के लिए समान रूप से उपयोगी और लाभप्रद था।

जन प्रिय साहित्य

जो भी साहित्य लोक से सम्बद्ध होता है उसकी ख्याति रूपी सुगन्ध से सारा वायुमण्डल सुरभित हुए बिना नहीं रहता। होमर की अमर लेखनी से लिखा गया साहित्य होमर के ही युग में सहृदय लोगों ने कण्ठस्थ कर लिया था। हमारे सन्तों के साहित्य को भी सभी सहृदय लोगों ने समादर की दृष्टि से देखा है। सन्तों के साहित्य

के अनेक पद लोकगीतों के रूप में जनता में प्रचलित हैं। ग्रामीण समाज खँजड़ी और ढोलक इकतारा और सितार पर सन्तों के पदों का गायन करके एक ओर धार्मिक वासिन्य की पूर्ति करता है तथा दूसरी ओर मनोरंजन भी कर लेता है। इस प्रकार से लोक-गीतों का प्रचार जनता में अत्यधिक है। निर्गुण लोक-गीतों में गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ कबीर रैदास तथा धरमदास के गीत बहुत जनप्रिय हैं। इन कवियों के अतिरिक्त सुन्दरदास मलूकदास चरनदास दरियासाहब सहजोबाई आदि के गीत भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में बड़े जनप्रिय हैं। सुन्दरदास के लोक-गीत राजस्थान मलूकदास के गीत प्रयाग जिला चरनदास के गीत अलवर प्रान्त और दरिया साहब के बिहार प्रान्त में अधिक सुने जाते हैं। विभिन्न सन्तों की गद्दियों अथवा समाधि स्थलों पर सन्तों की संवतो में प्राय: सभी सन्त कवियों के गीत गाये जाते हैं। सामान्य जनता की निम्नोल्लिखित जातियों—कोरी चमार, कुनबुनिया जोगी तथा अहीरों में कबीर धरमदास और रैदास के भजन और गीत बहुत समादृत हैं। इन लोकगीतों में श्रद्धा भक्ति और सद्भावना का प्रचार करने की अद्भुत शक्ति है। संतों के लोक गीतों के विषय सामान्यतया ६ प्रकार के हैं —

१—रहस्य भावना

२—आत्मसंगुप्तता

३—साम्य भावना

४—समाजगत विषमताएँ

५—माया कनक कामिनी की निन्दा।

६—मोटे पण्डित एवं मुल्ला का उपहास।

सन्तों के लोकगीत माधुर्य के स्रोत हैं। इन गीतों के पढ़ने या सुनने पर पाठक एवं श्रोता प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। इन गीतों में इतनी तीव्रता है कि मन और बुद्धि पर उनका सीधा आघात होता है।

कबीर का निम्नलिखित पद लोकगीत के रूप में बहुत प्रचलित है —

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे क ताना काहे के भरनी कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी सुषमन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कमल दल चरखा डोलै पाँच तत्त गुन बीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागे ठोक-ठोक के बीनी चदरिया॥
सो चादर सुर-नर मुनि ओढ़ी ओढ़ि कै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया॥

यह पद साहित्यिक विशेषताओं से पूर्ण होने के कारण साहित्यिक अभिरुचि के लोगों को भी विशेष प्रिय लगता है कर्णप्रिय शब्दावली से मन मुग्ध रहता है।

असमानता पर आघात

सन्त-साहित्य में लोक-साहित्य के सभी गुण विद्यमान हैं। यह साहित्य पूर्णत जन-साहित्य है। इसलिए इस साहित्य में तत्कालीन (१३ १८वीं शताब्दी तक की) जनता के दुःख-दारिद्र्य शोषण-त्रास और दमन के चित्र अङ्कित हुए हैं। इतना ही नहीं इसमें जनता का दबा हुआ आक्रोश फूट पड़ा है। कबीर नानक आदि सन्तों ने अन्याय का भी विरोध किया। इन्होंने अपने समय की जनता की दुर्दशा का अध्ययन करके उसकी ओर ध्यान से देखा और उसको दुःख एवं क्लेश से छुटकारा देने का प्रयास किया। उनका यह प्रयास आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन में समान रूपेण उपयोगी और महत्वपूर्ण था। ब्राह्मण पण्डित मुल्ला आदि के शोषण यम की यातना भेदभाव के अभिशाप से अपने समय की जनता को सन्तों ने बचाने का प्रयत्न तो किया ही साथ ही उन्होंने देश और समाज के असमान वितरण की ओर भी ध्यान दिया। सत चरनदास की निम्नलिखित पंक्तियों म सामाजिक एवं आर्थिक असमानता की ओर संकेत किया गया है—

> एकन पग पनही नहीं एक चढ़ें सुखपाल।
> यही जो मोहि बताइये एक मुक्ति को जाहि
> एक नरक को जाइ करि मार जमो की खाहि।
> एक दुखी एक अति सुखी एक भूप इक रंक
> एकन को विद्या बड़ी एक पढ़े नहि अंक।
> एकन को मेवा मिलै एक चने भी नाहि
> कारन कौन दिखाइये, करि करनन की छाहि।
> यही मोहि समझाइये मन को धोखा जाय।
> है करि निस्सन्देह मैं रहौं चरन लिपटाय॥

इन पंक्तियों में समाज में व्याप्त असमानता का भलीभाँति दिग्दर्शन प्राप्त होता है। कवि ने शोषकों के प्रति आक्रोश की भावना भी व्यक्त की है।

सन्तों ने अपने समय में प्रचलित लोकाचारों और कुप्रवृत्तियों की भी आलोचना बड़े रोचक ढंग से की है। जनेऊ और खतना हिन्दू तथा मुसलमानों के प्रसिद्ध लोका-चार हैं। कबीर ने इनकी कठोर आलोचना की और कबीर की परम्परा में आविर्भूत अनेक अन्य सन्तों ने भी कबीर का अनुसरण किया। कबीर ने तर्क का सहारा लेते हुए समाज के ढोंगी लोगों का बहुत बड़ा उपहास किया। बड़ी जाति में जन्म लेने वालों के दंभ को मिट्टी में मिलाया। एक पद में कबीर के तत्सम्बन्धी विचारों का अच्छा प्रकाशन हुआ है —

> जो पै करता बरण बिचारै तौ
> जनमत तीनि डांडि किन सारे।

उतपति ब्यंद कहा थे आया जोति
धरी भए लागी माया।
नहिं कोउ ऊँचा नहीं को नीचा
जाका प्यंड ताही को सींचा।
जे तू बांमन बंभिन जाया तौ
आवर बाट ह्वै काहे न आया।
जे तू तुरक तुरकनी जाया तौ
भीतर खतना क्यूं न कराया।
कहैं कबीर मधिम नहीं कोई
सो मधिम जा मुखि राम न होई॥

एक अन्य पद में कबीर ने बलात् धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बना लेने की कटु निन्दा की है। इसमें भी लोकाचारों की आलोचना की गयी है —

काजी कौन कतेब बखानै।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते
गति एकै नहीं जानै।
सकति से नेह पकरि कर सुनति
यह न बदूं रे भाई।
जौर खुदाय तुरक मोहि करता
तो आपे कटि किन जाई।
हौं तो तुरक किया करि सुनति
औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छूटै
आधा हिन्दू रहिये।
छाँड़ि कतेब राम कहि काजी
खून करत हो भारी।
पकरी टेक कबीर भगति की
काजी रहे झख मारी॥

इस प्रकार सन्तों के काव्य में लोक-संस्कृति के अंगों एवं उपांगों पर पूर्णतः विचार किया गया है। मानवीय धर्म की पुष्टि करते हुए सन्तों ने जिस कर्तव्य मार्ग को प्रशस्त किया, वह मार्ग भटके हुए मानवों के लिए सुखद एवं निष्कंटक सिद्ध हुआ है।

उपसंहार

विगत पृष्ठों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी संत कवियों का व्यक्तित्व समाज के लिए वरदान और आशीर्वाद के रूप में विकसित हुआ। अपने युग की संतप्त मानवता के विकास एवं अभ्युत्थान के लिये इन संत कवियों ने सतत परिश्रम किया और निराशा से ग्रस्त मानव-समाज को आशा के प्रकाश से आलोकित एक अभिनव दिशा की ओर अंगुल्यानिर्देशन किया। यह थी समता एकता सार्वभौमिकता और सर्वप्रियता की दिशा। इस पथ पर चलकर मानव-समाज ने अपने समस्त भेदभावों संकटों और अभावों को भूलने का प्रयत्न किया। ग्रस्त एवं भौतिकता में संलग्न मानव-समाज ने अपनी दृष्टि को इहलोक से हटाकर परलोक या पारमार्थिक लक्ष्य की ओर लगाया। सन्तों के अनवरत परिश्रम के फलस्वरूप जनता के पुरातनवादी शोषण प्रिय और नीरस दृष्टिकोण म परिवर्तन समुपस्थित हुआ। जनता ने उदारतापूर्वक जाति वर्ग और वर्ण की संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवता को एक बृहत्तर और व्यापक धरातल पर देखने का प्रयत्न किया। हिन्दी के संत कवियों के योगदान चार दृष्टियों से बड़े महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय हैं। ये हैं —

(क) जीवन के लिए योगदान

(ख) समाज के लिए योगदान

(ग) नैतिकता के विकास के लिये योगदान

(घ) साहित्य के लिए योगदान

इनमें से अब हम प्रत्येक योगदान पर सविस्तार विचार करेंगे। सबसे प्रथम हम यह देखना है कि मानव के व्यक्तिगत जीवन के लिये संतों ने क्या योगदान दिया। सच यह है कि संतों का साहित्य जनता का साहित्य है। क्या भाव क्या वर्ण्य-विषय क्या प्रतिपाद्य क्या भाषा क्या रस छन्द अलंकार सभी दृष्टियों से यह साहित्य जनता का साहित्य है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि जनता के ही धरातल पर संतों की अमोघ वाणियों का साहित्य प्रवाहित हुआ है। संतों की दृष्टि व्यक्ति पर केन्द्रीभूत

थी। उनका लक्ष्य था व्यक्ति के सुधार के द्वारा कुत्सित और अपवित्र जनता में भक्ति स्थापित करके उसे उन्नत दिशा की ओर ले जाना। व्यक्ति का सुधार ही समष्टि के सुधार का आधार होता है। इसीलिए संतों ने व्यक्ति के जीवन को उन्नत और परिष्कृत बनाने के लिए समता क्षमा दया त्याग विश्वबन्धुत्व तथा उदारता का उपदेश दिया। संतों ने कहा कि मनुष्य मनुष्य में भेद नहीं है। मानव जीवन बड़ी कठोर तपस्या के बाद प्राप्त होता है। अत उसे हीन कार्यों के द्वारा अपवित्र नहीं करना चाहिए। जीवन को उदात्त कार्यों में संलग्न करने से मानव जन्म की सार्थकता प्रमाणित होती है। सन् ११ ई से लेकर सन् १८ ई तक जनता का जीवन बड़ा विषम और संकटग्रस्त था। इस अवधि भर जनता के राजनैतिक सामाजिक आर्थिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन पर विपत्तियों के बादल छाए रहे। जनता निराशा के अंधकार में भटकती रही। ऐसे संक्रांति काल में समय-समय पर आविर्भूत होकर संतों ने जनता को आशा का प्रकाश दिखाया। उन्होंने जनता को धैर्य और क्षमाशील बनाने का प्रयत्न किया। उसे दिव्य गुणों को धारण करने के लिए उपदेश दिया। तृष्णा प्रतिहिंसा असमानता के विरुद्ध उपदेश देते हुए उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों के मध्यस्थ स्थित भेद भाव को दूर करने के लिए सांस्कृतिक सामंजस्य प्रस्तुत किया। इन सन्तों ने जीवन को हर प्रकार से क्षुद्रता हीनता और निम्नता से ऊपर उठा कर मानवता के उच्च आसन पर बैठाया।

सन्तों ने जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्ति रखने वालों को चेतावनी देकर उनमें निरासक्ति का भाव जागृत किया। अपने इस सन्देश को प्रभावशाली बनाने के लिए उन्होंने मानव जीवन की बालू की भित्ति उड़ते हुए पक्षी की परछाईं तथा पानी के बुलबुले से तुलना की। संत कवि जीवन को निरपेक्ष दृष्टि से देखने और परखने के पक्ष में थे। इसीलिए उन्होंने माया ऐश्वर्य और भोग में संलग्न जीवन को इनसे पृथक और निर्लिप्त बनाये रखने का उपदेश दिया। सन्तों की सबसे बड़ी भारी देन यह है कि इन्होंने जनता के मरणप्राय निराश और त्रस्त जीवन को जीवित रहने योग्य बनाया उसमें आशा की ज्योति का संचार किया उसके प्रति ध्यान दिया और उसे समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया। इन सन्तों ने वैषम्य भेदभाव असमानता से अभिशप्त जन-जीवन को एकता और प्रेम के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि सन्त कवि अपने इस उद्देश्य में सफल भी हुए।

जीवन के प्रति संतों की देन का मूल्यांकन कर देने के बाद अब हम साहित्य के प्रति उनकी देन पर विचार करेंगे। साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छाया है। एक दूसरे का पूरक और अन्योन्याश्रित है। जीवन के उत्थान पतन और विकृत होने के साथ ही साहित्य भी क्रमशः उन्नत और विकृत होता है। साहित्य जीवन को सुधार का प्रदान करता है और जीवन साहित्य को प्रेरणा प्रदान करता है। सन् ११ से सन् १ तक जन-जीवन कितना अभिशप्त और विकृत था यह अनेक बार दर्शाया जा चुका है। पथभ्रष्ट लक्ष्यविहीन और त्रस्त जीवन को परिष्कार और

शान्ति प्रदान करने के लिए संतों ने प्रचुर साहित्य की रचना की। प्रत्येक सन्त कवि ने भजन पदों और साखियों की रचना की जिनके द्वारा जनता ने विश्वबन्धुत्व क्षमाशीलता दया करुणा और त्याग का पाठ पढ़कर उदार और विशाल हृदयवान् बनने का प्रयत्न किया। संतों के साहित्य में शांत रस साकार हो उठा है। उसमें सजीवता इतनी है कि कोई भी भावुक एवं सहृदय व्यक्ति उसकी प्रबल धारा में बहने लगता है। सन्त साहित्य का सर्जन जनता के उस स्वर के लिए हुआ था जो युग-युग से शोषित तिरस्कृत अशिक्षित और दमन चक्र के नीचे कुचला जा चुका था। इस प्रबोधात्मक साहित्य में इतनी क्षमता है कि प्रत्येक मानव उससे प्रभावित हो उठता है। कबीर दास की निम्नलिखित साखियाँ पढ़कर कौन व्यक्ति है जो प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है

(क) माली आवत देखकर कलियन करी पुकार।
फूली फूली चुन लिए काल्हि हमारी बार॥

(ख) रात गवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था कौड़ी बदले जाय॥

(ग) जो उगै सो आथवै फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सो ढहि परै, जामे सो मरि जाय॥

(घ) साथी हमारे चलि गये हम भी चालन हार।
कागद में बाकी रही तासे लागी बार॥

इसी प्रकार शरीर की नश्वरता का भाव गरीबदास की निम्नलिखित साखियों मे बहुत सुन्दरता के साथ व्यक्त हुआ है

(क) यह माटी का महल है तासे कैसा नेह।
जो सांई निसि जात है सो पारायन देह॥

(ख) महल मुंडेरी नील सब बसे कौन के साथ।
कागा कौआ ही रहा कछू न आया हाथ॥

कबीर का आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी में हुआ था और गरीबदास का आविर्भाव अठारहवीं शताब्दी है परन्तु दोनों की अभिव्यंजना शैली और वर्ण्य विषय कितना मार्मिक और प्रभावशाली है। संत-साहित्य की विशेषता यह है कि इसमें प्रभावित करने की अपार शक्ति है।

सन्तों ने हिन्दी-साहित्य को एक नवीन काव्य धारा का प्रसार दिया। यह काव्य धारा कालान्तर मे सन्त-काव्य के नाम से प्रख्यात हुई। यह काव्य-धारा पाँच सौ वर्षों (११ से १८ ई) तक अबाध रूप से प्रवाहित हुई। इसके प्रमुख कर्णधार थे—कबीरदास रैदास नानक दादू, सुन्दरदास मलूकदास सहजोबाई, गरीबदास दरिया दूबे आदि। इन्होंने सहज भावों को सहज शैली और सहज भाषा में व्यक्त

करके काव्य-शास्त्र के आचार्यों के समक्ष काव्य का एक अभिनव रूप प्रस्तुत किया। संतों का साहित्य पूर्णरूपेण मौलिक है। संत कवियों में से अनेक ऐसे थे जिन्होंने सगर्वपूर्वक यह भी स्वीकार कर लिया है कि 'मसि कागद छूयो नहीं कलम गह्यो नहिं हाथ' फिर भी स्वांत सुखाय रघुनाथ गाथा का गान करने वाले अनेक सगुण वादी कवियों से किसी प्रकार मौलिकता के क्षेत्र में पीछे नहीं हैं। संत दरिया साहब ने संतों के काव्यादर्श को एक साखी में व्यक्त करते हुए कहा है :

सकल कवित्त का अर्थ है सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम को कर लीजै दिन रात॥

इतने सरस काव्यादर्श को सामने रखकर संतों ने ऐसे साहित्य की रचना की जो सर्वसाधारण जनता और विद्वानों को समान रूप से प्रभावित करता रहता है।

संतों ने समाज की नैतिकता और सदाचार के विकास में विशेष महत्वपूर्ण योग दान दिया। सन् १३ से १८ तक का समय भारतीय संस्कृति धर्म राजनीति एवं समाज के विनाश और अध-पतन का समय था। इस अवधि भर देश हेय घृणित एवं अमानवीय परिस्थितियों का अनुभव करता हुआ आगे बढ़ा। इस समय की जनता के चरित्र और नैतिकता को सारांश रूप में लोभ लालच महत्वाकांक्षा दर्प गर्व अहंकार प्रतिकार प्रतिहिंसा प्रतिशोध कामुकता शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इस युग के पंडित पुजारी मुल्ला-मौलवी पथभ्रष्ट एवं विवेकशून्य होकर जप तप तिलक माला रोजा नमाज आदि को ही नैतिकता और सदाचार का मापदण्ड समझने लगे थे। पशु-बलि और नर-बलि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने के प्रयास किये जाते थे। संतों ने भ्रम के अंधकार में भटकती हुई जनता को बताया—धर्म का सद्रूप बाह्याचारों एवं बाह्याडम्बरों में नहीं है वरन् आत्मा या ब्रह्म की अनुभूति में है। ब्रह्म और आत्मा की अनुभूति के लिए सत्यता औदार्य क्षमा-शीलता दया समता की भावना की आवश्यकता है। गरीबों और आर्त व्यक्तियों की सहायता करना अधिक श्रेयस्कर है व्रत करना नहीं। भूखे को रोटी देना यज्ञ करने की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। रोग से पीड़ित एवं आर्त क्रन्दन करने वाले की सेवा करना शालिग्राम की मूर्ति धोने की अपेक्षा अधिक न्याय्य एवं तर्कसंगत है। संतों की इन क्रांतिकारी धारणाओं ने युग-युग से चली आने वाली नैतिकता और सदाचार सम्बन्धित मान्यताओं में क्षति उपस्थित कर दी। सच बात यह है कि संतों ने अपने उपदेशों द्वारा मानव को मानव के निकट लाकर विषमताओं को दूर किया और सद्भावना का बीज आरोपित किया। इसी कारण मानव समाज ने नैतिकता के नवीन मानदंडों को ग्रहण किया।

समाज के अभ्युत्थान एवं चतुर्दिक विकास के लिए संतों ने बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान दिया। सन् १३ से लेकर १८ तक का समाज बहु देवोपासना जाति वर्ण भेद अस्पृश्यता विलासिता आदि दोषों से अभिशप्त था। मानव मानव-सुलभ

गुणों को भूलकर निम्नातिनिम्न कार्यों और भ्रष्टाचार में संलग्न था। हिंसा दम्भ गर्व और प्रतिकार में संलग्न मानव दिन पर दिन विनाश के गर्त की ओर अग्रसर था। संतों ने अपने युग के समाज के दोषों को देखा और उन पर विचारपूर्वक ध्यान दिया। उन्होंने समय-समय पर जाति वर्ण के अभिशाप की कटु आलोचना की व्यंग्य बाण संधान किये। इसी प्रकार अस्पृश्यता को निस्सीम बताकर समता की भावना का उपदेश दिया। संतों ने अपने युग के अभिशप्त मानव से कहा कि अस्पृश्यता निस्सार है। यथा एक ही कुम्हार द्वारा निर्मित विविध प्रकार के बर्तनों में उसकी आत्मा या कला विद्यमान है उसी प्रकार ब्रह्म की कला प्रत्येक मानव में समान रूप से वर्तमान है। मनुष्य मनुष्य में भेद उत्पन्न करने का समस्त उत्तरदायित्व समाज के तथाकथित ठेकेदारों का है। इन ठेकेदारों ने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी को अन्त्यज और किसी को शूद्र की परिधि में बाँध रखा है। ईश्वर ने सभी को समान अंग और शक्ति प्रदान की। विभिन्न रंगों की गायों के दूध का रंग श्वेत होता है। फिर मानव जाति में भेदभाव कहाँ है?

बहु देवोपासना में भटकते हुए मानव समाज को इन सन्तों ने निर्गुण निराकार निर्विकार अद्वैत ब्रह्म की सहज उपासना करने का उपदेश दिया। संतों ने बताया कि हिन्दुओं और मुसलमानों का पारस्परिक भेदभाव व्यर्थ है, कारण कि राम रहीम तथा केशव करीम अभिन्न हैं।

इसी प्रकार विलासिता हिंसा दम्भ गर्व और प्रतिकार जैसे दुर्गुणों में संलग्न मानव समाज को इनसे दूर रहने का उपदेश देकर समाज को निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया।

संक्षेप में संतों ने समाज को उन्नत और विकासशील बनाने का हर प्रकार से प्रयत्न किया।

समाज पर संतों का प्रभाव

हिन्दी के संत कवियों ने भारतीय समाज को भलीभाँति प्रभावित किया। इनके शांत प्रिय और निर्दोष व्यक्तित्व ने प्रतिकार, प्रतिहिंसा प्रतिशोध वैमनस्य और भेदभाव की होली में दग्ध मानव समाज को शीतल उपदेशों के द्वारा कल्याणकारी पथ पर अग्रसर किया। इनकी शाश्वत वाणियों में मानव समाज को प्रभावित करने की बड़ी शक्ति है। कबीर, रैदास नानक दादू आदि का साहित्य लगभग ६ वर्ष प्राचीन है परन्तु फिर भी वह आज के लिये उतना ही उपयोगी है, जितना कि उस समय था। कटुता संकीर्णता शोषण तथा हीन भावों में संलग्न मानव को आज भी वह प्रेरणा देकर सत् कार्य करने के लिए उत्साहित करता है। सन्तों के साहित्य ने जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का सर्जन किया। सन्तों के साहित्य को पढ़कर आज भी प्रतीत होता है कि मानो यह हमारे लिए ही लिखा गया है। कबीरदास की

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों की सूची

सन्तों की वानियाँ

१	कबीर ग्रन्थावली	डा० श्यामसुन्दर दास
२	कबीर वचनावली	'हरिऔध'
३	कबीर	डा० रामकुमार वर्मा
४	सुन्दर ग्रन्थावली	हरि नारायण शर्मा
५	कबीर साहब की शब्दावली (चार भाग)	
६	दादू दयाल की बानी (भाग १ २)	
७	स्वामी दादू दयाल की बानी	चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी
८	जगजीवन साहब की बानी (भाग १ २)	
९	रैदास जी की बानी	
१०	गरीबदास जी की बानी	
११	भीखा साहब की शब्दावली	
१२	मलूकदास जी की बानी	
१३	चरनदास की बानी (भाग १ २)	
१४	महात्माओं की बानी	बाबा रामचरन दास
१५	सहजोबाई का सहज प्रकाश	
१६	दयाबाई की बानी	
१७	संत-बानी-संग्रह (भाग १ २)	
१८	भक्ति-सागर	चरन दास
१९	ग्रन्थ-संग्रह	मलूकदास (अप्रकाशित)
२०	भक्ति विवेक	चरन दास

२१ भक्ति-सागर — चरन दास
२२ पलटू साहिब की बानी
२३ संत सुधा-सार — वियोगी हरि

साहित्य के इतिहास

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास — मिश्र बन्धु
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास — डा रामकुमार वर्मा तथा डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित
४ हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास — डा सूर्यकांत शास्त्री
५ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० राम कुमार वर्मा
६ हिन्दी भाषा और साहित्य — डा श्याम सुन्दर दास
७ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास — 'हरिऔध'
८ हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक अनुशीलन — डा रामकुमार वर्मा

काव्य शास्त्र

१ सिद्धान्त और अध्ययन — डा गुलाब राय
२ साहित्यालोचन — डा श्यामसुन्दर दास
३ साहित्य समीक्षा — डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित
४ साहित्य समालोचना — डा रामकुमार वर्मा

आलोचना

१ निर्गुन काव्य-धारा — स्व सिद्धिनाथ तिवारी
२ हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय — स्व डा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
३ योग प्रवाह — स्व डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
४ मकरन्द — स्व डा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
५ रामानन्द — स्व डा पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
६ संत-साहित्य — भुवनेश्वर 'माधव'
७ संत-दर्शन — डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित
सुन्दर-दर्शन — डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित
६ चरनदास — डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित
१ कबीर साहित्य की परख — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
११ हिन्दी काव्य-धारा में प्रवाह — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
१२ उत्तरी भारत की संत परम्परा — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
१३ भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास — शिवशंकर मिश्र
१४ मराठी संतों की हिन्दी को देन — डा विनय मोहन शर्मा

१५. कबीर — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
१६ भारतीय दर्शन परिचय — हरि मोहन
१७ भारतीय धर्म और दर्शन — श्यामबिहारी मिश्र
१८ दर्शन और जीवन — सम्पूर्णानन्द
१९ मध्यकालीन धर्म-साधना — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
२० मध्यकालीन प्रेम-साधना — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
२१ वैदिक साहित्य परिशीलन — रजनीकांत शास्त्री
२२ समन्वय — भगवानदास
२३ हिन्दी के वैष्णव कवि — ब्रजेश्वर
२४ हिन्दी भक्तिकाव्य — रामरतन भटनागर
२५ मलूकदास सुन्दरदास एवं चरनदास की दार्शनिक विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन — डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित (अप्रकाशित)
२६ कबीर का रहस्यवाद — डा० रामकुमार वर्मा

सांस्कृतिक

१ आर्य संस्कृति के मूलाधार — उपाध्याय
२ प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता और संस्कृति — बेनी प्रसाद
३ भारत की प्राचीन संस्कृति — राम जी उपाध्याय
४ भारतीय संस्कृति — मोहन लाल वर्मा
५ भारतीय संस्कृति — शिवदत्त ज्ञानी
६ भारतीय संस्कृति का विकास — बी एल शर्मा
७ संस्कृति के चार अध्याय — रामधारी सिंह 'दिनकर'
८ हमारी संस्कृति — रामनारायण पांडे

संग्रह ग्रन्थ

१ सूफी-काव्य-संग्रह — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
२ संत कबीर — डा० रामकुमार वर्मा
३ हिन्दी के कवि और काव्य — गणेश प्रसाद द्विवेदी

विविध

१ सुख-सागर
२ गुरु-ग्रन्थ-साहब — भाई गुरदियाल
३ भक्त-माल — प्रियादास सीताराम शरण भगवान प्रसाद

४ भक्त-माल	राघव दास
५ भक्त-माल	हरि भक्ति प्रकाशिका
	ज्वाला प्रसाद मिश्र
६ प्राण संगली	
७ संत-गुण सागर	
८. श्री हरिपुरुष की वाणी	
९. राम चरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास
१ भारतीय-दर्शन	डा बलदेव उपाध्याय
११ भारतीय-दर्शन	डा उमेश मिश्र
१२ हरिजन वर्ग और उसका उत्थान	राम जी लाल
१३ मनुष्य का धर्म	रवीन्द्रनाथ टैगोर
१४ महाभारत	
१५ बौद्ध दर्शन	पं बलदेव उपाध्याय
१६ तसव्वुफ इस्लाम	

सस्कृत

१ धर्म शिक्षा	लक्ष्मीधर वाजपेयी

२ ऋग्वेद
३ यजुर्वेद
४ सामवेद
५ अथर्ववेद
६ ईशावास्योपनिषद्
७ केनोपनिषद्
८ कठोपनिषद्
९ प्रश्नोपनिषद्
१ मुण्डकोपनिषद्
११ माण्डूक्योपनिषद्
१२ गौड़पाद कारिका
१३ तैत्तरीय उपनिषद्
१४ एतरेय ब्राह्मण
१५ छान्दोग्य उपनिषद्
१६ बृहदारण्यक
१७ गीता
१ श्रीमद्भागवत

इतिहास

१ प्राचीन भारत की जन सत्ता और संस्कृति — बेनी प्रसाद
२ प्राचीन भारत — राजबली पाण्डे
३ प्राचीन भारत — एस एन आई एस बर्मंयर
४ भारत की प्राचीन संस्कृति — राम जी उपाध्याय
५ भारतवर्ष का इतिहास — डा ईश्वरी प्रसाद

अंग्रेजी

1 A History of Indian Philosophy—S N Das Gupta
2 A History of Autobiography in Antiquity
3 An Introduction to the Study of Literature—Hudson
4 An Outline of Religious Literature in India—Farquhar
5 Encyclopedia of Religion and Ethics—James Hastings
6 History of the Rise of Mohammadan Powers in I dia—Brigs
7 Kabir and Kabir Panth—Westcot
8 Medival Mysticism of India—K M Sen
9 New History of India—Dr Ishwari Prasad
10 Nirgun School of Hindi Poetry—Dr Barthwal
11 Religious Policy of Moughal Emperors—S R. Sharma
12 Religious sects of Hindus—H H W lson
13 The History of Aurangzeb—Sarkar
14 Valshnavism Shaivism and Modern Relig ous System—Bhand rkar
15 Epic India—C L Vaidya
16 A History of Indian Literature—Winternit
17 Akbar the Great—Smith
18 Hindu Social Organization—P abhu
19 History of Jahangir—Prof Beni Pras d
20 Indian Culture through Ages—Mohan Lal Vidyarthi
21 Indian Philosophy—D Radha Krishnan
22. Medewal India under Mohammadan Rulers—Stanley Lampoal

पत्र-पत्रिकाएँ एवं विशेषांक

१ सम्मेलन पत्रिका
२ नागरी प्रचारिणी-पत्रिका

१४ ब्रजभाषा सूर कोश—निर्देशक—डा दीनदयालु गुप्त एम० ए एल एल बी डी० लिट् । संपादक—डा प्रेमनारायण टंडन एम ए पी-एच डी । प्रस्तुत कोश में सूरदास के समस्त काव्य में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ और अर्थ की पुष्टि तथा स्पष्टता के लिए अपेक्षित उदाहरणों के साथ-साथ ब्रजभाषा संबंधी और खड़ी बोली के विशिष्ट प्रयोग भी दिये गये हैं। पूरा कोश दो सजिल्द खंडों में है। दोनों खंडों का मूल्य चालीस रुपया है। अलग-अलग दस भागों में भी मिलता है, जिनका मूल्य—१७) है।

१५ रेवातट समय (पृथ्वीराज रासो)—संपा —डा विपिन बिहारी त्रिवेदी। 'पृथ्वीराजरासो' का रेवातट समय अनेक हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर लगभग पौने दो सौ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ संपादित किया गया है। द्वितीय संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण अभी छपा है मूल्य ७॥)

१६ प्राकृत-विमर्श—ले —डा सरयूप्रसाद अग्रवाल। पुस्तक के प्रथम भाग में पालि प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की रूप और ध्वनि संबंधी विशेषताएँ तथा उनके साहित्य का इतिहास है। दूसरे भाग में विविध प्राकृत भाषाओं के चुने हुए उदाहरण पाद-टिप्पणी और संस्कृत रूपान्तर के साथ दिये गये हैं। मूल्य ४॥)

१७ हिन्दी-साहित्य में भ्रमरगीत-परम्परा—ले०—श्रीमती डा सरला शुक्ल। इसमें कवि-परिचय के साथ हस्तलिखित और मुद्रित भ्रमरगीतों की काव्य कला और दार्शनिकता की दृष्टि से विवेचना की गयी है। मूल्य ४)

१८ भारतीय संस्कृति में धर्मोत्तरोत्स—ले —डा शिवशेखर मिश्र। मूल्य २॥)

१९ भारत का सांस्कृतिक विकास—ले —डा शिवशेखर मिश्र। मूल्य १)

२० साहित्य का मर्म—ले —आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी। इसमें लखनऊ विश्वविद्यालय में दिए गये आचार्य जी के तीन व्याख्यान संकलित हैं। मूल्य १)

२१ द्विवेदी-युगीन निबंध-साहित्य—ले०—श्री गंगाबख्श सिंह। मूल्य ३)

२२ निबंधकार बालकृष्ण भट्ट—ले —श्री गोपाल पुरोहित। मूल्य २॥)

२३ शृंगारमंजरी (चिंतामणि कृत)—संपा —डा भगीरथ मिश्र। विस्तृत भूमिका में कवि के जीवन चरित रचनाकाल समय और मंजरी की विशेषताओं की विवेचना है। मूल्य २।)

२४ तुलसीदास का सामाजिक आदर्श—ले —श्रीमती कुमारानी। मूल्य-२॥)

२५ हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक—ले —कुमारी सरला चौहरी। मूल्य १॥)

२६ परिचयी-साहित्य—ले —डा त्रिलोकी नारायण दीक्षित पी-एच डी डी० लिट। इसमें संतों की जीवनी पर प्रकाश डालने वाले हस्तलिखित परिचयी साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और अनेक अज्ञात कवियों के व्यक्तित्व और जीवन की रूपरेखा निर्धारित की गई है। मूल्य ५)

२७ कनउजी लोकगीत—ले —श्री संतराम अनिल। मूल्य ४)

२८ नाटककार सेठ गोविन्ददास— मूल्य २।)

२९ रामनरेश त्रिपाठी : व्यक्तित्व और कृतित्व—ले —डा ज्ञानेश्वर प्रसाद [illegible] एम ए पी-एच डी। मूल्य ३)

३० ब्रजभाषा-व्याकरण की रूपरेखा—डा प्रेमनारायण

पता—विश्वविद्यालय प्रकाशन हिन्दी विभाग